गूजरात
पुरातत्त्वमन्दि
ग्रन्थावली



गूजरातपुरातत्त्वमन्दिरग्रन्थावली

आचार्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रणीतं

# संमतितर्क-प्रकरणम्।

जैनश्वेताम्बर-राजगच्छीय-प्रद्युम्नसूरिशिष्य-तर्कपञ्चानन-
श्रीमद्-अभयदेवसूरिनिर्मितया तत्त्वबोधविधायिन्या
व्याख्यया विभूषितम्।

## द्वितीयो विभागः।

(द्वितीय-तृतीय-चतुर्थगाथात्मकः)

गूजरातविद्यापीठप्रतिष्ठितपुरातत्त्वमन्दिरस्थेन
संस्कृतसाहित्य-दर्शनशास्त्राध्यापकेन
पं० सुखलालसंघविना
प्राकृतवाङ्मयाध्यापकेन जैनन्याय-व्याकरणतीर्थ-
पं० बेचरदासदोशिना च

पाठान्तर-टिप्पण्यादिभिः परिष्कृत्य संशोधितम्।

गूजरातपुरातत्त्वमन्दिर

अमदावाद.

प्रथमावृत्तिः, प्रतिसं० ५०० ]    संवत् १९८२    [ मूल्यम्-१० रूप्यकाणि.

प्रकाशकः—विठ्ठलदास मगनलाल कोठारी, गूजरातविद्यापीठकार्यालय, अमदावाद.



मुद्रकः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस, नं. २६–२८, कोलभाट लेन, मुंबई.

# टीका-टिप्पण्युपयुक्तावतरणस्थानानां संकेताः ।

| | |
|---|---|
| अनेका० | अनेकान्तजयपताका । |
| अनेका० टी० | अनेकान्तजयपताकाटीका । |
| अनेकान्तज० अम० | अनेकान्तजयपताका अमदावाद-आवृत्तिः । |
| अनेकान्तज० टी० लि० | अनेकान्तजयपताकाटीका लिखिता । |
| अन्नंभ० सिता० | अन्नंभटमिताक्षरा । |
| अपोहसि० / अपोहसिद्धि० | अपोहसिद्धिप्रकरणम् । |
| अमरकोशः । | |
| अष्ट० टी० लि० भां० | अष्टसहस्रीटीका (यशोविजयोपाध्यायकृता) लिखिता भाण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमंदिरसत्का । |
| अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गता) | |
| अष्टस० / अष्टसह० | अष्टसहस्री । |
| आचारा० शीतोष्णीयअ० | आचाराङ्गसूत्रम् शीतोष्णीयाध्ययनम् । |
| आव० हारि० | आवश्यकसूत्रं हारिभद्रवृत्तियुतम् । |
| ऋग्वे० मं० ऋ० | ऋग्वेदः मन्त्रः ऋक् । |
| ऋक्सं० मण्ड० | ऋक्संहिता मण्डलम् । |
| कठो० | कठोपनिषत् । |
| कात० व्या० | कातन्त्रव्याकरणम् । |
| काशि० / काशिका० | काशिकावृत्तिः । |
| गणर० | गणरत्नमहोदधिः । |
| गीता । | |
| गौडपा० अलात० प्र० | गौडपादकारिका अलातशान्त्याख्यं प्रकरणम् । |
| गौडपा० वैतथ्याख्यप्र० | गौडपादकारिका वैतथ्याख्यं प्रकरणम् । |
| गौडपा० का० | गौडपादकारिका । |
| चान्द्रव्या० | चान्द्रव्याकरणम् । |
| जैने० व्या० | जैनेन्द्रव्याकरणम् । |
| तत्त्वसं० का० | तत्त्वसंग्रहकारिका । |
| तत्त्वसं० पञ्जि० | तत्त्वसंग्रहपञ्जिका । |
| तत्त्वसंग्रहशब्दार्थपरीक्षा । | |
| तत्त्वसंग्रहसामान्यपरीक्षा । | |
| तत्त्वार्थभाष्यम् (कल०) | कलकत्ता-आवृत्तिः । |
| तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या यशोविजयोपाध्यायकृता (अम०) | अमदावाद-आवृत्तिः । |
| तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या सिद्धसेनसूरिकृता (अम०) | |
| तत्त्वार्थराजवार्तिकम् । | |
| तत्त्वार्थश्लो० वा० | तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् । |
| तत्त्वार्थसूत्रम् (मेसा०) | मेसाणा-आवृत्तिः । |
| तृ० का० गा० | संमतितृतीयकाण्डगाथा । |
| तन्त्रवार्तिकम् । | |
| देशीना० व० | देशीनाममाला-वर्ग. । |

| | |
|---|---|
| द्वादशारनय० नयचक्र० आ० लि० | द्वादशारनयचक्रम्-श्रीआत्मारामजीपुस्तकसंग्रहस्थं लिखितम्। |
| धर्मसं० वृ० | धर्मसंग्रहणीवृत्तिः। |
| नयोप० यशो० भा० | नयोपदेशः श्रीयशोविजयोपाध्यायकृतः-भावनगर-आवृत्तिः। |
| न्यायकु० लि० | न्यायकुमुदचन्द्रोदयः लिखितः। |
| न्यायद० | न्यायदर्शनसूत्रम्। |
| न्यायद० वात्स्या० | न्यायदर्शनवात्स्यायनभाष्यम्। |
| न्यायवा० | न्यायवार्तिकम्। |
| न्यायाव० टिप्प० | न्यायावतारटिप्पणम्। |
| पाइअ० ना० | पाइअलच्छीनाममाला। |
| पाणि० पाणि० व्या० | पाणिनीयव्याकरणम्। |
| पाणि० सिद्धान्तकौ० सिद्धान्तकौ० | पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी। |
| पाणि० वार्ति० | पाणिनीयव्याकरणवार्तिकम्। |
| पाणि० महाभा० महाभा० | पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्। |
| पातञ्ज० यो० वाच० टी० | पातञ्जलयोगदर्शनवाचस्पतिमिश्रटीका। |
| पुण्यरा० टी० | पुण्यराजकृता वाक्यपदीयटीका। |
| प्रमेयक० | प्रमेयकमलमार्तण्डः। |
| प्रमेयक० टि० | प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पणम्। |
| प्रमेयर० को० | प्रमेयरत्नकोषः। |
| प्राकृ० पिं० | प्राकृतपिङ्गलम्। |
| प्राकृतप्र० षष्ठप० | प्राकृतप्रकाशषष्ठपरिच्छेदः। |
| प्राकृतम० | प्राकृतमञ्जरी। |
| प्राकृतरूपा० | प्राकृतरूपावतारः। |
| बृहदा० उ० | बृहदारण्यकोपनिषद्। |
| बृहदा० उ० भा० | बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्। |
| बृहदा० उ० भाष्यवार्ति० | बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्। |
| बङ्गीयविश्व० | बङ्गीयविश्वकोषः। |
| ब्रह्मसू० शाङ्क० भा० | ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्। |
| " " " भा० | " भामतीटीका। |
| भामहालं० परि० | भामहालंकारपरिच्छेदः। |
| मध्यमकवृत्तिः। | |
| माठरवृ० माठर० | साङ्ख्यकारिकामाठरवृत्तिः। |
| योगद० समा० पा० | योगदर्शनसमाधिपादः। |
| रत्नाकरा० | रत्नाकरावतारिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारवृत्तिः। |
| ललितवि० वृ० | ललितविस्तरा चैत्यवन्दनवृत्तिः। |
| लङ्कावतारसू० | लङ्कावतारसूत्रम्। |
| वाक्यप० का० | वाक्यपदीयम्-काण्डम्। |
| वाक्यप० टी० | वाक्यपदीयटीका। |

| | |
|---|---|
| वाक्यप० तृ० का० | वाक्यपदीये तृतीयं काण्डम् । |
| वात्स्या० भा० | वात्स्यायनभाष्यम् । |
| वार्ति० | महाभाष्यवार्तिकम् । |
| शाक० व्या० | शाकटायनव्याकरणम् । |
| शाश्वत० | शाश्वतकोशः । |
| शास्त्रवा० स्त० | शास्त्रवार्तासमुच्चये स्तबकः । |
| शास्त्रवार्ता० | शास्त्रवार्तासमुच्चयः । |
| शास्त्रवा० स्याद्वादक० | शास्त्रवार्तासमुच्चयस्याद्वादकल्पलता टीका । |
| श्वेताश्व० उ०<br>श्वेताश्वत० उ० | श्वेताश्वतरोपनिषत् । |
| श्लो० वा० अपो० | श्लोकवार्तिकम्-अपोहवादः । |
| श्लो० वा० अभाव० | ,, अभावपरिच्छेदः । |
| श्लो० वा० आकृ० | ,, आकृतिवादः । |
| श्लो० वा० वन० | ,, वनवादः । |
| श्लो० वा० पार्थ० व्या० | ,, पार्थसारथिमिश्रव्याख्या । |
| षड्भा० च० | षड्भाषाचन्द्रिका । |
| सर्वदर्शनसं० द० | सर्वदर्शनसंग्रहे दर्शनम् । |
| सर्वार्थसिद्धिः (तत्त्वार्थसूत्रव्याख्या) | |
| सार० व्या० | सारस्वतव्याकरणम् । |
| संक्षेपशा० | संक्षेपशारीरकम् । |
| संयुत्तनि० निदानसं० गहपतिव० अं० भा० | संयुत्तनिकायो निदानसंगहो गहपतिवग्गो अंको भागो । |
| साङ्ख्यका० | साङ्ख्यकारिका । |
| साङ्ख्य० कौ० | साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी । |
| साङ्ख्यद० | साङ्ख्यदर्शनम् । |
| साङ्ख्यप्र० भा० | साङ्ख्यप्रवचनभाष्यम् । |
| साङ्ख्यस० तत्त्वयाथा० | साङ्ख्यसंग्रहे तत्त्वयाथार्थ्यप्रकरणम् । |
| स्याद्वा० | स्याद्वादमञ्जरी । |
| स्याद्वादर० | स्याद्वादरत्नाकरः । |
| हेतु० | हेतुमुखम् । |
| हेतु० टी० ता० लि० | हेतुबिन्दुतर्कटीका ताडपत्रलिखिता । |
| हेलाराजटी० | हेलाराजकृता वाक्यपदीयटीका । |
| है० अनेका० | हैम-अनेकार्थकोशः । |
| हैमच्छन्दो० | हैमच्छन्दोऽनुशासनम् । |
| हैमतत्त्व० | हैमतत्त्वप्रकाशिका बृहन्न्यासः । |
| हैमधातुपा०<br>है० धातुपारा० | हैमधातुपारायणम् । |
| हैमप्रा० व्या० | हैमप्राकृतव्याकरणम् । |
| हैम० बृ० वृ० | हैमव्याकरणबृहद्वृत्तिः । |
| हैमसूत्र० | हैमशब्दानुशासनसूत्रम् । |
| है०<br>हैम०<br>हैमव्या०<br>हैमश० | सिद्धहेमनामकं हैमव्याकरणम् । |

# विषयानुक्रमः।

## नयमीमांसा

### तृतीयगाथाव्याख्या। २७१-३१४



### चतुर्थगाथाव्याख्या। ३१५-३१६

# संपादकीय निवेदन।

संमतितर्कनो पहेलो भाग प्रसिद्ध थयांने बे वर्ष वीती गयां. एटला वखतमां तैयार थई आ बीजो भाग आजे विद्वानो समक्ष उपस्थित थाय छे.

आ भागमां बीजी, त्रीजी अने चोथी ए त्रण मूळ गाथाओ टीकासहित आवी जाय छे.

आ भागनी तैयारीनी विशेषताः अशुद्धिनुं बाहुल्य, नवीन साधननो उपयोग अने बीजो विशिष्ट प्रयत्न.

बीजी अने त्रीजी गाथानी टीका बहु मोटी छे. त्रीजीनी करतां बीजीनी टीका लगभग बमणी हशे. जेम टीका मोटी तेम अशुद्धि घणी. हजुसुधी संमतिनी एवी एक पण प्रति अमने उपलब्ध नथी थई के, जेने विश्वस्त रीते शुद्ध मानी मुद्रणमां मूळ आधार तरीके राखी शकाय. तेमां य ज्यां बौद्धादि दर्शनोनी चर्चा आवे छे त्यां तो अशुद्धिओ पुष्कळ ज छे. दरेक प्रतिमां अशुद्धिनी आ समानता जोई एम मानवाने कारण मळे छे के, आ ग्रंथनुं अध्ययन, अध्यापन घणा सैकाओथी विच्छिन्नप्राय थई गयेलुं होवुं जोईए, सांगोपांग शुद्ध करवानो प्रयत्न पण पूर्वे नहि थएलो; अने थयो होय तो तेनुं परिणाम आजे उपलब्ध नथी. अशिक्षित वाचको अने लेखको तथा अव्युत्पन्न अभ्यासीओनी वाचनलेखनविषयक तथा अर्थकल्पनाविषयक भ्रान्तिओ दरेक प्रतिमां भिन्नभिन्न रूपे नजरे पडे छे. आ कारणथी बीजी गाथानी टीकाए शुद्धीकरणमां वधारे वखत लीधो. छतां यथावत् संतोष तो थयो ज न हतो. संशोधनना विविध साधनोनी शोध चालती हती, ते दरमियान सद्भाग्ये एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ तरफ अमारुं ध्यान गयुं.

आ महान् ग्रंथ ते बीजो कोई नहि पण बौद्धाचार्य आर्य शान्तिरक्षितनो तत्त्वसंग्रह. ए ग्रंथनुं अवलोकन करतां जणायुं के, टीकाकार अभयदेवे बीजी गाथानी टीकानो बौद्धमतविषयक पूर्वपक्ष ए तत्त्वसंग्रहनी कमलशीलकृत पञ्जिकाने सामे राखीने ज लख्यो छे. एटले बीजी गाथानी टीकानो अपोहविषयक समग्र अंश उक्त पञ्जिकानी लगभग अक्षरशः नकल छे. आ वस्तु ध्यानमां आववाथी तत्त्वसंग्रहनुं ए प्रकरण बीजी गाथानी टीका साथे मेळवी लीधुं. अने ते पछी अशुद्ध भागने शुद्ध करवा तथा बीजी अनेक विशेषताओ दाखल करवा माटे फरी नवेसर विशिष्ट प्रयत्न शरू कर्यो, जेनुं फळ विद्वानो ओछा वधता प्रमाणमां प्रस्तुत पुस्तकमां जोई शकशे.

पहेला भाग करतां बीजा भागना संशोधनमां विशिष्ट प्रयत्न थवानुं कारण तत्त्वसंग्रहनी उपलब्धि अने तेनो उपयोग ए छे. ज्यारे अनुभवे जणायुं के, त्रीजी गाथानी टीकानुं सांख्यमत (अशुद्धद्रव्यास्तिकनय) निरूपण प्रकरण तथा तेना खंडननुं बौद्धमत (पर्यायास्तिकनय) प्रतिपादक प्रकरण प्रायः अक्षरशः कमलशीलनी पञ्जिकानी नकल छे, त्यारे संशोधनमां तत्त्वसंग्रहनो अनेक दृष्टिए उपयोग करवानी कल्पना आवी अने तदनुसार प्रयत्न पण थयो. आ प्रयत्नने लीधे ज विलम्ब थेवडायो. पण अमने आशा छे के आ प्रयत्ननुं परिणाम समजनारने ए विलम्ब नहि खटके. प्रस्तुत कार्यमां तत्त्वसंग्रहनो उपयोग केवी रीते कर्यो छे ए अहीं जणावी देवुं आवश्यक छे.

शब्दना अर्थनी मीमांसा तेम ज शब्द अने अर्थ ए बंनेना संबंधनी मीमांसाना अतिदीर्घ प्रकरणमां पूर्वपक्षरूपे बौद्धसंमत अपोहचर्चा टीकाकारे मूकेली छे. प्रस्तुत पुस्तकनो पृ० १७३ थी २३२ सुधीनो ए चर्चानो भाग तत्त्वसंग्रहनी ८६७थी १२१२ सुधीनी एटले एकंदर ३४६ कारिकाओ उपरनी गद्य पञ्जिका ज छे. तेवी ज रीते त्रीजी गाथानी टीकाना सांख्यमतनिरूपण अने तेना खंडननो प्रस्तुत पुस्तकनो पृ० २८०–२८४ तथा पृ० २९६–३०७ सुधीनो भाग तत्त्वसंग्रहनी ७ थी ४५ सुधीनी एटले कुल ३९ कारिकाओ उपरनी पञ्जिका ज छे. पञ्जिकाना प्रायः अक्षरशः ए उताराने लीधे तत्त्वसंग्रहनो उपयोग प्रस्तुत संशोधनमां मुख्यपणे त्रण दृष्टिथी करवामां आव्यो छेः (१) शुद्धिनी दृष्टि (२) ते ते गद्यभागनी मूळभूत कारिका बतावबानी दृष्टि अने (३) शान्तिरक्षिते पोताना मूळ ग्रंथमां कया कया पूर्ववर्ती आचार्योनी कारिकाओ लीधेली छे ते बतावबानी दृष्टि.

(१) ज्यां संमतिनी टीका अशुद्ध के त्रुटित जणाई त्यां तेने कोष्ठकमां शुद्ध अने पूर्ण करी तेना संवादखातर पञ्जिकानो जरूरी भाग अक्षरशः नीचे टिप्पणमां आपेलो छे. उदाहरणार्थे जूओः पृ० १७४ टिप्पण २. पृ० १८१ टिप्पण १६ वगेरे.

(२) संमतिनी टीकानो अमुक गद्यभाग तत्त्वसंग्रहनी कई कारिकानी व्याख्यारूपे छे ए जणाववा खातर ते गद्यभागनी नीचे टिप्पणमां तत्त्वसंग्रहनी ते ते कारिका अंक साथे आपवामां आवी छे, जेथी अभ्यासीओ तत्त्वसंग्रहनी मूळ कारिका अने तेनी पञ्जिका साथे अर्थशः तथा शब्दशः संमतिनी टीकाना ते ते गद्यभागने सरखावी शके. अने तत्त्वसंग्रहना अभ्यासीओ पोताने जोईतुं स्थळ संमतिनी टीकामांथी अनायासे मेळवी शके. उदाहरण तरीके जूओः पृ० १७३ टिप्पण ९ वगेरे.

(३) मूळ तत्त्वसंग्रहमां ज्यां ज्यां अन्य पूर्वाचार्योनी कारिकाओ दाखल थएली जणाई छे त्यां त्यां यथासंभव ते ते पूर्वाचार्यनी कृतिमांथी ज ते कारिकानो अंक आपी साथे ज तत्त्वसंग्रहनो चालु कारिका अंक पण आपेलो छे. जेथी तत्त्वज्ञ अभ्यासीओ जाणी शके के, ए मूळ कारिका वस्तुतः कया आचार्यनी कई कृतिना कया प्रसङ्गनी छे. तेम ज ऐतिहासिको ए क्रमनो उपयोग कालनिर्णयमां पण करी शके. जूओ पृ० १७९ टिप्पण ८. पृ० १८६ टिप्पण २. पृ० १८७ टिप्पण ६ वगेरे.

आ सिवाय बीजी पण एक सामान्य रीते तत्त्वसंग्रहनो उपयोग कर्यो छे अने ते ए के, संमतिनी टीकामां केटलांक पद्यो कर्तोना नामनिर्देश विना आवे छे ते ज पद्यो ज्यां ज्यां पञ्जिकामांथी मळी आव्यां त्यां त्यां ते ज रीते टिप्पणमां दर्शाववामां आव्यां छे. अने आ समग्र उपयोग करवामां आवश्यक जणायुं त्यां संमतिनी टीका उपर भामहालंकार, वाक्यपदीय, श्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रह, प्रमेयकमलमार्तंड, स्याद्वादरत्नाकर, शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका इत्यादिमांथी पाठान्तरो आप्यां छे अने बीजी रीते पण सविशेष उपयोग कर्यो छे. उदाहरणः पृ० १७४ टिप्पण ५. पृ० १८१ टिप्पण १६. पृ० १८६ टिप्पण २, ४, ५. पृ० १८२ टिप्पण ४. पृ० १८६ टिप्पण १२, ३. पृ० १७३ टिप्पण १०. पृ० १७६ टिप्पण २. पृ० २४८ टिप्पण १९. पृ० १८२ टिप्पण ६ वगेरे.

उतारो चालु होवा छतां क्यांय क्यांय पञ्जिकानी वाक्यरचनाथी संमतिटीकानी वाक्यरचना जूदी पडे छे; तेवा स्थळे ए भिन्नता जणाववा खातर नीचे टिप्पणमां पञ्जिकानो गद्यभाग पण

आपेलो छे. ज्यां पङ्क्तिका के कारिका त्रुटित के अशुद्ध जणाई त्यां तेने पूर्ण के शुद्ध करी ते अंश मोटा अक्षरोमां मूकेलो छे. जूओ पृ० १७७ टिप्पण ८, १०. पृ० १८४ टिप्पण १. पृ० २१७ टिप्पण १५. पृ० २२१ टिप्पण १२. पृ० २२८ टिप्पण १५ वगेरे.

खरेखर आ संमतिटीकानुं संशोधन तत्त्वसंग्रह ग्रंथनुं ऋणी छे पण तत्त्वसंग्रहना संशोधको धारे तो ए ऋणने व्याजसहित संमतिटीकाना आ संस्करणमांथी वसूल करी शके.

तत्त्वसंग्रहनी उपलब्धिथी अनेक अज्ञातपूर्व आचार्योनां तथा तेओनी कृतिओनां नामो अने अनेक अनुपलब्ध-ग्रंथोना अवतरणो जाणवामां आव्यां छे तेनो उपयोग यथास्थाने आगळ भागोमां थशे.

पाठोने शुद्ध करवामां, सरखाववामां, अर्थनुं स्पष्ट ज्ञान करवामां अने पूर्वापर प्रसंग समजवामां परिशिष्टमां आपेला ग्रंथोथी बहु ज कीमती मदद मळी छे. लगभग ए बधा ग्रंथोनां उपयुक्त स्थळो अमे ते ते स्थाने बताव्यां छे.

तत्त्वसंग्रहनी प्राप्ति अने तेना उपयोगना लाभथी अमे बीजा पण नवीन ग्रंथोनी गवेषणाना लोभमां पड्या; जेने लीधे अमने केटलाक अप्राप्तपूर्व ग्रंथो प्राप्त थया अने केटलाक प्राप्त छतां अदृष्टपूर्व ग्रंथोनुं अवलोकन करवानी तक मळी:

बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिकृत हेतुबिंदुनुं विवरण, जयराशिभट्टकृत तत्त्वोपप्लव अने दिगम्बराचार्य अकलंककृत सिद्धिविनिश्चय ए त्रण ग्रंथो तो अत्यार सुधी सर्वथा अनुपलब्ध ज हता. तेमां तत्त्वोपप्लवनुं तो नाम पण भाग्ये ज ज्ञात हतुं. पहेला बे ग्रंथो ताडपत्र उपर छे. दिगम्बराचार्य प्रभाचंद्रकृत न्यायकुमुदचंद्रोदय अने वादिराजकृत न्यायविनिश्चयालंकार ए बे महान् जैन ग्रंथो मेळवी तेनुं अवलोकन करवानी प्राप्त थएली तक आ संमतिना संशोधनने ज आभारी छे.

आ संशोधन करतां मळी आवेली नवीन सामग्री अने तेना उपयोगने लीधे थतो विलम्ब तथा ग्रंथना कदनुं वधी जतुं महत्त्व ए त्रण बाबतो प्रथम भाग प्रकाशित करती वखते ध्यानमां न हती तेथी ते प्रकाशित करती वेळाए तेना निवेदनमां जणावेलुं के, सटीक मूळ ग्रंथनुं त्रण भागमां प्रकाशन करवुं. पण ए विचार बदली मूळ ग्रंथने पांच भागमां प्रसिद्ध करवानी धारणा राखीए छीए, जेथी ग्राहकोने आगळ भागो शीघ्रताथी मळे अने दरेक भागनुं कद पण परिमित रहे.

प्रस्तुत भागमां पण प्रवर्तक कान्तिविजयजीना प्रशिष्य विद्याप्रिय सुशील मुनि पुण्यविजयजीए पाठान्तरादिकार्योमां वखते वखते सहर्ष सहायता आपी ते बदल अमे तेमना कृतज्ञ छीए.

सुखलाल
अने
बेचरदास.

# संपादकीयं निवेदनम्

संमतितर्कस्य प्रथमं भागं प्रकाश्य वर्षद्वयेनाद्य द्वितीयं भागं प्रकाशयितुं वयं पुनर्लब्धावसरा भवामः। सटीकया द्वितीयया तृतीयया चतुर्थ्या च गाथयाऽयं भागो भूषितः।

अशुद्धिबाहुल्यम् नव्यसाधनोपयोगः अपरश्च विशिष्टः प्रयत्न इत्येतद् विशेषतात्रयं प्रस्तुतसंपादनगतं सविशेषमत्र समुल्लेखनीयं प्रतिभाति।

यद्यपि द्वितीय–तृतीययोर्द्वयोरपि गाथयोष्टीका विस्तारवती तथापि द्वितीयस्याष्टीका तृतीयामपेक्ष्य द्विगुणप्राया विद्यते। अशुद्धिवृद्धिष्टीकाविस्तारवृद्धिमनुगच्छन्ती लक्ष्यते। तत्रापि बौद्धादिदर्शनवस्तु चर्चास्थलेषु भूयस्योऽशुद्धयो दृश्यन्ते। सर्वथा विश्वस्ततया मुद्रणकर्मणि मूलाधारत्वेन स्थापयितुं योग्यः संमतेरेकोऽप्यादर्शोऽस्माभिरिदानीं यावत् नावापि। सर्वेषामादर्शानामशुद्ध्या समानतामवलोक्य ग्रन्थस्यास्याध्ययनाऽध्यापनयोश्चिरादेव विच्छिन्नप्रायत्वं यथावत् संशोधनप्रयासाभावं च कल्पयामः। जातस्यापि तादृशस्य पूर्वप्रयासस्य फलं नेदानीमुपलब्धिगोचरीभवति। असंस्कृतवाचक-लेखक-पाठकानां वाचन-लेखनार्थकल्पनागोचरा भ्रान्तयः सर्वेष्वप्यादर्शेषु नानाविधतया दृष्टिपथमायान्ति। अत एव बहुतरसमयव्ययेन कृतस्यापि द्वितीयगाथाटीकासंशोधनस्य पूर्वं यथावत् संतोषाजनकतया विशिष्य संशोधनयोग्यानि साधनानि गवेषयितुं प्रवृत्तवतामस्माकं दृष्टिपथमेको महान् ग्रन्थः समापतितः।

स च ग्रन्थो बौद्धाचार्य-आर्यशान्तिरक्षितकर्तृकस्तत्त्वसंग्रह एव नापरः कश्चित्। तत्त्वसंग्रहावलोकनेन द्वितीयगाथाटीकागतबौद्धमताश्रितपूर्वपक्षांशस्य बौद्धाचार्यकमलशीलकृतया तत्त्वसंग्रहपञ्जिकया प्रायेणाक्षरशो बिम्बप्रतिबिम्बभावं परिज्ञाय संमति–तत्त्वसंग्रहवृत्त्योस्तावतोरंशयोस्सर्वात्मना तुलना व्यधायि। अशुद्धं भागं शोधयितुम् अपराननेकान् विशेषान् अन्तःसंस्कर्तुं च विशिष्टः प्रयत्नोऽपि प्रारम्भि।

तत्त्वसंग्रहस्योपलब्ध्युपयोगावेव अस्मिन् संशोधनगोचरे विशिष्टप्रयत्ने निमित्ततामुपगतौ। तृतीयगाथाटीकागतस्य सांख्यमतनिरूपण-तत्खण्डनात्मकस्य कियन्मात्रस्य अंशस्य कमलशीलीयपञ्जिकाप्रतिबिम्बप्रायत्वेन परिज्ञानादपि संशोधनकर्मण्यनेकधा तत्त्वसंग्रहोपयोगकल्पना तदनुसारी च प्रयत्नोऽजनिष्ट। तदेव च विलम्बद्वैगुण्यनिमित्तम्। तथापि वयमाशास्महे नैष विलम्बः परिणामदर्शिनां शल्यायिष्यते। तत्त्वसंग्रहोपयोगप्रकारोऽप्यत्रैव प्रदर्शयितुं समुचित आवश्यकश्च भाति।

शुद्धिविधानेन, संमतिटीकागततत्तद्ग्रन्थांशसम्बन्धिमूलकारिकाप्रदर्शनेन, तत्त्वसंग्रहान्तःप्रविष्टपूर्वाचार्यकर्तृककारिकासत्कग्रन्थ-तद्गतस्थलसंसूचनेन च प्रधानतया त्रेधा तत्त्वसंग्रहोऽत्रोपयोजितः।

अशुद्धं त्रुटितं वा संमतिटीकांशं कोष्ठके शोधयित्वा पूरयित्वा वा तत्संवादायावश्यकः पञ्जिकांशोऽधस्तात् टिप्पणिकायामक्षरशो निर्दिष्टः। यथा—पृ० १७४ टिप्पणं २। पृ० १८१ टिप्पणं १६ प्रभृति।

संमत्यभ्यासिनः शब्दशोऽर्थशश्च संमति-तत्त्वसंग्रहयोस्तुलनां कर्तुं तत्त्वसंग्रहाभ्यासिनश्च स्वापेक्षितं स्थलं संमतिटीकातोऽनायासेनावाप्तुं शक्नुयुरित्युद्दिश्य संमतिटीकागतः कस्कोऽशः कस्याः कस्यास्तत्त्वसंग्रहकारिकाया व्याख्यात्मक इति प्रदर्शनाय तत्तद्ग्रन्थांशस्याधस्तात् टिप्पणिकायां तत्त्वसंग्रहीया मूलकारिका क्रमाङ्कपुरःसरं निरदेशि। यथा—पृ० १७३ टिप्पणं ९ प्रभृति।

तत्त्वज्ञा अभ्यासिनस्तत्तन्मूलकारिकायाः कर्तारम् आधारभूतां कृतिम् प्रकरणं च यथावदवगन्तुम् ऐतिहासिकाश्च तं क्रमं कालनिर्णयायोपयोक्तुं पारयेयुरित्युद्दिश्य पूर्वाचार्यान्तरकर्तृकाः कारिका मूलत-

[ एवंभूतनयस्वरूपम् ]

शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव 'तद् वस्तु' इति भूत एवंभूतः प्राह—यथा संज्ञाभेदाद् भेदवद् वस्तु तथा क्रियाभेदादपि, सा च क्रिया तद्भेदत्री यदैव तामाविशति तदैव तन्निमित्तं तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यतिप्रसङ्गात्। तथाहि—यदा 'घटते' तदैवासौ 'घटः' न पुनः 'घटितवान्' 'घटिष्यते' वा 'घटः' इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गात्। अपि च, चेष्टासमय एव 'चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दन्ति चेष्टावन्तः पदार्थाः यथावस्थितार्थप्रतिभास एवं च वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथाभूतः अन्यथा अचेष्टावतोऽपि चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धेऽध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासत्व(भास इत्य)भ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः। तन्न घटनसमयात् प्राक् पश्चाद् वा 'घटः' तद्व्यपदेशमासादयतीत्येवंभूतनयमतम्। उक्तं च—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते" ॥ [ ] इति।

तत् स्थितमेतत् ऋजुसूत्रादयः पर्यायास्तिकस्य विकल्पा इति।
अस्याश्च गाथायाः सर्वमेव शास्त्रं विवरणम् ॥ ३ ॥

1 तद्भेदत्री यदैव तमा—बाँ० वा०। 2—च वस्तु—आ० हा० वि०। 3—भासात्यभ्यु—आ०।—भासत्वं-भ्यु—भां०। 4 सर्वस्य व्यव—आ०। सर्वस्यान्यव—भां० मां० हा० वि०। 5 न्यायाव० टिप्प० पृ० १२८ पं० २४। 6 शास्त्रवि—वा० बा० मां०।

## चतुर्थगाथाव्याख्या ।

### [ द्रव्यास्तिकैकप्रकृतिकयोः संग्रह-व्यवहारयोः शुद्धाशुद्धतया भेदनिरूपणम् ]

'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' इत्यादिपश्चार्द्धैकदेशस्य विवरणाय आह सूरिः—

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

इति गाथासूत्रम् ।

अत्र च संग्रहनयप्रत्ययः शुद्धो द्रव्यास्तिकः व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थः ।

अवयवार्थस्तु द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य प्रकृतिः स्वभावः शुद्धा इत्यसङ्कीर्णा विशेषासंस्पर्शवती संग्रहस्य अभेदग्राहिनयस्य प्ररूपणा—प्ररूप्यतेऽनयेति कृत्वा—उपवर्णना पदसंहतिस्तस्या विषयोऽभिधेयः । विषर्यापकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वादुपचारेण विषयेणा(ण) विषयिप्रकथनमेतत् अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यास्तिकेऽभिधातुं प्रक्रान्ते संग्रहप्ररूपणाविषयाभिधानस्य ?

### [ संग्रहस्य सत्तामात्रविषयकत्वसाधनम् ]

सुबन्तस्य तिङन्तस्या(स्य) वा पदस्य वाक्यस्य वा प्ररूपणास्वभावस्य विषयः संग्रहाभिप्रायेण भाव एव । तथाहि—जाति-द्रव्य-गुण-क्रियापरभावितरूपेण स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-कर्मादिप्रकारेण वा सुबन्तस्य योऽर्थः(र्थः स) भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेत्, अव्यतिरिक्तो वा ? यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरू(रु)पाख्यत्वादत्यन्ताभाववत् न द्रव्यादिरूप इति कथं सुबन्तवाच्यः ? अव्यतिरिक्तश्चेत् कथं न भावमात्रता सुबन्तार्थस्य ? तिङन्तार्थस्यापि क्रिया-काल-कारक-पुरुष-उपग्रह-वचनादिरूपेण परिभाव्यमानस्य सत्तारूपतैव । तथाहि-'पचति' इत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा, काल आरम्भप्रवृत्ति(प्रभृति)रवर्ग(रपवर्ग)पर्यन्तो वर्तमानस्वरूपः, कारक कर्ता, पुरुषः परमात्मकः, उपग्रहः परार्थता, वचनमेकत्वम् यद्यपि प्रतिपत्तिविषयस्तथापि सत्त्वमेवैतत् यतः क्रिया ह्यसती चेत् कारकैर्न साध्येत खपुष्पादिवत्, सती चेत अस्तित्वमेव,सा कारकैश्चाभिव्यज्यत इति । एवं कालादयोऽप्यसन्तश्चेद् न शशशृङ्गाद् भिद्येरन्, सदात्मकाश्चेत् कथं न अस्तित्वादभिन्ना इति सत्तैव तिङन्तस्यार्थः । 'घटोऽस्ति' इति वाक्यार्थ(र्थं) यद् वाक्यं प्रयुज्यते 'घटः सन्' इति तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्यापि । तथाहि-'घटः' इति विशेषणम् 'सन्' इति विशेष्यम् । अत्र द्वयेनापि चाभाववैपरीतेन[13] भाव्यम् न ह्यन्यथा तद् विशेषणम् नापि तद् विशेष्यं स्यात् निरू(रु)पाख्यत्वाद् अत्यन्ताभाववत्[14] । यदि पुनरभावविपरीतं तद् इष्यते, विशेषण-विशेष्ययोः कथं न भावरूपता ? तेन यदेवं[15] पटस्य (घटस्य) भावो घटत्वं तदेव घटः, यच्च सतो भावः सत्त्वं तदेव 'सन्' इति सर्वत्र संग्रहाभिप्रायतः प्ररूपणाविषयो भाव एव । उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिधावता अन्येनापि—

"अस्त्यर्थः[17] सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवताशब्दैः समप्रा(मा)हुर्गवादिषु" ॥ [ वाक्यप० द्वि० का० श्लो० १२१ ]

---

१ पृ० २७१ पं० ८ । २-रूवेण पु-आ० । शोधनार्थं व्यापार्यमाणासु सर्वासु टीकाप्रतिषु 'पडिरूवं' इत्येव प्रतीकं टीकाकृता निरदेशि, व्याख्यायि च 'प्रतिरूपम्' इति । ३-या कारणा-वा० बा० । ४-णा विषयणा विष-आ० ।-णा विषयेणो विष-वि० ।-णा विषयिप्र० भां० मां० ।-णा विषयिप्रथन-वा० बा० । ५-हरूप-वा० बा० विना । ६-स्याव्याप-वा० बा० ।-स्यात्वाप्ररू-भां० मां० ।-स्याचाप-वि० । ७-योर्थः स्वभावा स्वभावाद् व्यति-वा० बा० । ८-भावाच्चद्र-वा० बा० । ९-मात्रस्य वा० बा० । १०-वृत्तिपपवर्ग-आ० । वृत्तिपवर्ग-भा० मा० हा० वि० । ११-रमवात्म-वा० बा० । १२-ति अस्यार्थे यद् वा० बा० विना । १३-चवैपरीत्येन वा० बा० । १४-भावतया य-वा० बा० । १५ तद्विशेष्यते आ० । १६-च कटस्य वा० बा० । १७ "यथाहु." इति निर्दिश्य श्लोकोऽयमुद्धृतः तत्त्ववार्तिके पृ० २५१ पं० १३ । तत्र च "अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहु." इति पाठः ।

"घटादीनां न वाकाराद्(न्) प्रत्याययति वाचकः ।
वस्तुमात्रनिवेशित्वात् तद्गतिर्नान्तरीयकैः" ॥ [ वाक्यप० द्वि० का० श्लो० १२५ ] इति ।

अत एव "यत्र विशेषक्रिया नैव श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषेऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" [ ] इत्युक्तं शब्दसमयवेदिभिः । अवगतिश्चैवं युक्ता यदि सत्तां पदार्थो न व्यभिचरेत्, अव्यभिचारे च तदावेशात् तदात्मकतैव सत्तापरित्यागे वा स्वरूपहानमिति सन्मात्रमेवाभ्यक्षस्य शब्दस्य वा विषयः अन्तर्नी(र्नी)ताशेषम् अपृथग्व्यवस्थापितमधुरादिरसपानकद्रव्यवत् । भेदप्रतिभासस्तु भेदप्रतिपादकागमोपहतान्तःकरणानां तिमिरोपप्लुतदृशामेकशशलाञ्छनमण्डलस्यानेकत्वावभासनवत् असत्य इति सर्वभेदान् अपह्नुवानः सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रहः शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम् ।

[ व्यवहारस्य विशेषमिश्रितसत्ताविषयकत्वसाधनम् ]

तामेवाऽशुद्धम्(द्धाम्) पडिरूवं पुण इत्यादिगाथापश्चार्द्धेन दर्शयत्याचार्यः—प्रतिरूपं प्रतिबिम्बम् प्रतिनिधिरिति यावत् । विशेषेण घटादिना द्रव्येण सङ्कीर्णा सत्ता, पुनरिति प्रकृतिं स्मरयति । तेनायमर्थः—'विशेषेण संकीर्णा सत्ता प्रकृतिः स्वभावः वचनार्थनिश्चयः इति हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविषयनिवृत्ति-प्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसंपादनार्थमुच्यत इति वचनम् तस्य—'घटः' इति विभक्तरूपतया 'अस्ति' इत्यविभक्तात्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमः—अर्थस्तस्य निश्चयः निर्णयः पृथग्भूतः चयः परिच्छेदः तस्य इति द्रव्यास्तिकस्य व्यवहारः इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्त्तनपरः नयः । सोऽभिमन्यते यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयरूपाः परस्परतो विभिन्नस्वभावाः सद्रूपतया शब्दप्रभवे संवेदने भावाः प्रतिभान्ति ततो निवृत्ति-प्रवृत्त्युपेक्षालक्षणो व्यवहारस्तद्विषयः प्रवृत्तिमासादयति नान्यथा, न चैकान्ततः सन्मात्राऽविशिष्टेषु भावेषु संग्रहाभिमतेषु पृथक् स्वरूपतया परिच्छेदोऽबाधितरूपो व्यवहारनिबन्धनं संभवतीति । तथाहि—यद्घटाका ( यद् यदाका )-रनिरपेक्षतया स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाधत्ते तत् तथैव 'सत्' इति व्यवहर्तव्यम्, यथा प्रतिनियतं सत्तादिरूपम्, घटाद्याकारनिरपेक्षं च पटादिकं स्वावभासिनि ज्ञाने स्वरूपं सन्निवेशयतीति स्वभावहेतुः । घटादिनिरपेक्षत्वं च पटादेः घटाद्यभावेऽपि भावात् अवभासमानाच्च(सनाच्च) सिद्धम् ।

यद्वा प्रतिशब्दो वीप्सायाम् रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्त्तते । तेनायमर्थः—रूपं रूपं प्रति, वस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयस्तस्य प्रकृति(तिः)स्वभावः स व्यवहार इति । तथाहि—प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतुर्न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यतः 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते अतः 'किमस्ति' इत्याशङ्कायाम् 'द्रव्यम्' इत्युच्यते, तदपि 'किम्? पृथिवी, सापि का? वृक्षः, सोऽपि कः? चूतः' तत्राप्यर्थित्वे यावत् 'पुष्पितः' 'फलितः' इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद् व्यवहारसिद्धिरिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति तथैव संव्यवहारसंभवात् । अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां बिभ्रत् अशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति ॥४॥

---

१ न चाका भा० वि० । 'न चाकारान्'–वाक्यप० । २–गतिना वा० बा० । "तद्गतिर्नान्तरीयकी"–वाक्यप० । "न हि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलमिति तत्राकारविशेषावगतिर्नान्तरीयक्येव अनुनिष्पादिन्येव बोद्धव्या"–वाक्यप० टी० । ३–रुषे युु–वा० बा० विना । "अस्तिर्भवन्तीपर प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति"–महाभाष्ये अ० २, ३, १ वार्ति० ११, वार्ति० ४ भा०, तथा महाभा० २, ३, ४६ वार्ति० ४ भा० । हैमश० अ० ३ पा० ३० सू १ वृ० वृत्तौ पृ० ५८ प्र० पं० ८ । हैमधातुपा० पृ० २ पं० ४ । पातञ० यो० पा० ३ सू० १७ वाच० टी० पृ० १४२ पं० २५ आनन्दा० । ४ अथ ग–हा० । ५–न्तनीता–वा० बा० विना । ६–रोद्भूत–वि० ।–रोपहृत–आ० । ७ तमेवाऽशुद्धा–वा० बा० । तमेवाशुद्ध–हा० । ८–विशेषणसं–वा० बा० । ९–वहारणसं–आ० हा० वि० । १०–न्पुरो न–वा० बा० विना । ११ यदाद्याका–भा० मा० आ० हा० । यद्या–वि० । १२–मानत्वासि–वि० । १३ प्रवृत्तिः स्व–वा० भा० । १४–हारे हि भां० मां० ।

साधनस्यासिद्धिरिति वक्तुं शक्यम्, शास्त्रश्रवणतः प्रयोजनावगमे शास्त्रस्यादौ तद्वाक्योपन्यासस्य वैयर्थ्यप्रसक्तेः। अत एव "शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपरः आदिवाक्योपन्यासः" [ ] इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्, अप्रमाणादादिवाक्यात् तदसिद्धेः। तथा, सम्बन्धाऽभिधेयप्रत्यायनपराण्यपि वाक्यानि शास्त्रादौ वाङ्मात्रेण निश्चयायोगान्निष्प्रयोजनानि प्रतिक्षिप्तान्येव, उक्तन्यायस्य समानत्वात्। तद्युक्तम् 'समय'-इत्यादि—अभिधेयप्रयोजनप्रतिपादकम्—गाथासूत्रम्।

## [उत्तरपक्षः—आदिवाक्योपन्यासस्य सार्थकत्वसमर्थनम्]

अत्र प्रतिविधीयते—यदुक्तम् 'न प्रत्यक्षमनुमानं वा शब्दः' तत्र सिद्धसाध्यता, प्रत्यक्षानुमानलक्षणायोगात् तत्र। यच्चे 'नापि शब्दः प्रमाणम् बहिरर्थे तस्य प्रतिबन्धवैकल्येन, विवक्षायां तु प्रतिबन्धेऽपि यथाविवक्षमर्थासम्भवात्' तदप्यसारम्; बाह्यार्थेन शब्दप्रतिबन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् तत्रैव च प्रतिपत्ति-प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वाद् बाह्यार्थ एव शब्दस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं प्रत्यक्षवत्।

न चार्थाव्यभिचारित्वप्रामाण्यनिश्चयवतां ततः प्रवर्त्तमानानां प्रेक्षापूर्वकारिताक्षतिः। न चानाप्तप्रणीत'सरित्तटपर्यस्तगुडशकट'वाक्यविशिष्टतानवगमाद् नातः प्रवृत्तिः, प्रत्यक्षाभासात् प्रत्यक्षस्येवानाप्तप्रणीतवाक्यादस्य विशिष्टतावसायात्; यस्य तु न तद्विशिष्टावसायो नासावतः प्रवर्त्तते अनवधृतहेत्वाभासविवेकाद्धेतोरिवानुमेयार्थक्रियार्थी। न चाप्तानां परहितप्रतिबद्धप्रयासानां प्रमाणभूतत्वात् स्ववाङ्मात्रेण प्रवर्तयितुं प्रभवतां प्रयोजनवाक्योपन्यासवैयर्थ्यम्, सुनिश्चिताप्तप्रणीतवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनां तदुपायानिश्चये तत्र प्रवृत्त्ययोगात्। न च प्रयोजनविशेषप्रतिपादकवाक्यमन्तरेणाप्तप्रणीतशास्त्रस्यापि तद्विशेषप्रतिपादकत्वनिश्चयः येन तत एव तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिः स्यात्, तदनभिमतप्रयोजनप्रतिपादकानामपि तेषां संभवात्।

अतः "यत्र खल्वाप्तैः 'इदं कर्तव्यम्' इति पुरुषाः प्रतीततदाप्तभावा नियुज्यन्ते तत्रावधीरिततत्प्रेरणाऽतथाभावविषयविचारास्तदभिहितं वाक्यमेव बहु मन्यमाना अनादृतप्रयोजनपरिप्रश्ना एव प्रवर्त्तन्ते, विनिश्चिततदाप्तभावानां प्रत्यवस्थानासंभवात्" [ ] इति निरस्तम्, आप्तप्रवर्त्तितप्रतिनियतप्रयोजनार्थिजनप्रेरणावाक्यस्यैव प्रयोजनवाक्यत्वनिश्चयात् अन्यथाऽभिमतफलार्थिजनप्रेरकवाक्यस्याप्तप्रयुक्तत्वमेवानिश्चितं स्यात् अनभिमतार्थप्रेरकस्यावगताप्तवाक्यत्वे चातिप्रसङ्गः; न चाप्तवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनस्तदवगमे तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते, अतिप्रसङ्गादेवेति सुप्रसिद्धम्।

अर्थसंशयोत्पादकत्वेन चादिवाक्यस्य प्रवर्तकत्वप्रतिक्षेपे सिद्धतासाधनम्, व्यापकानुपलब्धेस्त्वसिद्धतोद्भावनमादिवाक्यान्निश्चितबाह्यार्थप्रामाण्याद् युक्तमेव, यथा च तत्र तस्या (तस्य) प्रामाण्यं तथा प्रतिपादयिष्यामः। अत एव "आप्ताभिहितत्वासिद्धेरविसंवादकत्वायोगादप्रमाणत्वाभावनिश्चयनिमित्ताभावादप्रवर्त्तकत्वं प्रयोजनवाक्यस्य प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रति" [ ] इति यदुच्यते तदपि प्रतिव्यूढं द्रष्टव्यम्। एतेनैव सम्बन्धाभिधेयाभिधानस्यापि सार्थकत्वं प्रतिपादितम्। तत् स्थितमभिधेयप्रयोजनप्रतिपादकत्वं समुदायार्थः 'समय'-इत्यादिगाथासूत्रस्य।

अत्र च 'आगममलारहृदय' इत्यनुवादेन 'समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णौ यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये' इति विधिपरा पदघटना कर्त्तव्या।

---

१ "एतेन शास्त्रप्रतिज्ञाख्यापनफलः संक्षेपतः शास्त्रशरीरख्यापनफलश्च तदादौ वाक्योपन्यास इत्येवमादयोऽसत्कल्पनाः ××× निर्वर्णितोत्तरा" इति स्याद्वादर० पृ० ९ द्वि० पं० ६। २ पृ० १६९ पं० ८। ३ पृ० १७० पं० १-३। ४ पृ० १७० पं० ८। ५ यदा-भा० का०। ६ न चार्थव्य-वा० बा० विना। ७-वधारिततत्प्रेरणातथाभाव-भा० वा० बा०। ८-र्थिना ज-भा० गु० हा० मा० डे०।-र्थिनो ज-वि० कां०। ९-त्वे चा-भा० डे० गु० आ०। १० अथ-आ० कां० डे० गु० मा०। ११ वि० प्रतौ 'तस्य प्रामाण्यम्' इत्येव संशोधितम्। अथवा 'तस्याऽप्रामाण्यम्' इत्यस्यैव पाठस्य प्राह्यतायां 'न' पदं पूरयित्वा 'यथा च न तत्र तस्याऽप्रामाण्यम्' इति पाठो बोद्धव्यः। १२ प्रतीतिर्यदु-वा० बा० विना। १३-नवाक्यस्य प्रति-भा० मा०।

पदार्थैस्तु मलमिव आरा प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारो[1] गौर्गली आगमे तद्वद् कुण्ठं हृदयं यस्य—तदर्थप्रतिपत्त्यसामर्थ्यात्—असौ तथा मन्दधीः, सम्यगीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समय आगमः तस्य परमोऽकल्पितश्चासावर्थः समयपरमार्थः तस्य विस्तरो रचनाविशेषः—शब्दार्थयोश्च भेदेऽपि पारमार्थिकसम्बन्धप्रतिपादनायाऽभेदविवक्षया "प्रथने वावशब्दे"[2] [पाणि० ३, ३, ३३] इति घञ् न कृतः—तस्य विहाटं[3] इति दीप्यमानान् श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति प्रकाशयतीति विहाटश्चासौ जनश्च चतुर्दशपूर्वविदादिलोकः तस्य पर्युपासनम्—कारणे[4] कार्योपचारात्—सेवाजनिततद्व्याख्यानं तत्र सह कर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्णः तद्व्याख्याताथावधारणसमर्थः यथा इति येन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थमुन्नेष्ये लेशतः प्रतिपादयिष्ये ।

यथाभूतेनार्थेन प्रतिपादितेनातिकुण्ठधीरपि श्रोतृजनो विशिष्टागमव्याख्यातृप्रतिपादितार्थावधारणपटुः सम्पद्यते तमर्थमनेन प्रकरणेन प्रतिपादयिष्यामीति यावत् ।

## [ शब्दार्थ—तत्संबन्धयोर्मीमांसा—पूर्वपक्षः ]

### [ 'अपोह एव शब्दस्यार्थः' इति बौद्धमतस्य संक्षिप्य स्थापनम् ]

ननु च 'समयपरमार्थविस्तर'-इत्यनेनागमस्याकल्पितो बाह्यार्थः प्रतिपाद्यत्वेन शब्दार्थयोश्च वास्तवः सम्बन्धो निर्दिष्टः, द्वितयमप्येतदयुक्तम्, प्रमाणबाधितत्वात् इति बौद्धाः । तथाहि-शब्दानां न परमार्थतः किञ्चिद् वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति; सर्व एव हि शाब्दप्रत्ययो भ्रान्तः, भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तेः । यत्र तु पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धस्तत्रार्थसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि, तत्र यत् तदारोपितं विकल्पबुद्ध्याऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तद् अन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात् स्वयं[7] चान्यव्यावृत्ततया प्रतिभासनात् भ्रान्तैश्चान्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्च अन्यापोह इत्युच्यते, अतः अपोहः शब्दार्थः इति प्रसिद्धम् ।

### [ 'विधिरेव शब्दस्यार्थः' इति विधिवादिमतस्य संक्षिप्य प्रतिस्थापनम् ]

अत्र विधिवादिनः प्रेरयन्ति-यदि भवतां द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्यादिलक्षणानि विशेषणानि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि परमार्थतो न सन्ति कथं लोके 'दण्डी' इत्याद्यभिधानप्रत्ययाः प्रवर्त्तन्ते द्रव्याद्युपाधिनिमित्ताः ? तथाहि-'दण्डी' 'विषाणी' इत्यादिधी-ध्वनी लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्लः' 'कृष्णः' इति गुणोपाधिकौ, 'चलति' 'भ्रमति' इति कर्मनिमित्तौ, 'अस्ति' 'विद्यते' इति सत्तानिमित्तकौ, 'गौः' 'अश्वः' इति सामान्यविशेषोपाधी, 'इह तन्तुषु पटः' इति समवायनिमित्तः (त्तौ) । तत्रैषां द्रव्यादीनामभावे 'दण्डी' इत्यादिप्रत्यय-शब्दौ निर्विषयौ स्याताम् । न चानिमित्तावेतौ युक्तौ, सर्वत्र सर्वदा तयोरविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चाविभागेन तयोः प्रवृत्तिरस्ति, तस्मात् सन्ति द्रव्यादयः पारमार्थिकाः प्रस्तुतप्रत्यय-शब्दविषयाः ।

प्रमाणयन्ति चात्र[12]—ये परस्परासङ्कीर्णप्रवृत्तयस्ते सनिमित्ताः, यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः, असङ्कीर्णप्रवृत्तयश्च 'दण्डी' इत्यादिशब्द-प्रत्ययाः इति स्वभावहेतुः । अनिमित्तत्वे सर्वत्राविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम् ।

---

१ "मड्ड-मराला य अलसम्मि"-देशीना० व० ६ श्लो० ११२ पृ० २२२ । "मंदं अलसं जडं मरालं च"-पाइअ० ना० श्लो० १५ पृ० ३ । २ "वेरशब्दे प्रथने" इति हैमं सूत्रम्-५, ३, ६१ । ३ "हट दीप्तौ" है० धातुपारा० १, १८८ पृ० २७ । ४ कार्ये कारणोपचारात् मां० मां० । ५ द्रष्टव्य एवेदं संपूर्णमपोहप्रकरणमविकलतया तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां दृश्यते पृ० २७४ का० ८६७-पृ० ३६६ का० १२१२ । ६ यदारो-वि० । ७-यं वा-वा० वा० । ८-नाभ्रान्तेश्चा-मां० ।

९ "यदि नोपाधयः केचिद् विद्यन्ते ( परमार्थतः ) । ( दण्डी शुक्लश्चलत्यस्ति गौ ) रिहेत्यादिधी ( ध्वनी ) ॥
( स्यातां ) किंविषयावेतौ नाऽनिमित्तौ च तौ मतौ । सर्वत्राविभागेन तयोर्वृत्तिरसंभवी" ( ? ) ॥
तत्त्वसं० का० ८६७, ८६८ पृ० २७४ ।

१० " 'इहात्मनि ज्ञानम्' इत्यादिकौ संबन्धोपाधिकौ" प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ८-९ । ११-ण वृत्ति-मां० मां० । १२ प्रयोगोऽयं विद्यते प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ७ ।

[ विधिवादिमतं सविस्तरं दूषयताम् 'अपोहवादिनां मतस्य निर्देशः ]

अत्र यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूतेन निमित्तेन सनि(सनि)मित्तत्वमेषां साधयितुमिष्टं तदा अनैकान्तिकता हेतोः, साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। अथ येन केनचिन्निमित्तेन सनिमित्तत्वमिष्यते तदा सिद्धसाध्यता। तथाहि—अस्माभिरपीष्यते एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तं न तु विषयभूतम्, भ्रान्तत्वेन सर्वस्य श(शा)ब्द प्रत्ययस्य निर्विषयत्वात्। तदुक्तम्—

"येन येन हि नाम्ना वै यो यो धर्मोऽभिलप्यते।
न स संविद्यते तत्र धर्माणां सा हि धर्मता" ॥ [ ] इति।

न च शाब्दप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वाऽविषयत्वयोः किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवर्त्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्। तथाहि—यः 'अतस्मिंस्तद्' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः, यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः, तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाध्यवसायी शाब्दः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। न च सामान्यं वस्तुभूतं ग्राह्यमस्ति येनासिद्धताऽस्य हेतोः स्यात्, तस्य निषिद्धत्वात्। भवतु वा सामान्यम् तथापि तस्य भेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्नेष्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव, न ह्यन्येनान्ये समाना युक्तास्तद्वन्तो नाम स्युः। अनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य सर्वमेव विश्वमेकं वस्तु परमार्थत इति तत्र सामान्यप्रत्ययो भ्रान्तिरेव, न चैकवस्तुविषयः समानप्रत्ययः, भेदग्रहणपुरस्सरत्वात् तस्य। भ्रान्तत्वे च सिद्धे निर्विषयत्वमपि सिद्धम्, स्वाकारार्पणेन जनकस्य कस्यचिदर्थस्यालम्बनलक्षणस्य प्राप्तस्याभावात्।

अन्यथा वा निर्विषयत्वम्। तथाहि—यत्रैव कृतसमया ध्वनयः स एव तेषामर्थो युक्तो नान्यः, अतिप्रसङ्गात्; न च क्वचिद् वस्तुन्येषां परमार्थतः समयः संभवतीति निर्विषया ध्वनयः। प्रयोगः—ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति, यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनयः इति व्यापकानुपलब्धिः कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् तस्य चेहाभावः।

[ संकेतासंभवसाधनाय स्वलक्षणाद्यर्थभेदेन विकल्पपञ्चकविधानम् ]

न चायमसिद्धो हेतुः। तथाहि—गृहीतसमयं वस्तु शब्दार्थत्वेन व्यवस्थाप्यमानं स्वलक्षणं वा व्यवस्थाप्येत, जातिर्वा, तद्योगो वा, जातिमान् वा पदार्थः, बुद्धेर्वा आकार इति विकल्पाः। सर्वेष्वपि समयासंभवान्न युक्तं शब्दार्थत्वं तत्त्वतः, सांवृतस्य तु शब्दार्थत्वस्य न निषेध इति न स्ववचनविरोधः प्रतिज्ञायाः। एवं ह्यसौ स्यात्—स्वलक्षणादीन् शब्देनाप्रतिपाद्य न शक्यमशब्दार्थत्वमेषां प्रतिपादयितुम्, तत्प्रतिपिपादयिषया च शब्देन स्वलक्षणादीनुपदर्शयता शब्दार्थत्वमेषामभ्युपेयं स्यात् पुनश्च तदेव प्रतिज्ञया प्रतिषिद्धमिति स्ववचनव्याघातः; न चासावभ्युपगम्यत इति। एतेन यदुक्तमुद्द्योत-

---

१ "उच्यते विषयोऽमीषा धी-ध्वनीना न कश्चन। अन्तर्मात्रानिविष्टं तु बीजमेषा निबन्धनम्" ॥

तत्त्वसं० का० ८६९ पृ० २७५।

२ "तत्र यदि मुख्यतो बाह्येन विषयभूतेन सनिमित्तत्वमेषा साधयितुमिष्टं तदाऽनैकान्तिकता हेतो." तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २७५ पं० १९। ३—स संनि—का०। ४—भूतत्वम् भ्रा—भा० मा० विना। ५ "तत्रेदमुक्तं तायिना" इति निर्दिश्य श्लोकोऽयं समुद्धृतस्तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायाम् पृ० १२ पं० १२। ६—भिलप्यते भा० मा० मा० वा०। ७ स स वि—भा० वि० का०।

८ "यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते। स स (संविद्य) ते नैव वस्तूनां सा हि धर्मता" ॥

तत्त्वसं० का० ८७० पृ० २७५।

९—स्वयम्भ्रान्त—भां० मां० वा० बा० विना। १० पृ० ११० पं० ९। ११ "नहि अनेन अन्ये समाना भवन्ति तद्वन्तो हि तथा स्यु" इति सामान्यपदार्थविचारप्रस्तावे न्यायकु० लि० पृ० १६१ प्र० पं० १०। १२ "सामान्यप्रत्यय"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २७६ पं० १०। १३ सास्नामति भा० कां० गु० डे० मा० वा० बा०।

१४ "यतः स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा। बुद्ध्याकारो न शब्दार्थे घटामञ्चति तत्त्वत" ॥

तत्त्वसं० का० ८७१ पृ० २७६।

१५ "पदार्थबुद्धेर्वा आकार"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २७६ पं० २३। १६—ब्दार्थस्य डे० गु०। १७ "शब्दार्थत्वमेषामभ्युपेतं स्यात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २७६ पं० २७।

करेण–"अवाचकत्वे शब्दानां प्रतिज्ञा-हेत्वोर्व्याघातः" [अ० २, आ० २, सू० ६७ न्यायवा० पृ० ३२७ पं० ६-७] इति, तदपि प्रत्युक्तं भवति; न हि सर्वथा शब्दार्थापवादोऽस्माभिः क्रियते–आ गोपालेभ्योऽपि प्रतीतत्वात् तस्य–किन्तु तात्त्विकत्वं धर्मः परैर्यस्तत्रारोप्यते तस्यैव निषेधो न तु धर्मिणः ।

## [ १ स्वलक्षणे संकेतासंभवसाधनम् ]

तत्र स्वलक्षणे न तावत् समयः संभवति शब्दस्य, समयो हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यस्यैव सङ्केत-व्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव स व्यवहर्तॄणां युक्तो नान्यत्र; न च स्वलक्षणस्य सङ्केत-व्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तस्मान्न तत्र समयः । सङ्केत-व्यवहारकालाव्यापकत्वं च शाबलेयादिव्यक्तीनां देशादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽनन्वयात् तत्रैकत्र कृतसमयस्य पुंसोऽन्यैर्व्यवहारो न स्यादिति तत्र समयाभावान्नासिद्धता हेतोः ।

न चाप्यनैकान्तिकत्वम्, व्याप्तिसिद्धेः । तथाहि–यद्यगृहीतसङ्केतमर्थं शब्दः प्रतिपादयेत् तदा गोशब्दोऽप्यश्वं प्रतिपादयेत् सङ्केतकरणानर्थक्यं च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिर्बाधकं प्रमाणमिति कथं न व्याप्तिसिद्धिः ?

अयमेवं वा 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतुराचार्यदिग्नागेन "न जातिशब्दो भेदानां वाचकः, आनन्त्यात्" [ ] इत्यनेन निर्दिष्टः । तथाहि–'आनन्त्यात्' इत्यनेन समयासंभव एव दर्शितः ।

तेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण–"यदि शब्दान् पक्षयसि तदा 'आनन्त्यात्' इत्यस्य वस्तुधर्मत्वाद् व्यधिकरणो हेतुः, अथ भेदा एव पक्षीक्रियन्ते तदा नान्वयी न व्यतिरेकी दृष्टान्तोऽस्तीत्यहेतुरानन्त्यम्" [अ० २, आ० २, सू० ६७ न्यायवा० पृ० ३२३ पं० १६] इति, तत् प्रत्युक्तम् । यत् पुनः स एवाह–"यस्य निर्विशेषणा भेदाः शब्दैरभिधीयन्ते तस्याऽयं दोषः, अस्माकं तु सत्ताविशेषणानि द्रव्य-गुण-कर्म्माण्यभिधीयन्ते । तथाहि–यत्र यत्र सत्तादिकं सामान्यं पश्यति तत्र तत्र सदादिशब्दं प्रयुङ्क्ते, एकमेव च सत्तादिकं सामान्यम्, अतः सामान्योपलक्षितेषु भेदेषु समयक्रियासम्भवादकारणमानन्त्यम्" [अ० २, आ० २, सू० ६७ न्यायवा० पृ० ३२३ पं० ११] इति, असदेतत्, यतो न सत्तादिकं वस्तुभूतं सामान्यं तेभ्यो भिन्नमभिन्नं वाऽस्तीति । भवतु वा तत् तथाप्येकस्मिन् भेदेऽनेकसामान्यसंभवात्साङ्कर्येण सदादिशब्दयोजनं न स्यात् । न च शब्देनानुपदर्श्य सत्तादिकं सामान्यं सत्तादिना भेदाननुपलक्षयितुं समयकारः शक्नुयात्, न चाकृतसमयेषु सत्तादिषु शब्दप्रवृत्तिरस्तीति इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः ।

अथापि स्यात् स्वयमेव प्रतिपत्ता व्यवहारोपलम्भादन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सदादिशब्दैः समयं प्रतिपद्यते, असदेतत्, अनन्तभेदविषयनिःशेषव्यवहारोपलम्भस्य कस्यचिदसंभवात् । एकदा सत्तादिमत्सु भेदेष्वसकृद् व्यवहारमुपलभ्याऽदृष्टेष्वपि तज्जातीयेषु तान् शब्दान् प्रतिपद्यत इति चेत्, न;

---

१-स्त्रा-हेतुर्व्या-भां० मां० वा० बा० विना । २-र्यस्त्रारो-वि० ।

३ "तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते । संकेतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगतः" ॥

तत्त्वसं० का० ८७२ पृ० २७७ ।

४ "व्यक्त्यात्मानोऽनुयन्त्येते न परस्पररूपतः । देश-काल-क्रिया-शक्ति-प्रतिभासादिभेदतः ॥

तस्मात् संकेतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते । न चाऽगृहीतसंकेतो (बोध्येता) न्य इव ध्वनेः" ॥

तत्त्वसं० का० ८७३-८७४ पृ० २७७ ।

५-व चा-वि० । ६ "यत् पुनरेतत्–आनन्त्यान्न जातिशब्दो भेदानां वाचकः" इति न्यायवा० पृ० ३२३ पं० २ । एतादृश एवाऽयं पाठ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २७७ पं० २८ । "यत्तु भिक्षुणा" इति निर्दिश्य श्लोकवार्तिकव्याख्याया पार्थसारथिमिश्र एतत्समानमेनं श्लोकमुद्धरति–

"न जातिशब्दो भेदानामानन्त्य-व्यभिचारतः । वाचको योग-जात्योर्वा भेदार्थैरपृथक्श्रुतेः" ॥

श्लो० वा० पृ० ५९६ पं० २० ।

"अयमेवाभिप्रायः 'न जातिशब्दो भेदानां वाचकः, आनन्त्यात्' इति वदत आचार्यदिग्नागस्य"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ३९९ द्वि० पं० ६ । ७-न संभव ए-वा० बा० गु० भा० डे० । ८ शब्दा ए-मा० मां० । ९-रानन्त्यमिति भा० ।-रात्यन्तमिति वा० बा० ।-रानन्त्यंतमिति वि० । १०-भत्स्वभेदेषु-भा० मां० विना ।

अदृष्टत्वात्, न ह्यदृष्टेष्वतीतादिभेदभिन्नेष्वनन्तेषु भेदेषु समयः संभवति अतिप्रसङ्गात्। विकल्पबुद्ध्यां व्या(ऽध्या)हृत्य तेषु तत्प्रतिपत्त्याभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसङ्केतः प्राप्तः। तथाहि-अतीतानागतयोरसत्त्वेनासन्निहितत्वात् तत्र विकल्पबुद्धिर्भवन्ती निर्विषयैव, तत्र भवन् समयः कथं परमार्थवस्तुविषयो भवेदिति? सपक्षे भावात् नापि हेतोर्विरुद्धतेति सिद्धं स्वलक्षणाविषयत्वं शब्दानाम्।

अथ स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावानां देशादिभेदाभावात् सङ्केतव्यवहार-कालव्यापकत्वेन समयसंभवात् पक्षैकदेशासिद्धता प्रकृतहेतोः, नैतत्; हिमाचलादीनामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावतया उदयानन्तरापवर्गितया च नाशेषावयवपरिग्रहेण समयकालपरिदृष्टस्वभावस्य व्यवहारकालानुयायित्वेन च समयः संभवतीति नासिद्धता हेतोः। अत उक्तन्यायेन समयवैयर्थ्यप्रसङ्गान्न स्वलक्षणे समयः संभवति।

अशक्यक्रियत्वाच्च न तत्र समयः। तथाहि-उदयाऽनन्तरापवर्गिषु भावेषु समयः क्रियमाणः अनुत्पन्नेषु वा क्रियेत, उत्पन्नेषु वा? न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थतः समयो युक्तः, असतः सर्वोपाख्यारहितस्याधारत्वानुपपत्तेः, अपारमार्थिकवस्त्वजातेऽपि पुत्रादौ समय उपलभ्यत इति न दृष्टविरोधः, विकल्पनिर्म्मितार्थविषयत्वेन तस्यापारमार्थिकत्वात्। नाप्युत्पन्ने समयो युक्तः, तस्मिन्ननुभवोत्पत्तौ तत्पूर्वके च शब्दभेदस्मरणे सति समयः संभवति नान्यथा—अतिप्रसङ्गात्—शब्दभेदस्मरणकाले च चिरनिरुद्धं स्वलक्षणमिति अजातवज्जातेऽपि कथं समयः समयक्रियाकाले द्वयोरप्यसन्निहितत्वात्? तथाहि-अनुभवावस्थायामपि तावत् तत्कारणतया स्वलक्षणं क्षणिकं न सन्निहितसत्ताकं भवति किं पुनरनुभवोत्तरकालभाविनामभेदाभोगस्मरणोत्पादकाले भविष्यति?

नापि तज्जातीये तत्सामर्थ्यबलोपजाते समयक्रियाकालभाविनि क्षणे समयः सम्भवति, तस्याऽन्यत्वात्। यद्यपि समयक्रियाकाले सन्निहितं क्षणान्तरमस्ति तथापि तत्र समयाभोगासम्भवान्न समयो युक्तः; न ह्यश्वमुपलभ्य तन्नामस्मरणोपक्रमपूर्वकं समयं कुर्वाणस्तत्कालसन्निहिते गवादावाभोगाविषयीकृते 'अश्वः' इति समयं समयकृत् करोति। अथापि स्यात् सर्वेषां स्वलक्षणानां सादृश्यमस्ति तेनैक्यमध्यवस्य समयः करिष्यते, असदेतत्; यतो विकल्पबुद्ध्याऽध्यारोपितं सादृश्यम्, तस्य च ध्वनिभिः प्रतिपादने स्वलक्षणमवाच्यमेवेति न स्वलक्षणे समयः।

---

१-पु सम-भा० मां० विना। २ "विकल्पबुद्ध्या व्याहृत्य तेषु"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २७८ पं० १८। "विकल्पबुद्ध्यावध्याहृत्य तेषु सङ्केताभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसङ्केत."-प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० १२। ३ अत्र 'तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमे' इति पाठः सुचारुः, वि० प्रतावपि तथैव संशोधितो दृष्टः। ४-वतीति नि-वि० गु० का० डे०।

५ "हिमाचलादयो येऽपि देश-कालाद्यभेदिनः। (दृष्टास्तेऽप्यणवो भिन्नाः) क्षणिकाश्च प्रसाधिताः" ॥
तत्त्वसं० का० ८७५ पृ० २७८।

६ "अशक्यं समय(स्यास्य जातेऽजाते च कल्पनम्।) नाऽजाते समयो युक्तो भाविकोऽश्वविषाणवत्" ॥
तत्त्वस० का० ८७६ पृ० २७९।

७-वस्तु जा-भां० मां०।

८ "उप(नापि?)जाते गृहीता(नां पूर्वं)नाम्नामनुस्मृतौ। क्रियते समयस्तत्र चिरातीते (कथं नु तत्)" ॥
तत्त्वस० का० ८७७ पृ० २७९।

९ "यद्यपि (तत्सजातीयस्तद्व)त्केन तदापरः। न तत्र समयाभोग सादृश्यं च विकल्पितम्" ॥
तत्त्वस० का० ८७८ पृ० २७९।

१०-मयः भां० मां० विना।

नापि शब्दस्वलक्षणस्य। तथाहि-समयकृत् स्मृत्युपस्थापितमेव नाममेदमर्थेन योजयति, न च स्मृतिर्भावतोऽनुभूतमेवाभिलापमुपस्थापयितुं शक्नोति तस्य चिरनिरुद्धत्वात्, यं चोच्चारयति तस्य पूर्वमननुभूतत्वान्न तत्र स्मृतिः, न चाविषयीकृतस्तया समुत्थापयितुं शक्यः, अतः स्मृत्युपस्थापितमनुसन्धीयमानं विकल्पनिर्मितत्वेनास्वलक्षणमेवेति न स्वलक्षणत्वेऽस्य समयः। तस्माद्व्यपदेश्यं स्वलक्षणमिति सिद्धम्।

इतश्च स्वलक्षणमव्यपदेश्यम् शब्दबुद्धौ तस्याप्रतिभासनात्। यथा हि उष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासाऽनुभूयते न तथोष्णादिशब्दप्रभवा, न ह्युपहतनयनादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात् तद्रूपाद्यनुभाविनो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनादयोऽक्षबुद्ध्याऽनुभवन्तः। यथोक्तम्—

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते" ॥ [ वाक्यप० द्वि० का० श्लो० ४२५ ]

न च यो यत्र न प्रतिभाति स तद्विषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात्। तथा च प्रयोगः-यो यत्कृतप्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः, यथा रूपशब्दजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणम् इति व्यापकानुपलब्धिः। अत्र चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्। तथाहि-शब्दस्य तद्विषयज्ञानजनकत्वमेव तद्वाचकत्वमुच्यते नान्यत्, न च यद्विषयं ज्ञानं यदाकारशून्यं तत् तद्विषयं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति—स्पष्टमस्पष्टं च येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते—एकस्य द्वित्वविरोधात् भिन्नसमयस्थायिनां च परस्परविरुद्धस्वभावप्रतिपादनान्न शब्दगोचरः स्वलक्षणम्।

[ पदवाच्यविषयकस्य न्यायसूत्रकारमतस्य भाष्यकार-वार्तिककाराऽभिप्रायेण विशिष्य निरूपणम् ]

नैयायिकास्तु "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" [ न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६५ ] इति प्रतिपन्नाः। तत्र व्यक्तिशब्देन द्रव्य-गुणविशेष-कर्माण्यभिधीयन्ते। तथा च सूत्रम्—"व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः" [ न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६६ ] इति।

अस्यार्थो वार्त्तिककारमतेन-"विशिष्यत इति विशेषः गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः कर्माभिधीयते, द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्द एकशेषं कृत्वा निर्दिष्टः तेन गुणपदार्थो गृह्यते—गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः—विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थम्। तथाहि-आकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात्, न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते पृथक् स्वशब्देन तस्या उपादानात्। आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते-तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो द्रव्यमित्यर्थः। सूत्रे 'तत्'शब्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः, एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः-गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयं, समाहारद्वन्द्वश्चायम् "लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य" [ अ० २ पा० २ सू० २९ महाभाष्ये पृ० ४७१ पं० ८ ] इति नपुंसक-

---

१ यच्चोच्चा-आ० का०।
२ "( उष्णादिप्रतिपत्तिर्या ) नामादिध्वनिभाविनी। विस्पष्टा ( भासते नैषा ) तदर्थेन्द्रियबुद्धिवत्" ॥
तत्त्वसं० का० ८७९ पृ० २८०।
३-नुभविनो का०। ४ अनेकान्तज० पृ० ४५ द्वि० पं० ४ अम०। शास्त्रवा० स्त० ११ श्लो० २४। प्रमेयक० पृ० १२९ प्र० पं० ७। स्याद्वादर० पृ० ३४९ प्र० पं० ९।
५ "न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते। प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे तथा ! रसः" ॥
तत्त्वसं० का० ८८० पृ० २८०।
६-सङ्गात् अथ प्रयो-वि० डे०।-सङ्गात् प्रयो-भां० मां० वा० बा० हा०। ७ "यो यत्कृते प्रत्यये"-प्रमेयक० पृ० १२९ प्र० पं० ६। "यत्कृते ज्ञाने"-स्याद्वादर० पृ० ३४९ प्र० पं० ११। ८ "तद्वाचकत्वमुच्यते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८० पं० २८। ९ अन्तर्गत. पाठ. का० प्रतावेव। गुणा विशेषाश्चेति गुणविशेषाश्च तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः भां० मा०। गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः वा० बा० आ० हा० वि० गु०। १० "गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः, गुणविशेषाश्च तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८१ पं० १५। ११ "लिङ्गमशिष्यम्" इति पूर्तिः।

लिङ्गाऽनिर्देशः। तेनायमर्थो भवति-योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते मूर्त्तिश्चेति। तत्र यदा द्रव्ये मूर्त्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रव्यः-मूर्च्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्त्तिः, यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः-मूर्च्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपादयो मूर्त्तिः। व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्मसाधनः रूपादिषु करणसाधनः" [अ० २ आ० २ सू० ६८ न्यायवा० पृ० ३३२ पं० ३-२४]।

भाष्यकारमतेन च यथाश्रुति सूत्रार्थः-गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्ये-ष्टम्। यथोक्तम्-"गुणविशेषाणा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानाम् गुरुत्व-द्रवत्व-घनत्व-संस्काराणाम् अव्या-पिनश्च परिमाणविशेषस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्त्ति (मूर्त्तिः) मूर्च्छितावयवत्वात्" [न्यायद० वात्स्या० भा० पृ० २२४] इति।

आकृतिशब्देन प्राण्यवयवानां पाण्यादीनाम् तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते। तथा च सूत्रम्-"आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या" [न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६७] इति।

अस्य भाष्यम्—"यया जातिर्जातिलिङ्गानि च व्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् सा च सत्त्वाव-यवानाम्। तदवयवानां च नियतो व्यूहः" [न्यायद० वात्स्या० भा० पृ० २२५] व्यूहशब्देन संयोग-विशेष उच्यते, नियतग्रहणेन कृत्रिमसंयोगनिरासः, तत्र जातिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरः-पाण्या-दयः तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते, आकृत्या तु कदाचित् साक्षाज्जातिर्व्यज्यते यदा शिरः-पा-ण्यादिसन्निवेशदर्शनाद् गोत्वं व्यज्यते, क्वाचिज्जातिलिङ्गानि यदा विषाणादिभिरवयवैः पृथक् पृथक् स्वावयवसन्निवेशाभिव्यक्तैर्गोत्वादिर्व्यज्यते; तेन जातेस्तल्लिङ्गानां च प्रख्यापिका भवत्याकृतिः।

जातिशब्देनाभिन्नाभिधान-प्रत्ययप्रसवनिमित्तं सामान्याख्यं वस्तूच्यते। तथा च सूत्रम्—"समानप्रत्ययप्रसवात्मिका जातिः" [न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६८] इति समानप्रत्ययोत्पत्तिकारणं जातिरित्यर्थः।

तत्र व्यक्त्याकृत्योः एतेनैव स्वलक्षणस्य शब्दार्थत्वनिराकरणेन शब्दार्थत्वं निराकृतम्। तथाहि-यथा स्वलक्षणस्याकृतसमयत्वादशब्दार्थत्वं तथा तयोरपीति 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोर्नाऽ-सिद्धिः, नाप्यनैकान्तिकता। अपि च, व्यक्तिर्द्रव्य-गुणविशेष-कर्मलक्षणा, आकृतिश्च संयोगा-त्मिका, एते च द्रव्यादयः प्रतिषिद्धत्वाद् असन्तः कथं शब्दार्थतामुपयान्ति?

## [२-४ जाति-तद्योग-तद्वत्सु संकेतासंभवप्रदर्शनम्]

एवं स्वलक्षणवज्जाति-तद्योग-जातिमत्स्वपि—जात्यादेरसम्भवात्—समयासम्भवः। यथा च जातेस्तद्योगस्य च समवायस्यासम्भवस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्, जाति-तद्योगयोश्चाभावे तद्वतोऽप्यसम्भव एव तत्कृतत्वात् तद्व्यपदेशस्य, तद्वतश्च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभावी दोषः समान एव।

---

१-घना भा० वि० का० गु०। २ नेदं वार्तिकं शब्दशो न्यायवार्तिके। ३ "यथा श्रोत्रेऽक्षराणि भवन्ति तथा सूत्रार्थे" वि० टि०। ४ व्यक्तिमूर्ति-भा० वि० का०। ५-वैः पृथक् पृथग् न स्वाव-भा० मा०। -वैः पृथग् न स्वाव-भा० हा० गु०। ६ प्रख्यायिका वा० बा०। प्रत्याख्यातिका आ० हा० वि० गु०। ७ सूत्रे तु "समानप्रसवात्मिका जाति" इति दृश्यते न्यायदर्शने, न्यायवार्तिके, तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां च।

८ "एतेनैव प्रकारेण व्यक्त्याकृत्योर्निराकृतिः। स्वलक्षणात्मतैवेष्टा तयोरपि यतः परैः" ॥

तत्त्वसं० का० ८८१ पृ० २८२।

९ "द्रव्यादियोगयोः प्राक् तु प्रतिषेधाभिधानतः। न तात्त्विकी तयोर्युक्ता शब्दार्थत्वव्यवस्थितिः" ॥

तत्त्वसं० का० ८८२ पृ० २८२।

१० "जाति-संबन्धयोः पूर्वं व्यासतः प्रतिषेधनात्। नानन्तराः प्रकल्प्यन्ते शब्दार्थास्त्रिविधाः परे" ॥

"तद् व्यक्त्याकृतिजातीनां पदार्थत्वं यदुच्यते। तदसमञ्जसं सर्वासामपि नीरूपता यतः" ॥

तत्त्वसं० का० ८८३-८८४ पृ० २८२-२८३।

११ पृ० ११० पं० ६ तथा पृ० १०६ पं० १०।

[ पदवाच्यविषयाणि वाजप्यायन-व्याडि-पाणिनीनां मतानि ]

"जातिः पदार्थः"[1] इति[2] वाजप्यायनः । "द्रव्यम्"[3] इति व्याडिः । "उभयम्"[4] पाणिनिः । तदप्यनेनैव निरस्तम् जातेरयोगाद् द्रव्यस्य च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभाविदोषानतिवृत्तेः ।

[ बुद्ध्याकारे समयासंभवसाधनम् ]

बुद्ध्याकारेऽपि[5][6] न समयः सम्भवति, तस्य बुद्धितादात्म्येन व्यवस्थितत्वाद् नासौ तद्बुद्धिस्वरूपवत् प्रतिपाद्यमर्थं बुद्ध्यन्तरं वाऽनुगच्छति; ततश्च सङ्केत-व्यवहारकालाव्यापकत्वात् स्वलक्षणवत् कथं तत्रापि समयः? भवतु वा तस्य व्यवहारकालान्वयस्तथापि न तत्र समयो व्यवहर्तॄणां युक्तः । तथाहि—'अपि नामैतः शब्दादर्थक्रियार्थी[7] पुमानर्थक्रियाक्षमानर्थान् विज्ञाय प्रवर्त्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायका ध्वनयो नियोज्यन्ते न व्यसनितया; न चासौ विकल्पो बुद्ध्याकारोऽभिप्रेतशीताऽपनोदादिकार्यं तदर्थिनः सम्पादयितुमलम् तदनुभवोत्पत्तावपि तदभावात्, तेन तत्रापि समयाभावान्नासिद्धः 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतुः ।

[ 'अस्त्यर्थादयः शब्दार्थाः' इति वादिनां पक्षसप्तके निरूपयितव्ये प्रथमम् अस्त्यर्थवादिमतम् ]

अथ[8] अस्त्यर्थादयोऽपरे शब्दार्थाः सन्ति, ततश्च तत्र समयसम्भवादसिद्धतैव हेतोः । तथाहि—'अस्त्यर्थः' इति यदेतत् प्रतीयते तदेव सर्वशब्दानामभिधेयं न विशेषः, यथैव ह्यपूर्व-देवतादिशब्दा नार्थाकारं[9] विशेषं बुद्धिषु सन्निवेशयन्ति केवलं तत्रैतावत् प्रतीयते—'सन्ति केऽप्यर्थाः येष्वपूर्वादयः

---

१ "आकृत्यभिधानाद्वा एकं विभक्तौ वाजप्यायन." । "आकृत्यभिधानाद्वा एकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याय्यं मन्यते । एका आकृतिः, सा चाभिधीयते" इति अ० १ पा० २ सू० ६४ महाभा० पृ० ९० पं० ५ । "जातिशब्दार्थवाचिनो वाजप्यायनस्य मते गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतजातिमभिदधति"—सर्वदर्शनसं० द० १३ पं० २३७ । "तदित्थं वाजप्यायनाचार्यमतेन सार्वत्रिकी जातिपदार्थव्यवस्थोपपद्यते"—वाक्यप० तृ० का० श्लो० २ हेलाराजटी० पृ० ६ पं० २८ जातिस० । २–ति व्याजप्यायनः गु० डे० भा० वि० । "वाजा( का? )यायनः"—तत्त्वसं० पञ्जि० २८२ पं० २५ ।

इदं च रूपं 'वाजप्य'प्रकृतेरायनणि प्रत्यये निष्पन्नम् । किन्तु अस्य प्रकृतिः क्वचित् 'वाजव्य' इति, क्वचिच्च 'वाजप्य' इति दृश्यते । तद्यथा—"वाजव्य" चान्द्रव्या० अ० २ पा० ४ सू० ३५, गणर० म० पृ० १५० का० २३६ । "वाजप्य" अ० ४ पा० १ सू० ९९ काशिका तथा सिद्धान्तकौ० । "वाजप्यायन" वङ्गीयविश्वकोषे वकारादिवर्गे । "व्याज( वाज )व्यतिकेत्येके" हैमश० अ० ६ पा० १ सू० ५१ । चान्द्रे 'वाजव्य' 'व्यतिक' इति प्रकृतिद्वयम् । काशिका–कौमुद्योः 'वाजप्य' 'तिक' इति प्रकृतिद्वयम् । गणरत्नमहोदधौ च का० २३५–२३६ 'तिक' 'वाजव्य' इति प्रकृतिद्वय दृश्यते । यद्यपि हैमशब्दानुशासने 'व्याज( वाज )' इत्येव मुद्रितमस्ति तथापि तत्र चान्द्रादिपाठानुरोधेन 'वाजव्यायन' इति रूपानुरोधेन च 'वाजव्य' इत्येव प्रकृतिः साध्वी ।

अत्र Pro. Dr. E. Windisch इत्यनेन सम्पादितस्य चान्द्रव्याकरणस्य पृ० १६१ गतं द्वितीयं टिप्पनकं द्रष्टव्यम् ।

३ "द्रव्याभिधानं व्याडि." "द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते द्रव्यमभिधीयते" इति अ० १ पा० २ सू० ६४ महाभा० पृ० ९४ पं० १४ । "द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते"—सर्वदर्शनसं० द० १३ पं० २४४ । "व्याडिमते तु सर्वशब्दाना द्रव्यमर्थः"—वाक्यप० तृ० का० श्लो० २ हेलाराजटी० पृ० ६ पं० २९ जातिस० ।

४ "उभयमित्याह" "कथं ज्ञायते?" "उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । आकृतिं पदार्थं मत्वा × × × द्रव्यं पदार्थं मत्वा × × ×" अ० १ पा० १ आ० १ जातिव्यक्तिपदार्थनि० महाभा० पृ० ५२ पं० १४ । "पाणिन्याचार्यस्योभयं संमतम्"—सर्वदर्शनसं० द० १३ पं० २४६ ।

५ "बुद्ध्याकारश्च बुद्धिस्थो नार्थबुद्ध्यन्तरानुग. । नाभिप्रेतार्थकारी च सोऽपि वाच्यो न तत्त्वतः" ॥
"येऽन्येऽन्यथैव शब्दार्थमस्त्यर्थादीन् प्रचक्षते । निरस्ता एव तेऽप्येतैस्तथापि पुनरुच्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ८८५-८८६ पृ० २८३ ।

तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० २ । ६–पि समयः भां० मां० गु० डे० भा० । ७ शब्दार्थक्रिया–गु० । शब्दार्थः क्रिया–भां० मा० ।

८ "अस्त्यर्थं सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् । अपूर्व–देवता–स्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु" ॥
तत्त्वसं० का० ८८७ पृ० २८३ ।

"अस्त्यर्थं सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् । अपूर्व–देवता–स्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु" ॥
वाक्यप० का० २ श्लो० १२१ पृ० १३२ तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० ३ ॥

९ 'नार्थाकारविशेषम्' वि० सु० । "नार्थाकारविशेषम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८३ पं० २८ ।

शब्दाः प्रयुज्यन्ते' तथा स्वार्थेष्वपि गवादिशब्देष्वेवत् तुल्यम्, यतस्तेभ्योऽप्येवं प्रतीतिरुपजायते–'अस्ति कोऽप्यर्थो यो गवादिशब्दाभिधेयो गोत्वादिः' यस्तु तत्राकारविशेषपरिग्रहः केषाञ्चिदुपजायते स तेषां सिद्धान्तबलात् न तु शब्दात्।

[ २ समुदायार्थवादिमतम् ]

अपरे "ब्राह्मणादिशब्दैस्तपो-जाति-श्रुतादिसमुदायो विना विकल्प-समुच्चयाभ्यामभिधीयते, यथा वनादिशब्दैर्धवादयः" इत्याहुः। तथाहि–'वनम्' इत्युक्ते 'धवो (वो वा) खदिरो वा' इति न विकल्पेन प्रतीतिरुपजायते, नापि 'धवश्च खदिरश्च' इति समुच्चयेन, अपि तु सामस्त्येन प्रतीयन्ते धवादयः तथा 'ब्राह्मणः' इत्युक्ते 'तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा' 'तपश्च जातिश्च श्रुतं च' इति न प्रतिपत्तिर्भवति, अपि तु साकल्येन सम्बन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतयः संहताः प्रतीयन्त इति। बहुष्वनियतैकसमुदायिभेदावधारणं विकल्पः, एकत्र युगपदभिसम्बन्ध्यमानस्य नियतस्यैकस्य (तस्यानेकस्य) स्वरूपभेदावधारणं समुच्चयः, तद्व्यतिरेकेणात्र प्रतिपत्तिर्लोकप्रतीतैव।

[ ३ असत्यसंबन्धपदार्थवादिमतम् ]

अपरे "द्रव्यत्वादिभिरनिर्धारितरूपैर्यः सम्बन्धो द्रव्यादीनां स शब्दार्थः; स च सम्बन्धिनां शब्दार्थत्वेनासत्त्वादसत्य इत्युच्यते। यद्वा तपः-श्रुतादीनां मेचकवर्णवदैक्येन भासनादेषामेव परस्परमसत्यः संसर्गः"। तथाहि–एते प्रत्येकं समुदिता वा न स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते किन्त्वलातचक्रवदेषां समूहः स्वरूपमुत्क्रम्यावभासत इति।

[ ४ असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतम् ]

अन्ये त्वाहुः–"यद् असत्योपाधि सत्यं स शब्दार्थः" इति। तत्र स (?) शब्दार्थत्वेनाऽसत्या उपाधयो विशेषा वलयाऽङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुयायिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम्।

[ ५ अभिजल्पपदार्थवादिमतम् ]

अन्ये तु ब्रुवते–"शब्द एवाभिजल्पत्वमागतः शब्दार्थः" इति। स चाभिजल्पः 'शब्द एवार्थः'

---

१ "प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः। न स शब्दस विषय स हि यत्नान्तराश्रय" ॥
वाक्यप० का० २ श्लो० १२२ पृ० १११।

२ "समुदायोऽभिधेयो वाऽप्यविकल्प-समुच्चय"। तत्त्वस० का० ८८८ पृ० २८४। "समुदायोऽभिधेय स्याद् विकल्प-समुच्चय."। वाक्यप० का० २ श्लो० १२८ पृ० ११५। तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० ५।

३–त्वादिः समु–भा० का० डे० मा०। ४ "धवो वा खदिरो वा पलाशो वेति"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८४ पं० १०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० ६। ५–तस्यैव(क)स्य स्व–भा० वा०।–तस्यैव स्व–भा० हा० वि० डे० मा० का० गु०। "युगपदभिसंबध्यमानस्य नियतस्यानेकस्य स्वरूपभेदावधारणम्"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८४ पं० १५।

६ "असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदुच्यते" ॥ तत्त्वस० का० ८८८ पृ० २८४। "असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कथिदिष्यते"। वाक्यप० का० २ श्लो० १२८ पृ० १३५। तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० १०।

७–मुक्तस्याव–वा० वा०।

८ "असत्योपाधि यत् सत्यं तद् वा शब्दनिबन्धनम्"। तत्त्वस० का० ८८९ पृ० २८४। "असत्योपाधि यत् सत्यं तद् वा शब्दनिबन्धनम्"। वाक्यप० का० २ श्लो० १२९ पृ० १३६। तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० १२।

९–त्यं शब्दा–भा० मा० विना। १० "तत्र शब्दार्थत्वेनाऽसत्या उपाधय"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८४ पं० २३।

११ "शब्दो वाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम्" ॥
"सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा। शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते" ॥
तत्त्वस० का० ८८९–८९० पृ० २८४–२८५।
"शब्दो वाऽप्यभिजन्य(ल्प)त्वमागतो याति वाच्यताम्" ॥
"सोऽयमित्यभिसंबन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा। शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते" ॥
"तयोरपृथगर्थत्वे रूढेरव्यभिचारिणि। किञ्चिदेव क्वचिद् द्रव्यं प्राधान्येनाऽवतिष्ठते" ॥
"लोकेऽर्थरूपतां शब्दः प्रतिपन्नः प्रवर्तते। शास्त्रे तूभयरूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया" ॥
वाक्यप० का० २ श्लो० १२९–१३२ पृ० १३६–१३७। तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० प्र० पं० १३।

इत्येवं शब्देऽर्थस्य निवेशनम् 'सोऽयम्' इत्यभिसम्बन्धः, तस्माद् यदा शब्दस्यार्थेन सहैकीकृतं रूपं भवति तं [1]स्वीकृतार्थाकारं शब्दमभिजल्पमित्याहुः ।

## [ ६ बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतम् ]

[2]अन्ये तु "बुद्ध्यारूढमेवाकारं बाह्यवस्तुविषयं बाह्यवस्तुतया गृहीतं बुद्धिरूपत्वे[3]नाविभावितं शब्दार्थम्" आहुः । तथाहि-यावद् बुद्धिरूपमर्थेष्व[4]प्रत्यस्तं 'बुद्धिरूपमेव' [5]इति तत्त्वभावनया गृह्यते तावत् तस्य शब्दार्थत्वं नावसीयते तत्र क्रियाविशेषसम्बन्धाभावात्, न हि 'गामानय' '[6]दधि खाद' इत्यादिकाः क्रियास्तादृशि बुद्धिरूपे सम्भवन्ति, क्रियायोगसम्भवी चार्थः शब्दैरभिधीयते, अतो बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थः; यदा तु [7]बाह्ये वस्तुनि प्रत्यस्तो भवति तदा तस्मिन् प्रतिपत्ता बाह्यतया विपर्यस्तः क्रिया[8]साधनसामर्थ्यं [9]तस्य मन्यत इति भवति शब्दार्थः ।

ननु चापोहवादिपक्षादस्य को विशेषः? तथाहि—अपोहवादिनाऽपि बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया [10]गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यत एव । यथोक्तम्—

"[11]तद्रूपारोपमन्यान्यव्यावृत्त्याधिगतैः पुनः । शब्दार्थोऽर्थः स एवेति वचनेन विरुध्यते" ॥ [ ] इति,

नैतदस्ति, अयं हि बुद्ध्याकार[12]वादी बाह्ये वस्तुन्य[13]भ्रान्तं सविषयं द्रव्यादिषु पारमार्थिकेष्वध्यस्तं बुद्ध्याकारं परमार्थतः शब्दार्थमिच्छति [14]न पुनरा( न तु निरा )लम्बनं भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन [15]प्रवृत्तेभ्रान्तमितरेतरभेदनिबन्धनमभ्युपैति; [16]यदा तु यथाऽस्माभिरुच्यते—

"[17]स सर्वो ( सर्वो ) मिथ्यावभासोऽय—
मर्थ इतीष्यत एव यथोक्तेष्वेका( मर्थेष्वेका )त्मकग्रहः ।
[18]इतरेतरभेदोऽस्य
बीजं संज्ञा यदर्थिका" ॥ [ [19] ] इति तदा सिद्धसाध्यता । यद् वक्ष्यति—
"[20]इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एष नः" ॥ [ तत्त्वसं० का० ९०५ ] इति ।

न चापोहवादिना परमार्थतः किञ्चिद् वाच्यं बुद्ध्याकारोऽन्यो वा शब्दानामिष्यते । तथाहि-

---

१-कारश-वा० भां० ।

२ "यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः । स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ८९१ पृ० २८५ ।

"यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धन. । स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते" ॥

वाक्यप० का० २ श्लो० १३४ पृ० १३७ । तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० १ ।

३-नाविर्भावि-भा० मां० । "बुद्धिरूपत्वेनाविर्भावितम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८५ पं० ७ । ४-स्ययस्तं भां० मा० । ५-ति तत्र भा-भां० मा० ।-ति त्वच्च भा-हा० । ६-'धि च खाद' वि० व० । ७ बाह्य-वस्तुनि कां० । ८-धनासा-वा० वा० । ९-स्य स मन्य-वा० वा० । १० गृहीतः शब्दार्थो इतीष्य-(र्थोऽभीष्य-) वा० वा० । गृहीतशब्दार्थो इतीष्य—आ० का० गु० । "अपोहवादिनाऽपि बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीत. शब्दार्थ इति भाष्यत एव"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८५ पं० २० । "अपोहवादिनापि बुद्ध्याकारो बाह्यरुपतयाऽध्य-वसित. शब्दार्थोऽभीष्ट एव"-प्रमेयक० पृ० १२९ द्वि० पं० १ ।

११ तद्रूपारोपमस्यान्यव्यावृत्त्यं विगतः पुनः । शब्दार्थोऽर्थः स एवेति वचनेतिरुध्यते ॥ वा० वा० ।
तद्रूपारोपगत्यान्यव्यावृत्त्यधिगतैः पुनः । मा० मा० ।

"तद्रूपारोपगत्याऽन्यव्यावृत्त्याधिगते. पुनः । शब्दार्थोऽर्थः स एवेति वचने न विरुध्यते" ॥

तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८५ पं० २१ ।

१२-वादो वा-कां० वि० । १३-न्तं संबन्धविषयं वा० वा० । १४ "ननु (तु) निरालम्बनं भिन्नेष्वभे-दाध्यवसायेन"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८५ पं० २४ । १५-वृत्तेभ्रान्त-वा० वा० ।-वृत्तेभ्रान्तमितरभेद-आ० वि० । १६ यथा तु मां० मा० विना । यथा तु हा० । "यदि तु यथाऽस्माभिरुच्यते-
सर्वो मिथ्यावभासोऽयमर्थेष्वेकात्मना ग्रह । इतरेतरभेदोऽस्य बीजं संज्ञा यदर्थिका" ॥

तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८५ पं० २५ ।

१७ अत्र 'सः' इत्यस्य 'इतीष्यत एव यथोक्ते' इत्यस्य चार्थाननुसारिण पाठस्य लिपिकारदोषेण प्रवेशाद् इदं तत्त्वसंग्रहपञ्जिकागतपद्यमपि गद्यमिव जातम् । १८ -रभेदस्य मा० मा० हा० वि० गु० । -रभेद स्य आ० का० । १९ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० ७ । २० -तरामेदोऽस्य आ० क० गु० वा० ।

यदेव शाब्दे प्रत्ययेऽध्यवसीयमानतया प्रतिभासते स शब्दार्थः, न च बुद्ध्याकारः शाब्दप्रत्ययेनाऽध्यवसीयते किं तर्हि? बाह्यमेवार्थक्रियाकारि वस्तु, न चापि तेन बाह्यं परमार्थतोऽध्यवसीयते, यथातत्त्वमनध्यवसायाद् यथाध्यवसायमतत्त्वात् अतः समारोपित एव शब्दार्थः। यच्च समारोपितं तन्न किञ्चिद् भावतोऽभिधीयते शब्दैः। यत् पुनरुक्तम्–'शब्दार्थोऽर्थः स एवेति', तत् समारोपितमेवार्थमभिसन्धाय, बुद्ध्याकारवादिना तु बुद्ध्याकारः परमार्थतो वाच्य इष्यत इति महान् विशेषः।

## [ ७ प्रतिभापदार्थवादिमतम् ]

अन्ये त्वाहुः–"अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः न तु बाह्यार्थप्रत्यायकः" इति। शब्दस्य क्वचिद् विषये पुनः पुनः प्रवृत्तिदर्शनमभ्यासः, नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा सा प्रयोगदर्शनावृत्तिसहितेन शब्देन जन्यते, प्रतिवाक्यं प्रतिपुरुषं च सा भिद्यते; यथैव ह्यङ्कुशादिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ क्रियमाणायां प्रतिभाहेतवो भवन्ति तथा शब्दार्थ(सर्वेऽर्थ)वत्त्वसंमता वृक्षादयः शब्दा यथाभ्यासं प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति न त्वर्थे

---

१–द् भवतो हा० वि० गु०।–द् भवता–आ० का०। २ पृ० १८१ पं० १२। ३–मतिसंधाय गु०।–मभिधाय वा०।

४ "अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः सर्वः शब्दः समासतः। बालानां च तिरश्चां च यथाऽर्थप्रतिपादने" ॥

तत्त्वस० का० ८९२ पृ० २८६।

तथा, शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० प० ३।

"अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः। बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने" ॥

"अनागमश्च सोऽभ्यासः समयः कैश्चिदिष्यते। अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम्" ॥

"अथ प्रतिभास्वरूपमेव पूर्वोपक्रान्तमनुबध्नन्नाह"–

"विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्" ॥

"कीदृशीं ताम्? इत्याह"–

"इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथंचन। प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्राऽपि न निरूप्यते" ॥

"किंस्वभावाऽसौ? इत्याह"–

"उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता। सार्वरूप्यमिवाऽऽपन्ना विषयत्वेन वर्तते" ॥

"ता च न किंचित् प्राणिमात्रमतिवर्तते–अतिक्रम्य तिष्ठति–इत्याह"–

"साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा। इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते" ॥

"प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति। समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्" ॥

"सिद्धैव चेयं सर्वस्य प्रतिभेत्युपपादयितुमाह"–

"यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः। मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा" ॥

"सनिदर्शनमुपपादयितुमाह"–

"स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः। जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः"? ॥

"आहार-प्रीत्यभिद्वेष-प्लवनादिक्रियासु कः। जात्यन्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्"? ॥

"प्रतिभायाश्च शब्द एव मूलमित्याह"–

"भावनानुगतादेतदागमादेव जायते। आसत्ति–विप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्यते" ॥

"तस्याश्च निमित्तभेदेन षाड्विध्यं दर्शयितुमाह"–

"स्वभाव–चरणाऽभ्यास–योगा–ऽदृष्टोपपादिता। विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः" ॥ वाक्यप० का० २ श्लो० ११९–१२०–१४५–१५४ पृ० १३१–१३२–१४१–१४३ पुण्यरा० टी०।

५–वृत्तिसंहि–वा० बा०।–वृत्तिसहि–भा० मा०।

६ "यथैव ह्यङ्कुशाभिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८६ पं० १७। "यथा कशाभिघातमात्रसमनन्तरमेव वाजिनोऽभियान्ति, अङ्कुशाभिघातेन च गजाः"–वाक्यप० का० २ श्लो० १२० पुण्यरा० टी० पृ० १३२। "यथैव ह्यङ्कुशादिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० ३। ७–भासाहे–आ० का० गु०। ८ शब्दार्थसंबन्धसम्मता आ० हा० वि० का०। शब्दार्थसंबन्धसंगता भा० मा०। "तथा सर्वेऽर्थवत्समता वृक्षादयः शब्दाः"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८६ पं० १८।

साक्षात् प्रतिपादयन्ति; अन्यथा हि कथं परस्परव्याहताः प्रवचनभेदा उत्पाद्यकथाप्रबन्धाश्च स्वविकल्पोपरचितपदार्थभेदद्योतकाः स्युरिति ?

[ प्रागुक्ते पक्षसप्तके प्रतिविधातव्ये प्रथमम् अस्त्यर्थवादिमतनिरसनम् ]

अत्र प्रतिविदधति-[3]यद्यस्त्यर्थः पूर्वोदितैस्वलक्षणादिस्वभाव इष्यते तदा पूर्वोदि[4]तदोषप्रसङ्गः। किञ्च, अनिर्धारितविशेषरूपत्वादस्त्यर्थस्य तस्मिन् के[6]वले शब्दैः प्रतिपाद्यमाने 'गौः' 'गवयः' 'गजः' इत्यादिभेदेन व्यवहारो न स्यात्, तस्य श[7]ब्दैरप्रतिपादितत्वात्। [8]न च गोशब्दात् गोत्वविशिष्टस्यार्थस्य सत्तामात्रस्य शाबलेयत्वादिभेदरहितस्य प्रतीते[9]र्भेदेन व्यवहारो भविष्यतीति प्रतिपादयितुं शक्यम्, अभ्युपगमविरोधात्-गोशब्दादस्त्यर्थमात्रपरित्यागेन गवादिविशेषस्य प्रतिपत्त्यभ्युपगमात्। अथ विषाणादेर्विशेषस्य गोशब्दादप्रतीतेरस्त्यर्थवाचकत्वं शब्दस्याभिप्रेतम्; [10]नन्वेवं यदा गोत्वादिना विशि[11]ष्टमर्थमात्रमुच्यते इति मतं तदा तद्[12]वतोऽर्थस्याभिधानमङ्गीकृतं स्यात्, [13]तत्र च जातेस्तत्समवायस्य च निषेधात् तद्वतोऽर्थस्यासम्भव इति पू[14]र्वोक्तो दोषः। किञ्च, तद्वतोऽर्थस्य स्वलक्षणात्मकत्वा[15]दशक्यसमयत्वमव्यवहार्यत्वमस्पष्टावभासप्रसङ्गश्च [16]पूर्ववदापद्यत एव; स्वलक्षणादिव्यतिरेकेणान्योऽस्त्यर्थो निरूप्यमाणो न बुद्धौ प्रतिभातीत्यस्यासत्त्वमेव।

[ २ समुदायपदार्थवादिमतनिरसनम् ]

[17]समुदायाभिधानपक्षे तु जातेर्भेदानां च तपःप्रभृतीनामभिधानमङ्गीकृतमिति प्रत्येकाभिधानपक्षभाविनो दोषाः सर्वे युगपत् प्राप्नुवन्तीति न तत्पक्षाभ्युपगमोऽपि श्रेयान्।

[ ३-४ असत्यसंबन्ध-असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतद्वयनिरसनम् ]

'[18]असत्यसंबन्ध'-'अ[19]सत्योपाधिसत्य' इति पक्षद्वये च संयोग-समवायलक्षणस्य सम्बन्धस्य निषिद्धत्वात् सामान्यस्य च त्रिगुणात्मकस्य सत्यस्याव्यतिरिक्त[20]स्य, [21]व्यतिरिक्तस्याप्यसम्भवात् नासत्यः संयोगः। नाप्यसत्योपाधि सामान्यं शब्दवाच्यं सम्भवति।

---

१-कथं प्र-मु०। २-बन्धाश्च विक-भां० मा० बा० बा० विना। ३ पृ० १७९ पं० १३।

"तत्राऽस्त्यर्थोऽभिधेयोऽयं किं स्वलक्षणमिष्यते। जातिर्योगोऽथ यद्वाऽन्य (त्?) बुद्धेर्वा प्रतिबिम्बकम्" ॥

"एते स(स)दोषाः पूर्वोक्ता अस्त्यर्थे केवलेऽपि च। प्रतिपाद्ये न भेदेन व्यवहारोऽवकल्पते" ॥

तत्त्वसं० का० ८९३-८९४ पृ० २८६।

४ पृ० १७४ पं० २३। ५ पृ० १७४ पं० २५। ६ केवलशब्दैः वि० विना०। ७ शब्दैरपि प्र-मु०।

८ "गोत्वशब्दविशिष्टार्थसत्तामात्रगतेर्भवेत्। विषाणाकृतिनीलादिभेदाख्यातेस्तु तन्मतम्" ॥

तत्त्वसं० का० ८९५ पृ० २८७।

९ प्रतीतिर-भां० मां० विना।

१० "नन्वेवं तद्वतोऽर्थस्य भेदाना चाभिधा भवेत्। तद्भावे तत्र दोषश्च नान्योऽस्त्यर्थश्च दृश्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ८९६ पृ० २८७।

११-ष्टमर्थमात्रमुच्यते वा० बा०।-ष्टधर्ममात्रमिष्यते -कां० आ०।-'ष्टधर्मिमात्रमिष्यते' वि० सं०। १२-द्वतोऽर्थस्य स्वलक्षणात्मकत्वादस्याभिधान-वि०। १३-तत्त्वं च आ० हा० वि० गु०। १४ पृ० १७८ पं० २७। १५-दशब्दस-वा० वां०। १६ पृ० १७६ पं० ११-पृ० १७७ पं० ६। १७ पृ० १८० पं० ५।

"समुदायाभिधानेऽपि जातिभेदाभिधा स्फुटा। तपोजातिक्रियादीना सामस्त्येनाभिधानत" ॥

तत्त्वसं० का० ८९७ पृ० २८७।

१८ पृ० १८० पं० १३।

"निर्धारितस्वरूपाणा द्रव्यादीनां तु योगतः। संबन्धो यश्च सामान्यं सत्यं तद् वारितं पुरा" ॥

तत्त्वसं० का० ८९८ पृ० २८७।

१९ पृ० १८० पं० १८।

"भेदजात्यादिरूपेण शब्दार्थानुपपत्तितः। अर्थेनैकीकृतं रूपं न शब्दस्योपपद्यते ॥

तत्त्वसं० का० ८९९ पृ० २८७।

२० सांख्यसंमतस्य। २१ न्यायसंमतस्य।

[ ५-६ अभिजल्प-बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतद्वयनिरसनम् ]

अभिजल्पपक्षेऽपि यदि शब्दस्य कश्चिदर्थः सम्भवेत् तदा तेन सहैकीकरणं भवेदपि, स्वलक्षणादिस्वरूपस्य च शब्दार्थस्यासम्भवः प्राक् प्रदर्शित इति कथं तेनैकीकरणम्? अपि चायमभिजल्पो बुद्धिस्थ एव। तथाहि-बाह्यार्थयोः (बाह्ययोः) शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादिभ्यो भेदस्य सिद्धेस्तयोरैक्यापादनं परमार्थतोऽयुक्तमेवेति बुद्धिस्थयोरेव शब्दार्थयोरेकबुद्धिगतत्वादेकीकरणं युक्तम्। तथाहि-उपगृहीताभिधेयाकारतिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्त्तमानः शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थमविभागेनान्तः सन्निवेशयन्नभिजल्प उच्यते; स च बुद्धेरात्मगत एवाकारो युक्तो न बाह्यः, तयोरैकान्तेन परस्परं विविक्तस्वभावत्वात्; ततश्च बुद्धिशब्दार्थपक्षादनन्तरोक्तादस्य न कश्चिद् भेदः, उभयत्रापि बौद्ध एवार्थः। एतावन्मात्रं तु भिद्यते-'शब्दार्थावेकीकृतौ' इति। दोषस्तु समान एव-

"ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्"? [ ] इति।

[ ७ प्रतिमापदार्थवादिमतनिरसनम् ]

प्रतिमापक्षे तु यदि सा परमार्थतो बाह्यार्थविषया तदैकत्र वस्तुनि शब्दादौ विरुद्धसमयावस्थायिनां विचित्राः प्रतिमा न प्राप्नुवन्ति, एकस्यानेकस्वभावासम्भवात्। अथ निर्विषया तदार्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती न प्राप्नुतः, अतद्विषयत्वाच्छब्दस्य। अथ स्वप्रतिभासो(से)ऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या ते प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती भवतस्तदा भ्रान्तः शब्दार्थः प्राप्नोति, तस्याश्च बीजं वक्तव्यम्; अन्यथा सा सर्वत्र सर्वदा भवेत्। यदि पुनर्भावानां परस्परतो भेद एव बीजमस्यास्तदाऽसत्पक्ष एव समर्थितः स्यादिति सिद्धसाध्यता। किञ्च, सर्वमेतत् स्वलक्षणादिकं शब्दविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानं क्षणिकम् अक्षणिकं वेति? आद्यपक्षे सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारकालाननन्वयान्न तत्र समयः सप्रयोजनः। अक्षणिकपक्षे च

"नाक्रमात् क्रमिणो भावः" [ ]

इति शब्दार्थविषयस्य क्रमिज्ञानस्याभावप्रसक्तिः।

---

१ पृ० १८० पं० २२।

"जल्पो बुद्धिस्थ एवायं बाह्ययोगविभेदतः। तत को भेद एतस्य बुद्धि(बुद्धि) पक्षादनन्तरात्"? ॥

"बुद्ध्याकारोऽपि शब्दार्थः प्रागेव विनिवारितः। ज्ञानादव्यतिरिक्तस्य व्यापकत्ववियोगतः" ॥

तत्त्वसं० का० ९००-९०१ पृ० २८८।

२ "सहैकीकरणं भवेत् यावता स्वलक्षणादिरूपस्य शब्दार्थस्याऽसंभवः पूर्वं प्रतिपादितः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८८ पं० ९।

३ भवेदयमपि आ० हा० वि०। ४ पृ० १७५ पं० ५-पृ० १७९ पं० ११। ५ "तथाहि-बाह्ययो शब्दार्थयो"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८८ पं० ११। ६ तथा गृहीता-आ० वि०। ७ स्वभावबुद्धौ आ० हा० वि०। ८ पृ० १८१ पं० ४।

९ "व्यक्तयो नानुयान्त्यन्यदनुयायि न भासते। ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्"? ॥

तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३८९ पं० २२।

१० पृ० १८२ पं० ८।

"प्रतिभाऽपि च शब्दार्थो बाह्यार्थविषया यदि। एकात्मनियते बाह्ये विचित्रा प्रतिभा कथम्"? ॥

"अथ निर्विषया एता वासनामात्रभावतः। प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिर्वा बाह्यार्थेषु कथं भवेत्"? ॥

"बाह्यरूपाविमोक्षेण स्वाकारे यदि ते मते। शब्दार्थोऽनारिवक भ्रान्तस्तथाभ्रान्त्या प्रवर्तनात्" ॥

"निर्बीजा न च सा युक्ता सर्वत्रैव प्रसङ्गतः। इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एष न" ॥

तत्त्वसं० का० ९०२-९०५ पृ० २८८।

११ स्वविषयप्रतिभासोऽनर्थेऽर्थाध्यवसा-वि० गु० भा०। -'स्वविषयप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन' वि० स०। "स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८९ पं० ४। "यदि च निर्विषया कथं तर्हि तदर्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती? अनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या चेत्"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० ६।

१२ "यदि वा सर्वमेवेदं क्षणिकं स्यान्न वा तथा। क्षणिकत्वेऽन्वयायोगः क्रमिज्ञानं च नान्यथा" ॥

तत्त्वसं० का० ९०६ पृ० २८९।

१३ आद्ये पक्षे भा० मा०। १४-नन्वये न त-आ० वि० गु०। १५ उक्तिरेषा तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८९ पं० १४। १६-स्य व्यवहारक्रमि-वि०।-स्य व्यवहारः क्रमि-गु०।

[ विवक्षापदार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम् ]

अन्ये त्वाहुः-"अर्थविवक्षां शब्दोऽनुमापयति" इति। यथोक्तम्—

"अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यन्न विद्यते" [ ] इति।

अत्रापि यदि परमार्थतो विवक्षा पारमार्थिकशब्दार्थविषयेष्यते तदसिद्धम्, स्वलक्षणादेः शब्दार्थस्य कस्यचिदसम्भवात्; अतो न कचिदर्थे परमार्थे विवक्षाऽस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्याभावात्। नापि तत्प्रतिपादकः शब्दः सम्भवति। यदाह—

"क वा श्रुतिः" [ तत्त्वसं० का० ९०७ ] इति।

न च विवक्षायां प्रतिपाद्यायां शब्दाद् बहिरर्थे प्रवृत्तिः प्राप्नोति, तस्याप्रेरितत्वात् अर्थान्तरवत्। न च विवक्षापरिवर्तिनो बाह्यस्य च सारूप्यादप्रेरितेऽपि तत्र ततः प्रवृत्तिर्यमलकवत्, सर्वदा बाह्ये प्रवृत्तेरयोगात् कदाचिद् विवक्षापरिवर्तिन्यपि प्रेरिते प्रवृत्तिप्रसक्तेर्यमलकयोरिव। अथ परमार्थतः स्वप्रतिभासानुभवेऽपि वक्तुरेवमध्यवसायो भवति 'मयाऽसौ बाह्य एवार्थः प्रतिपाद्यते' श्रोतुरप्येवमध्यवसायः 'ममायं बाह्यमेव प्रतिपादयति' इति; अतस्तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवदयं शाब्दो व्यवहार इति। यद्येवमस्मत्पक्ष एव समाश्रित इति कथं न सिद्धसाध्यता? शब्दस्तु लिङ्गभूतो विवक्षामनुमापयतीत्यभ्युपगम्यत एव यथा धूमोऽग्निम्।

[ वैभाषिकमतं निर्दिश्य तन्निरसनम् ]

एतेन वैभाषिकोऽपि शब्दविषयं नामाख्यमर्थचिह्नरूपं विप्रयुक्तं संस्कारमिच्छन्निरस्तः। तथाहि—तन्नामादि यदि क्षणिकं तदाऽन्वयायोगः। अक्षणिकत्वे क्रमिज्ञानानुपपत्तिः, बाह्ये च प्रवृत्त्यभावः; सारूप्यात् प्रवृत्तौ न सर्वदा बाह्य एव प्रवृत्तिः।

"अशक्यसमयो ह्यात्मा नामादीनामनन्यभाक्। तेषामतो न चान्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते"॥ [ ]

इत्यादेः सर्वस्य समानत्वात्। तदेवम् 'अशक्यसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धता। नाप्यनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वे। तत् सिद्धम् अपोहकृच्छब्द इति।

[ 'निषेधमात्रमेव अन्यापोहः' इति मत्वा कौमारिलकृतानामाक्षेपाणामुपन्यासः ]

अत्र परो निषेधमात्रमेव किलान्यापोहोऽभिप्रेत इति मन्यमानः प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यादिविरोधमुद्भावयन्नाह-

"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षे तु वर्णितः।
निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेव (सेऽव) गम्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० ९१० ]

---

१ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८९ पं० १७। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० ७। २ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८९ पं० १७। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०० द्वि० पं० ८। ३-दन्यत्र वि-हा० वि० विना।

४, "एतेनैव विवक्षाऽपि शब्दगम्या निराकृता। शब्दार्थासंभवे हीत्थं क विवक्षा क वा श्रुति."॥

तत्त्वसं० का० ९०७ पृ० २८९।

५ परमार्थवि-वि० विना। ६-ह-कदा श्रु-वा०।

७ "( सारूप्याच्च ) श्रुतेर्वृत्तिः कथं वा( ऽशब्द ) चोदिते। सारूप्या( द्यमलकव )न्नामाद्येतेन दूषितम्" ॥

तत्त्वसं० का० ९०८ पृ० २८९।

८ "विवक्षानु(मितिश्लिष्टमाकारं बाह्यभावतः। व्यवस्यतोः प्रवृत्ति)श्चेत् तदेवाऽसन्मतं पुनः" ॥

तत्त्वसं० का० ९०९ पृ० २९०।

९-नुभावे-वा० हा० वि०। १०-नुत्पत्तिः मां० मां० विना। ११ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९० पं० ८। १२-षामतो न वाक्यत्वम् मां० मा०।-षामतो नाव्यत्वम् वा० बा०। "तथा मतो न वाच्यत्वम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९० पं० ८। १३-कत्वावि-भा०, वा० बा०। १४ प्रमेयक० पृ० १२५ द्वि० पं० ४-७। "ननु ज्ञानफला. शब्दा." इत्यादि कुमारिलवचनम्' इति निर्दिष्टं सम्मतिटीकाकारेणाऽस्य निरसनावसरे। "एतेन यदुक्तं कुमारिलेन" इत्युल्लिख्य श्लोकपञ्चकमेतन्निरदेशि श्रीयशोविजयैः शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०२ प्र० पं० ५-१०। १५ "युष्माभिः कथमुच्यते"-तत्त्वसं० का० ९१० पृ० २९०। १६-भासे,व-मां० मां०।-भासैव-वा०।-"भासेऽवगम्यते"-तत्त्वसं० का० ९१०। प्रमेयक० पृ० १२५ द्वि० पं० ५।

"किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः।
विधिरूपावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्त्तते" ॥ [ तत्त्वसं० का० ९११ ]
"यदि गौरित्ययं शब्दः समर्थोऽन्यनिवर्तने।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः" ॥ [ भामहालं० परि० ६ श्लो० १७ ]
"ननु ज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवाद-'विधिज्ञानं फलमेकस्य वः कथम्'?॥ [ भामहालं० परि० ६ श्लो० १८ ]
"प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्राविणो भवेत्।
येनागोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः" ॥ [ भामहालं० परि० ६ श्लो० १९ ]

यदि गोशब्दोऽन्यव्यवच्छेदप्रतिपादनपरस्तदा तस्य तत्रैव चरितार्थत्वात् सास्नादिमति पदार्थे गोशब्दात् प्रतीतिर्न प्राप्नोति, ततश्च सास्नादिमत्पदार्थविषयाया गोबुद्धेर्जनकोऽन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः। अथैकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्य जन्यमानत्वान्नापरो ध्वनिर्मृग्यः, नैकस्य विधिकारिणः प्रतिषेधकारिणो वा शब्दस्य युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणं फलमुपलभ्यते, नापि परस्परविरुद्धमपवादविधिज्ञानं फलं युक्तम्; यदि च गोशब्देनागोनिवृत्तिर्मुख्यतः प्रतिपाद्यते तदा गोशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमं 'अगौः' इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत्। यत्रैव ह्यव्यवधानेन शब्दात् प्रत्यय उपजायते स एव शाब्दोऽर्थः; न चाव्यवधानेनागोव्यवच्छेदे मतिः, अतो गोबुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् प्रथमतरमगोप्रतीतिप्रसङ्गाच्च नापोहः शब्दार्थः।

अपि च, अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं कदाचित् पर्युदासलक्षणं वाऽभिधीयेत, प्रसज्यलक्षणं वा? तत्र प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः, अस्माभिरपि गोत्वाख्यं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभ्युपगम्यमानत्वात्–यदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवता तदेवाऽस्माभिर्भावलक्षणं सामान्यं तद्वाच्यमभिधीयते, अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन स्थितत्वात्। तदुक्तम्–

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते" [श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० २]
"नास्तिता वा (स्तिता) पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्।
गवि योऽश्वाद्यभावश्च सोऽन्योन्याभाव उच्यते" ॥
"शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धि-काठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते" ॥ [श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ३-४]
"न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनाऽस्य वस्तुता (वस्तुता)"। [ श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ८ ]

एतेन क्षीरादय एव दध्यादिरूपेण अविद्यमानाः प्रागभावादिव्यपदेशभाज इत्युक्तं भवति।

---

१ "वृक्षश्वे(त्या)दिशब्दत"–तत्त्वसं० का० ९११। २ "'यदि गौ' इत्यादिना श्लोकत्रयेण भामहस्य मतेन प्रतीत्यादिबाधामुद्भावयति"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९१ पं० ८। "यदि गौ(रिति शब्दोऽयं भवेद)न्यनिराकृतौ"–तत्त्वसं० का० ९१२। "यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ"–भामहालं० परि० ६ श्लो० १७। ३ "गोबुद्धेर्दृश्यतामपरो ध्वनि."–तत्त्वसं० का० ९१२। ४ "न तु ज्ञानफला (शब्दा न चैकस्य फलद्व)यम्"–तत्त्वसं० का० ९१३। "अर्थज्ञानफला. शब्दा"–भामहालं० परि० ६ श्लो० १८। ५–विधिर्ज्ञान–भा० मा०। "विधिज्ञाने फले चैकस्य"–भामहालं० परि० ६ श्लो० १८। "विधि(ज्ञानं फलमेकस्य वा कथम्)"–तत्त्वसं० का० ९१३। ६–शब्दश्रावणो वि०।–शब्दश्रवणाद् भा० का०। "पुरा(ऽ)गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत्"–भामहालं० परि० ६ श्लो० १९। तत्त्वसं० का० ९१४। ७–नागौप्रति–भा० कां०। "येनागोप्रतिषेधाय"–भामहालं० परि० ६ श्लो० १९। ८–च शब्दोर्थः भां० मा० विना।

९ "अगोनिवृत्ति सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्" ॥ श्लो० वा० अपो० श्लो० १। तत्त्वसं० का० ९१५ पृ० २९२।

१० "भावान्तरमभावो हि पुरस्तात् प्रतिपादित."। श्लो० वा० अपो० श्लो० २। तत्त्वसं० का० ९१६ पृ० २९२।

११ तत्त्वसं० का० १६५१–१६५२–१६५३–१६५५ पृ० ४७१–४७२। तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९२ पं० १४-१७।

१२ "नास्तिता"–श्लो० वा० पृ० ४७३ पं० ७। तत्त्वसं० का० १६५१ पृ० ४७१।

अगोनिवृत्तिश्चान्योन्याभावः तस्या अश्वादिव्यवच्छेदरूपत्वात्, तस्मात् [1]सा वस्तु। तत्रैवमभावस्य भावान्तरात्मकत्वे कोऽयं भवद्भिरश्वादिनिवृत्तिस्[2]वभावोऽभावोऽभिप्रेत [3]इति।

अथ गवादिस्वलक्षणात्मैवासौ, न; तत्र सर्वविकल्पप्र[4]त्ययास्तमयात् (प्रत्यस्तमयात्) विकल्पज्ञानगोचरः सामान्यमेवेष्यते, असाधारणस्त्वर्थः सर्वविकल्पानामगोचरः। यथोक्तम्—

"स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः"। [ ] इति।

[5]यथैव हि भवतामसाधारणो विशेषोऽश्वादिनि[7]वृत्त्यात्मा गोशब्दाभिधेयो नेष्टस्तथैव [8]शावलेयादिः शब्दवाच्यतया नेष्टः, असामान्यप्रसङ्गतः। यदि हि गोशब्दः शावलेयादिवाचकः स्यात् तदा तस्यानन्वयान्न सामान्यविषयः स्यात्; यतश्चाश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावोऽसाधारणो न घटते [9]तस्मात् सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यत् प्रत्येकं परिसमाप्तं तन्निबन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम् [10]तस्यागोऽपोहशब्देनाभिधानात् केवलं नामान्तरमिति सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः।

तथाऽऽह कुमारिलः—

"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
[11]गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्[12]"॥ [ श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ १ ]
"[13]भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्माऽभावः क इति कथ्यताम्[14]?"॥ [ श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ २ ]
[15]"नेष्टोऽसाधारणस्[16]तावद् विशेषो निर्विकल्पनात्।
तथा च [17]शावलेयादिरसामान्यप्रसङ्गतः[18]"॥ [ श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ३ ]
"तस्मात् सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम्।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत्[19]"॥ [श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ १०]

अथ प्रसज्यलक्षणमिति पक्षस्तदा पुनरप्यगोऽपोहलक्षणाभावस्वरूपा शून्यता गोशब्दवाच्[20]या प्रसक्ता वस्[21]तुस्वरूपापह्नवात्, तत्र [22]च शाब्दबुद्धीनां स्वांशग्रहणं प्रसक्तम् बाह्यवस्तुरूपाग्रहात्; तत-

---

१ स व–आ॰ हा॰ वि॰। २ स्वभावोऽभि–आ॰ वि॰।

३ "तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा भाव. क इति कथ्यताम्"॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ २। तत्त्वसं॰ का॰ ९१६ पृ॰ २९२।

४–त्ययास्तमयात् का॰।–त्ययमयात् वा॰ बा॰। "तत्र सर्वविकल्पप्रत्यस्तमयात् विकल्पज्ञानगोचर."–तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २९२ पं॰ २८।

५ तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २९३ पं॰ २।

६ "नेष्टोऽसाधारणस्तावद् विषयो निर्विकल्पनात्। तथा च शावलेयादेरसामान्यप्रसङ्गतः" ॥ श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ३।
"(नेष्टोऽसाधारणात्मा वो) विशेषो निर्विकल्पनात्। तथा च शावलेयादिरसामान्यप्रसङ्गत."॥ तत्त्वसं॰ का॰ ९१७ पृ॰ २९२।

७–वृत्तात्मा भां॰ मां॰। ८ "शावलेयादिशब्दवाच्यतया"–तत्त्वसं॰ पञ्जि॰ पृ॰ २९३ पं॰ ६।

९ "तस्मात् सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम्। गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत्" ॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ १०। तत्त्वसं॰ का॰ ९१८ पृ॰ २९२।

१० तस्य गो–आ॰ वि॰ कां॰। ११ गोत्वव–भां॰ मा॰। १२ तत्त्वसं॰ का॰ ९१५ पृ॰ २९२। १३ "भावान्तरमभावो हि"–श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ २। १४ तत्त्वसं॰ का॰ ९१६ पृ॰ २९२। १५ "( नेष्टोऽसाधारणात्मा वो ) वि"–तत्त्वसं॰ का॰ ९१७ पृ॰ २९२। १६–"स्तावद् विषयो निर्वि"–श्लो॰ वा॰ पृ॰ ५६६ पं॰ ७। १७ "शावलेयादेर"–श्लो॰ वा॰ पृ॰ ५६६ पं॰ ८। १८ तत्त्वसं॰ का॰ ९१७ पृ॰ २९२। १९ तत्त्वसं॰ का॰ ९१८ पृ॰ २९२। २०–च्याऽथ प्र–भां॰ मां॰। २१–स्तुरूपा–भां॰ मां॰ वा॰ बा॰।

"निषेधमात्ररूपश्च शब्दार्थो ( र्थो ) यदि कल्पते। अभावशब्द ( वाच्या स्याच्छून्यताऽन्यप्रकारिका )"॥
तत्त्वसं॰ का॰ ९१९ पृ॰ २९३।

"अपोहशब्दवाच्याऽथ शून्यताऽन्यप्रकारिका" ॥ श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ३६। २२ च शब्दे बु–आ॰ कां॰ हा॰। च शब्दबु–वि॰।

"तस्या चाश्वादिबुद्धीनामात्मांशग्रहणं भवेत्। तत्रान्यापोहवाच्यत्वं मुधैवाऽभ्युपगम्यते" ॥

"सामान्यं वस्तुरूपं हि बुद्ध्याकारो भविष्यति। शब्दार्थोऽर्थानपेक्षो हि वृथाऽपोहः प्रकल्पितः" ॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ३७–३८। तत्त्वसं॰ का॰ ९२०–९२१ पृ॰ २९३।

श्चापोहस्य वाच्यत्वं मुधैवाभ्युपगतं परेण बुद्ध्याकारस्याम(न)पेक्षितबाह्यार्थालम्बनस्य विधिरूपस्यैव शब्दार्थत्वापत्तेः। इत्यभ्युपगमबाधा प्रतिज्ञायाः परस्य।

अथ बुद्ध्याकारालम्बनाऽपि सा बुद्धिर्विजातीयाऽगवा(यगवा)दिबुद्धिभ्यो व्यावृत्तरूपा प्रवर्तते तेनापोहकल्पना युक्तैव, असदेतत्; यतो यद्यपि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छिन्ना तथापि सा न बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदावसायिनी जायते, किं तर्हि? अश्वादिष्वर्थेषु विधिरूपाऽध्यवसायिनी, तेन वस्त्वेव विधिरूपं वाच्यं कल्पयितुं युक्तिमत् नापोहः, बुद्ध्यन्तरस्य बुद्ध्यन्तरानपोहकत्वात्। किञ्च, योऽयं भवद्भिरपोहः पदार्थत्वेन कल्पितः स वाक्यादपोद्धृत्य कल्पितस्य पदस्यार्थः इष्टः—वाक्यार्थस्तु प्रतिभालक्षण एव। यथोक्तम्–

"[6]अपोद्धारपदस्यायं वाक्यादर्थो विवेचितः।
वाक्यार्थः प्रतिभाख्योऽयं तेनादावुपजन्यते" ॥ [ ] इति,

—स चायुक्तः; शब्दार्थस्य विधिरूपताप्रसक्तेः, तथापि बाह्येऽर्थे शब्दवाच्यत्वेनासत्यपि वाक्यार्थो भवद्भिः प्रतिभालक्षण एव वर्ण्यते नापोहस्तदा पदार्थोऽपि वाक्यार्थवत् प्रतिभालक्षण एव प्रसक्त इति द्वयोरपि पद-वाक्यार्थयोर्विधिरूपत्वम्। अथ प्रतिभायाः प्रतिभान्तराद् विजातीयाद् व्यवच्छेदोऽस्तीत्यपोहरूपता, न सम्यगेतत्; यतो यद्यपि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यावृत्तिरस्ति तथापि न च तत्र शब्दव्यापारः। तथाहि–शब्दादसावुत्पद्यमाना न स्वरूपोत्पादव्यतिरेकेणान्यं बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदलक्षणं शब्दादवसीयमानमंशं बिभ्राणा लक्ष्यते किं तर्हि? विधिरूपावसायिन्येवोत्पत्तिमती। न च शब्दादनवसीयमानो वस्त्वंशः शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गादिति प्रतीतिबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः।

अपि च, "[12]ये भिन्नसामान्यवचना गवादयः, ये च विशेषवचनाः शाबलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति, अर्थभेदाभावात्, [13]वृक्ष-पादपादिशब्दवत्। [14]सं च अवस्तुत्वात्, [15]वस्तुन्येव हि "[16]संसृष्टत्व-एकत्व-नानात्वादिविकल्पाः सम्भवन्ति, नावस्तुन्येवापोहा[17]ये परस्परं संसृष्टतादिविकल्पो युक्त इति कथमेषां भेदः? तदभ्युपगमे वा नियमेन वस्तुत्वापत्तिः। तथाहि–'ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपाः, यथा स्वलक्षणानि, परस्परं भिद्यन्ते चापोहाः' इति स्वभावहेतुः, इति विधिरेव शब्दार्थः। एतेनानुमानबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः प्रतिपादितम्।

अथावस्तुत्वमभ्युपगम्यतेऽपोहानां तदा नानात्वाभावात् पर्यायत्वप्रसङ्गः इत्येकान्त एषः।

---

१ "बुद्ध्याकारस्यानपेक्षितबाह्यार्थावलम्बनस्य"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९३ पं० २४। २ बुद्ध्यालम्ब–भां० मां० वा० बा० विना। ३ "बुद्धिर्विजातीयगवादिबुद्धिभ्यो व्यावृत्तरूपा"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९४ पं० १।

४ "वस्तुरूपा च सा बुद्धि शब्दार्थेषूपजायते। तेन वस्त्वेव कल्प्येत वाच्यं बुद्ध्यनपोहकम्" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ३९। तत्त्वसं० का० ९२२ पृ० २९४।

५–भासल–भा० वि० कां० गु०। ६ "अपोद्धारे"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९४ पं० १७।

७ "असत्यपि च बाह्येऽर्थे वाक्यार्थप्रतिभा यथा। पदार्थोऽपि तथैव स्यात् किमपोहः प्रकल्प्यते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ४०। तत्त्वसं० का० ९२३ पृ० २९४।

८–हस्तथा प–भां० मां०। "नापोहलक्षणस्तथा पदार्थोऽपि"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९४ पं० २३।

९ "बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न च बुद्धेः प्रतीयते। स्वरूपोत्पादमात्राच्च नान्यमंशं बिभर्ति सा" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ४१। तत्त्वसं० का० ९२४ पृ० २९४।

१०–पि न तत्र भा० कां०। "तथापि तस्यां न शब्दव्यापारोऽस्ति"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९५ पं० ३। ११ लक्ष्यते वा०।

१२ "भिन्नसामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये। सर्वे भवेयुः पर्याया यद्यपोहस्य वाच्यता" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ४२। तत्त्वसं० का० ९२५ पृ० २९५।

१३ "वृक्ष-पादपादिशब्दवत्। वस्तुन्येव हि संसृष्ट"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९५ पं० १२–१६। १४ अर्थभेदाभावश्च।

१५ "संसृष्टैकत्वनानात्वविकल्परहितात्मनाम्। अवस्तुत्वादपोहानां तव स्याद् भिन्नता कथम्"? ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ४५। तत्त्वसं० का० ९२६ पृ० २९५।

१६ संस्पृष्टत्व–भा० वि० का० गु०। १७–ये परस्परसं–वा० बा०। –ये परसं–भा० वि० कां० गु०।

१८ "यदि वा भिद्यमानत्वाद् वस्तुसाधारणांशवत्। अवस्तुत्वे त्वनानात्वात् पर्यायत्वान्न मुच्यते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ४६। तत्त्वसं० का० ९२७ पृ० २९५।

१९ प्र० पृ० पं० ११।

न चापोह्यभेदात् स्वतो भेदाभावेऽपि तस्य भेदादपर्यायत्वम्, स्वतस्तस्य नानात्वाभावेऽभावैकरूपत्वात् परतोऽप्यसौ भवन् काल्पनिकः स्यात्; न हि स्वतोऽसतो भेदस्य परतः सम्भवो युक्तः। यथा हि संसर्गिणः शावलेयादयः आधारतयाऽन्तरङ्गा अपि तं स्वरूपतो भेत्तुमशक्ताः—बहुष्वपि शावलेयादिष्वेकस्यागोव्यवच्छेदलक्षणस्यापोहस्य तैरभ्युपगमात्—तथा बहिरङ्गभूतैरश्वादिभिरपोह्यैरसौ भिद्यत इत्यपि साहसम्। न हि यस्यान्तरङ्गोऽप्यर्थो न भेदकस्तस्य बहिरङ्गो भविष्यति बहिरङ्गत्वहानिप्रसङ्गात्।

अथान्तरङ्गा एवाधारास्तस्य भेदकाः, असदेतत्; अवस्तुनः सम्बन्धिभेदाद् भेदानुपपत्तेः, वस्तुन्यपि हि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते किमुतावस्तुनि निःस्वभावे (तथाहि-देवदत्तादिकमेकमपि) वस्तु युगपत् क्रमेण वाऽनेके(कै)रासनादिभिर(रभि)सम्बध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते किं पुनर्यदन्यव्यावृत्तिरूपमवस्तु, तत्त्वादेव च क्वचिद-सम्बद्धं विजातीयेभ्याऽव्यावृत्तम् अत एवानधिगतविशेषांशं तादृशं सम्बन्धिभेदादपि कथमिव भेदमश्नुवीत? किञ्च, भवतु नाम सम्बन्धिभेदाद् भेदस्तथापि वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवतां स एवापोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात् तद्भेदोऽवकल्प्यते। तथाहि-यदि गवादीनां वस्तुभूतं सारूप्यं प्रसिद्धं भवेत् तदाऽश्वाद्यपोहाश्रयत्वमेषामविशेषेण सिद्ध्येत (त्) नान्यथा, अतोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छताऽवश्यं सारूप्यमङ्गीकर्तव्यम्, तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दवाच्यं भविष्यतीत्यपोहकल्पना व्यर्थैव।

अपोह्यभेदेनापोहभेदोऽपि वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण न सिद्धिमासादयति। तथाहि-यद्यश्वादीनामेकः कश्चित् सर्वव्यक्तिसाधारणो धर्मोऽनुगामी स्यात् तदा ते सर्वे गवादिशब्दैरविशेषेणापोह्येरन् नान्यथा, विशेषापरिज्ञानात्। साधारणधर्माभ्युपगमे चापोहकल्पनावैयर्थ्यम्।

अपि च, अपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यामेव प्रतिपाद्यत इति भवद्भिरिष्यते, शब्द-लिङ्गयोश्च वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण प्रवृत्तिरनुपपन्नेति नातोऽपोहप्रतिपत्तिः। तथाहि-अनुगतवस्तुव्यतिरेकेण न

---

१ "ननु चापोह्यभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति। न विशेषः स्वतस्त्वस्य परतश्चौपचारिकः"॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ४७। तत्त्वसं० का० ९२८ पृ० २९६।

२ स्वतस्य आ० वा०।

३ "संसर्गिणोऽपि चाधारा यं न भिन्दन्ति रूपतः। अपोह्यैः स बहिर्भूतैर्भिद्यतेत्यतिकल्पना॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ५२। तत्त्वसं० का० ९२९ पृ० २९६।

४ इत्यभि(ति)सा वा० वा०। "इत्यतिसाहसम्"-प्रमेयक० पृ० १२६ प्र० पं० ८।

५ "तेनैवाऽऽधारभेदेनाप्यस्य भेदो न युज्यते। न हि सम्बन्धिभेदेन भेदो वस्तुन्यपीष्यते"॥

"किमुताऽवस्त्वसंसृष्टमन्यतथाऽनिवर्तितम्। अनवाप्तविशेषांशं यत् किमप्यनिरूपितम्"॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ४८-४९। तत्त्वसं० का० ९३०-९३१ पृ० २९६।

६ नोपलभ्यते किं पुनर्यदन्य-वा० वा० विना०। ७ "किमुताऽवस्तुनि। तथाहि-देवदत्तादिकमेकमेव वस्तु युगपत् क्रमेण वाऽनेकैराभरणादिभिरभिसंबध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते"-प्रमेयक० पृ० १२६ प्र० पं० ९। तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९६ पं० २७-२८। ८-मवस्तुत्वा-आ० हा० वि० कां० गु०। ९-याद्याव्रृत्तम् वा० वा०। १०-ति तस्य वा० वा०। ११-कल्पते वा० वा०। १२ यथा ग-भां० मां० वा० वा० विना।

"न चाप्रसिद्धसारूप्याऽनपोह्यविषयात्मना। शक्यः कश्चिदपि ज्ञातुं गवादीनविशेषतः"॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ७१। तत्त्वसं० का० ९३२ पृ० २९७।

१३-भूतं शब्दसारू-भां० मां०। १४ "विषयशब्दोऽत्राश्रयवचनः, जलविषया मत्स्या इति यथा"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९७ पं० १३। १५-ना व्यर्थिता भां० मां०।-ना व्यर्थिका आ० वि० कां० गु०।

१६ "अपोह्यानपि चाश्वादीनेकधर्मान्वयादृते। न निरूपयितुं शक्तिस्तत्राऽपोहो न सिध्यति"॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ७२। तत्त्वसं० का० ९३३ पृ० २९७।

१७-पन्नेति नानापोह-आ० कां०।-पन्नेति नापोह-गु० मां०।

१८ "न चान्वयविनिर्मुक्ता प्रवृत्तिर्लिङ्ग-शब्दयोः। ताभ्यां च न विनाऽपोहो न चाऽसाधारणेऽन्वयः"॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ७३। तत्त्वसं० का० ९३४ पृ० २९७।

१९-ण च भां० मां०।

शब्दलिङ्गाभ्यां (न शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिः, न च शब्द-लिङ्गाभ्यां) विनाऽपोहप्रतिपत्तिः. न[1] चासाधारणस्यान्वयः, तदेवमपोहकल्पनायां शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिरेव न प्राप्नोतिः प्रवृत्तौ वा प्रामाण्यमभ्युपगतं हीयेत। तथाहि—[2]प्रतिपाद्यार्थाव्यभिचारित्वं तयोः प्रामाण्यम्. अपोहश्च प्रतिपाद्यत्वेन भवताऽभ्युपगम्यमानोऽभावरूपत्वान्निःस्वभाव इति क्व तयोरव्यभिचारित्वम्? न च [3]विजातीयादर्शनमात्रेणैव[4] शब्द-लिङ्गे अगृहीतसाहचर्ये एव स्वमर्थं गमयिष्यतः, विजातीयादर्शनमात्रेण गमकत्वाभ्युपगमे [5]स्वार्थः परार्थ इति विशेषानुपपत्तेः तथा च स्वार्थमपि न गमयेत् तत्र अदृष्टत्वात् परार्थवत्। तदेवं शब्द-लिङ्गयोरप्रामाण्याभ्युपगमप्रसङ्गान्नापोहः शब्दार्थो युक्तः।

यदि वा असत्यपि सारूप्ये शावलेयादिष्वगोऽपोहकल्पना तदा गवाश्वस्यापि[6] कस्मान्न [7]कल्प्येतासौ अविशेषात्। तदुक्तं कुमारिलेन—

"अथासत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना।
गवाश्वयोरयं कस्मादगोपोहो न कल्प्यते" ॥ [ श्लो० वा० अपो० श्लो० ७६ ]

'गवाश्वयोः' इति "गवाश्वप्रभृतीनि च[8]" [ पाणि०-२-४-११ सिद्धान्तकौ० पृ० २०४ ] इत्येकवद्भावलक्षणासरणादुक्तम्। अविशेषप्रतिपादनार्थं स एव पुनरप्युक्तवान्—

"शावलेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः समम्।
सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् क्वागोऽपोहः प्रवर्त्तताम्[10]" ? ॥ [श्लो० वा० अपो० श्लो० ७७]

यथैव हि शावलेयाद् वैलक्षण्यादश्वे न प्रवर्त्तते तथा बाहुलेयस्यापि ततो वैलक्षण्यमस्तीति न तत्राप्यसौ [11]प्रवर्त्तेत, एवं शावलेयादिष्वपि योज्यम्, सर्वत्र [12]वैलक्षण्याविशेषात्।

अपि च, [12]यथा स्वलक्षणादिषु समयासम्भवान्न शब्दार्थत्वम् तथाऽपोहेऽपि। तथाहि–निश्चि[13]तार्थो हि समयकृत् समयं करोतिः न चापोहः केनचिदिन्द्रिये[14]णाध्यवसीयते. व्यवहारात्[15] पूर्वं तस्यावस्तुत्वात् इन्द्रियाणां च वस्तुविषयत्वात्। न चान्यव्यावृत्तं स्वलक्षणमुपलभ्य शब्दः प्रयोक्ष्यते, अन्यापोहादन्यत्र शब्दवृत्तेः प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्। [16]नाप्यनुमानेनापोहाध्यवसायः,

"न चान्वयविनिर्मुक्ता प्रवृत्तिः शब्द-लिङ्गयोः"

[16]इत्यादिना तत्प्रतिषेधस्य तत्रोक्तत्वात्। तस्मात् 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमपोहेन, अकृतसमयत्वेऽप्यपोहे शब्दप्रवृत्त्यभ्युपगमात्।

इतश्चा[17]पोहे सङ्केतासम्भवः अतिप्रसक्तेः। तथाहि–[18]कथमश्वादीनां गोशब्दानभिधेयत्वम्?

---

१ न चासा–भा० मां०।

२ "अपोहश्चाप्यनिष्पन्नः साहचर्यं क्व दृश्यताम्। तस्मिन्नदृश्यमाने च न तयोः स्यात् प्रमाणता" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ७४। तत्त्वसं० का० ९३५ पृ० २९८।

३ "न चाऽदर्शनमात्रेण ताभ्यां प्रत्यायनं भवेत्। सर्वत्रैव ह्यदृष्टत्वात् प्रत्याय्यं नावशिष्यते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ७५। तत्त्वसं० का० ९३६ पृ० २९८।

४–त्रयेण ए–वा० बा०। ५ स्वार्थं इति वा० बा०। ६–स्यापि कस्यापि कस्मा–भा० मां०। ७ कल्पेता–वा० बा० विना। ८ तत्त्वसं० का० ९३७ पृ० २९८। ९ "गवाश्वादिः" हैम० ३–१–१४४। १० तत्त्वसं० ९३८ पृ० २९९। ११ प्रवर्तेत ए–भा० वि० मां० पु० वा० बा०। १२ आप्तपा० स्याद्वादम० पृ० अ० ४०३ प्र० पं० ११।

१३ "इन्द्रियेणान्यगोपोहः प्रथमं व्यवसीयते। नान्यत्र शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम्" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ७८। तत्त्वसं० का० ९३९ पृ० २९९।

१४ "संज्ञासंज्ञिसंबन्धकाले"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९९ पं० १३।

१५ "पूर्वोक्तेन प्रबन्धेन नानुमाऽप्यत्र विद्यते। संबन्धानुभवोऽप्यस्य तेन नैवोपपद्यते ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ७९। तत्त्वसं० का० ९४० पृ० २९९।

१६ पृ० १८९ पं० २१ तथा ४२। १७–श्चापोहसं–वा० बा० विना।

१८ "अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः। न दृष्टो यत्र गोशब्दः संबन्धानुभवक्षणे" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८१। तत्त्वसं० का० ९४१ पृ० २९९।

सम्बन्धानुभवक्षणेऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनादृष्टेरिति चेत्, असदेतत्; यतो यदि[1] यद् गोशब्दसङ्केतकाले उपलब्धं ततोऽन्यत्र गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते तदैकस्मात् सङ्केतेन विषयीकृताच्छाबलेयादिकाद् गोपिण्डादन्यद् बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्यं भवेत्, ततश्च सामान्यं वाच्यमित्येतन्न सिद्ध्येत्। इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेश्चापोहे सङ्केतोऽशक्यक्रियः। तथाहि[2]-अगोव्यवच्छेदेन गोः प्रतिपत्तिः, स चागौर्गोनिषेधात्मा; ततश्च 'अगोः' इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्यः यो 'न गौरगौः' इत्यत्र नञा प्रतिषिध्येत, न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधः शक्यते विधातुम्। अथापि स्यात् किमत्र वक्तव्यम्-अगोनिवृत्त्यात्मा गौः, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वाद् गोरगोप्रतिपत्तिद्वारेणैव प्रतीतिः, अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद् गोप्रतिपत्तिद्वारिकैव प्रतीतिरिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम्।

अथाप्यगोशब्देन यो गौर्निषिध्यते[5] स विधिरूप एव अगोव्यवच्छेदमल(दल)क्षणापोहसिद्ध्यर्थम्[6] तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्यति। यद्येवं[7] 'सर्वस्य शब्दस्यापोहार्थः'[8] इत्येवमपोहकल्पना वृथा, विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात्[9]। अतः (अतो न) कश्चिद् विधिरूपः शब्दार्थः प्रसिद्धोऽङ्गीकर्तव्यः; तदनङ्गीकरणे चेतरेतराश्रयदोषो दुर्निवारः। तदुक्तम्—

"सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते"[10]॥
"स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योऽन्यसंश्रयः।
सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं वृथाऽपोहप्रकल्पनम्"[11]॥
"गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति[12] तदभावेऽपि गौः कुतः।"[13]

[श्लो० वा० अपो० श्लो० ८३-८४-८५] इति।

"नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः" [ ] इत्याचार्यदिङ्नागेन[14] "विशेष्यविशेषणभावसमर्थनार्थं[15] यदुक्तं तदयुक्तमिति दर्शयन्नाह भट्टः—

"नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयोः"[16]॥ [श्लो० वा० अपो० श्लो० ८५]

यस्य हि येन सह कश्चिद् वास्तवः सम्बन्धः सिद्धो भवेत् तत् तेन विशिष्टमिति युक्तं वक्तुम्। न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयादिः सम्बन्धः सम्भवति, [17]नीरूपत्वात्। आदिग्रहणेन[18] संयोगसमवायैकार्थसमवायादिसम्बन्धग्रहणम्। न चासति वास्तवे सम्बन्धे तद्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। अथापि स्यात् नैवास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदोऽभिमतः यतोऽयं दोषः स्यात्; किं तर्हि? अनीलानुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथाव्यवस्थितं तदर्थान्तरनिवृत्त्या[19] विशिष्टं शब्देनोच्यत इत्ययमर्थोऽत्राभिप्रेतः, असदेतत्;

---

१ "एकस्मात् तर्हि गोपिण्डाद् यदन्यत् सर्वमेव तत्। भवेदपोह्यमित्येवं न सामान्यस्य वाच्यता" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८२। तत्त्वसं० का० ९४२ पृ० ३००।

२-हि अगोशब्देन छेदेन गोः वा० बा०।

३ "सिद्धश्चाऽगौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च स। तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८३। तत्त्वसं० का० ९४३ पृ० ३००।

४ "स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः। सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं वृथाऽपोहप्रकल्पना" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८४। तत्त्वसं० का० ९४४ पृ० ३००।

५ "गौर्निषेध्यते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०० पं० २१। ६ 'अगोव्यवच्छेदलक्षणापोह'-वि०सं०। "अगोव्यवच्छेदलक्षणापोहसिद्ध्यर्थम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०० पं० २२। ७ "यद्येवं सर्वस्य शब्दस्यापोहोऽर्थ इत्येवमपोहकल्पनं वृथा"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०० प० २३। प्रमेयक० पृ० १२६ द्वि० पं० ८-९। ८-हार्थमित्येव-वा० बा० गु० मा० विना। ९ "भावात् तस्मान्न कश्चिद् विधिरूपः शब्दार्थः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०० पं० २४। १० तत्त्वसं० का० ९४३ पृ० ३००। ११ तत्त्वसं० का० ९४४ पृ० ३००। १२ तदभावेऽप्यगौ कुतः"-प्रमेयक० पृ० १२६ द्वि० पं० ११। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ द्वि० पं० १०। १३ तत्त्वसं० का० ९४५ पृ० ३००। १४ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०१ पं० २। प्रमेयक० पृ० १२६ द्वि० पं० ११। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ द्वि० पं० ११। १५ विशिष्यवि-मां० मा०। १६ तत्त्वसं० का० ९४५ पृ० ३००। १७ नीलरूपत्वात् वा० बा० विना०। १८ प्र० पृ० पं० २१। १९ तदार्थो-वा० बा०। "तच्चार्थान्तरव्यावृत्त्या"-प्रमेयक० पृ० १२७ प्र० पं० ३। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ द्वि० पं० १३।

स्वलक्षणस्यावाच्यत्वात् तत्पक्षभाविदोषप्रसङ्गाच्च । न च स्वलक्षणस्यान्यनिवृत्त्या विशिष्टत्वं [2]सा(सि)ध्यति यतो न वस्त्वपोहः, असाधारणं तु वस्तु । न च वस्त्ववस्तुनोः सम्बन्धो युक्तः, वस्तुद्वयाधारत्वात् तस्य ।

भवतु वा सम्बन्धस्तथापि विशेषणत्वमपोहस्यायुक्तम्; न हि [3]सत्तामात्रेणोत्पलादीनां नीलादि विशेषणं भवति, किं तर्हि ? ज्ञातं सद् यत् स्वाकारानुरक्तया बुद्ध्या विशेष्यं रञ्जयति तद् विशेषणम्, न चापोहेऽयं प्रकारः सम्भवति, न ह्यश्वादिबुद्ध्याऽपोहोऽध्यवसीयते, किं तर्हि ? वस्त्वेव, अतोऽपोहस्य बोधासम्भवाद् न तेन स्वबुद्ध्या रज्यतेऽश्वादि । न चाज्ञातोऽप्यपोहो विशेषणं भवति, न ह्यगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायमाना दृष्टा, भवतु वाऽपोहज्ञानम् तथापि वस्तुनि तदाकारबुद्ध्यभावात् तस्य तद्विशेषणत्वमयुक्तम्, सर्वमेव हि विशेषणं [8]स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धिं जनयद् दृष्टम्, न त्वन्यादृशं विशेषणमन्यादृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति; न हि नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति; न चात्राश्वादिष्व[9]भावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते, किं तर्हि ? भावाकाराध्यवसायिनी । [10]यदि पुनर्विशेषणा[11]ननुरूपतयाऽन्यथा व्यवस्थितेऽपि विशेष्ये साध्वी विशेषणकल्पना तथासति सर्वमेव नीलादि सर्वस्य विशेषणमित्यव्यवस्था स्यात् । [12]नाप्यपोहेनापि स्वबुद्ध्या विशेष्यं वस्त्वनुरज्यते इति वक्तव्यम्, तथाऽभ्युपगमे अभावरूपेण वस्तुनः प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात् भावाभावयोर्विरोधात् । एतदेवाह—

[13]"न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽपोहवत्तया ।
[14]कथं वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनोः ॥"
"स्वरूपसत्त्वमात्रेण न स्यात् किञ्चिद् विशेषणम् ।
स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद् विशेषणम् ॥"
"न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेऽपोहबोधनम् ।
विशेष्यबुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥"
"न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज् ज्ञानं विशेषणम् ।
कथं चान्यादृशे ज्ञाने तदुच्येत विशेषणम् ॥"

---

१ " न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽपोहवत्तया । कथं वा परिकल्प्येत संबन्धो वस्त्ववस्तुनो " ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८६ । तत्त्वसं० का० ५४६ पृ० ३०१ ।
२ "सिध्यति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०१ पं० १६ ।
३ "स्वरूपसत्त्वमात्रेण न च किञ्चिद् विशेषणम् । स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद् विशेषणम्" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८७ । तत्त्वसं० का० ५४७ पृ० ३०१ ।
४ रक्तत्तु-वि० मु० ।
५ "न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेऽपोहबोधनम् । विशेष्यबुद्धिरिष्टेह न चाऽज्ञातविशेषणा" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८८ । तत्त्वस का० ५४८ पृ० ३०१ ।
६-हो ध्यव-वा० बा० ।
७ "न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्यान् ज्ञानं विशेषणम् । कथं चाऽन्यादृशे ज्ञाते तदुच्येत विशेषणम्" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ८९ । तत्त्वस० का० ५४९ पृ० ३०१ ।
८ "स्वाकारानुरूपं विशेष्ये"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०२ पं० ९ ।
९-भावात् रक्ता वि० विना ।
१० "अथाऽन्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना । तथासति हि यत् किञ्चित् प्रसज्येत विशेषणम्" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९० । तत्त्वस० का० ५५० पृ० ३०२ ।
११-णानुरूप-वा० बा० ।
१२ "अभावरूपगम्ये च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता । विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्वतः" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९१ । तत्त्वस० का० ५५१ पृ० ३०२ ।
१३ इत श्लोकषट्कमेतत् प्रमेयक० पृ० १२७ प्र० पं० १० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०४ प्र० पं० ४-९ ।
१४ अनुक्रमेण तत्त्वसं० का० ५४६-५४७-५४८-५४९-५५०-५५१ पृ० ३०१-३०२ ।
१५ कथं वान्या-वा० बा० ।

"अथान्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना ।
तथासति हि यत् किञ्चित् प्रसज्येत विशेषणम्" ॥
"अभावगम्यरूपे च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः" ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ८६-८७-८८-८९-९०-९१ ] इति ।

अथान्यव्यावृत्ते एव वस्तुनि शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिर्दृश्यते नापोहरहिते अतोऽपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यत इत्यभिधीयते न प्रसज्यप्रतिषेधमात्रप्रतिपादनात् अत एव न प्रतीत्यादिविरोधोद्भावनं युक्तम्, असदेतत्; यतो यदि नाम तद् वस्त्वन्यतो व्यावृत्तं तथापि तत्रोत्पद्यमानः शब्द-लिङ्गोद्भवो बोधोऽन्यव्यावृत्तिं सतीमपि नावलम्बते, किं तर्हि? वस्त्वंशमेवाभिधावति, तत्रैवानुरागात् । य एव चांशो वस्तुनः शाब्देन लैङ्गिकेन वा प्रत्ययेनावसीयते स एव तस्य विषयः नानवसीयमानः सन्नपि; न हि मालतीशब्दस्य गन्धादयो विद्यमानतया वाच्या व्यवस्थाप्यन्ते । नैचाप्येतदु(यु)क्तम् यद् अन्यव्यावृत्ते वस्तुनि शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिः, यतोऽन्यव्यावृत्तं वस्तु भवतां मतेन स्वलक्षणमेव भवेत् न च तत् शब्द-लिङ्गजायां बुद्धौ विपरिवर्त्तत इति, तस्य निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वात् भवदभिप्रायेण शब्द-लिङ्गजबुद्धेश्च सामान्यविषयत्वात् । न चासाधारणं वस्तु शाब्द-लिङ्गजप्रत्ययाधिगम्यम्, तत्र विकल्पानां प्रत्यस्तमयात् । तथाहि—विकल्पो जात्यादिविशेषणसंस्पर्शेनैव प्रवर्त्तते न शुद्धवस्तूपग्रहणे, न च शब्देनागम्यमानमप्यसाधारणं वस्तु व्यावृत्त्या विशिष्टमित्यभिधातुं शक्यम् । यतः—

"शब्देनागम्यमानं च विशेष्यमिति साहसम् ।
तेन सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धि-शब्दयोः" ॥ [ श्लो० वा० अपो० श्लो० ९४ ]

इतश्च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दविषयः यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामवाच्यत्वान्नापोह्यता अनुक्तस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अपोह्येत सामान्यम् तस्य वाच्यत्वात्, अपोहानां त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वासम्भवात् तत्त्वे वा वस्तुत्वमेव स्यात्—तथाहि-यद्यपोहानामपोह्यत्वं भवेत् तदैषामभावरूपत्वं विप्रतिषिद्धं भवेत्; प्रतिषेधे च सति अभावैरभावरूपत्वं त्यक्तं स्यात्, ततश्चाभावानामपोहलक्षणानामभावरूपत्यागाद् वस्तुत्वमेव भवेत्, तच्च न शब्दविषयः—यद्वाऽभावानामभावाभावात् न ह्यभावस्याभावा अपोहा अपोह्या युज्यन्ते, वस्तुविषयत्वात् प्रतिषेधस्य, तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यस्यैवेति निश्चीयत इति सिद्धमपोह्यत्वाद् वस्तुत्वं सामान्यस्य । तदुक्तम्—

---

१ "यद्यप्यपोहनिर्मुक्ते न वृत्तिः शब्द-लिङ्गयोः । युक्ता तथापि बुद्धिस्तु ज्ञातुर्वस्त्ववलम्बते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९२ । तत्त्वस० का० ९५२ पृ० ३०३ ।

२ पयांशो वा० वा० भा० मां० विना । ३-न वाप्ये-भा० मां० । "न चाप्येतद्युक्तम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०३ पं० ११ । वि० प्रतौ तथैव स० ।

४ "न चासाधारणं वस्तु बुद्धौ विपरिवर्तते । न चापि निर्विकल्पत्वात् तस्य युक्ता विशेष्यता" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९३ । तत्त्वस० का० ९५३ पृ० ३०३ ।

५ न शुद्धवस्तुरूप-वि० । "न च शुद्धवस्तुपरिग्रहेण"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०३ पं० २० । ६ तत्त्वसं० का० ९५४ पृ० ३०३ ।

७ "यदा चाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता । तदाऽपोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९५ । तत्त्वस० का० ९५५ पृ० ३०३ ।

८-त्वान्नपोह्यतां अनु-भां० मा० ।-त्वान्नापोह्येत अनु-आ० ।-त्वान्नापोह्येता अनु-वि० गु० । "यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्येत अनु-"प्रमेयक० पृ० १२७ द्वि० पं० ४ ।

९-भावतयाऽ-भां० मा० वा० बा० विना ।

१० "नाऽपोह्यत्वमभावानामभावाभाववर्जनात् । व्यक्तोऽपोहा तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुन" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ९६ । तत्त्वस० का० ९५६ पृ० ३०४ ।

११-प्रतिषेधेन स-वा० बा० । १२-त्यागे च-भा० मां० । १३ नापोह्यत्वमिति शेष । १४-भावाऽपोहा- वा० बा० । १५-दश्वादौ वा० बा० । १६ भवेत् मा० भा० वा० बा० विना । १७-स्यैवेति आ० का० ।

"यदा वा शब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता ।
तदाऽपोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता" ॥
"नापोह्यत्वमभावानामभावाभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुनः" ॥
[श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ९५-९६] इति ।

अपि च, अपोहानां परस्परतो वैलक्षण्यमवैलक्षण्यं वा? तत्राद्ये पक्षे अभावस्यागोशब्दस्याभिधेयस्याभावो गोशब्दाभिधेयः, स चेत् पूर्वोक्तादभावाद् विलक्षणस्तदा भाव एव भवेत् अभावनिवृत्तिरूपत्वाद् भावस्य। न चेद् विलक्षणस्तदा गौरप्यगौः प्रसज्येत, तदवैलक्षण्येन तादात्म्यप्रतिपत्तेः । स्यादेतत् गवाश्वादिशब्दैः स्वलक्षणान्येव परस्परतो व्यावृत्तान्यपोह्यन्ते नाभावः; तेनापोह्यत्वेन वस्तुत्वप्रसङ्गापादनं नानिष्टम्, असदेतत्; यद्यपि सच्छब्दादन्येषु गवादिशब्देषु वस्तुन (नः) पर्वतादेरपोह्यता सिद्ध्यति, सच्छब्दस्य त्वभावाख्यादपोह्यान्नान्यदपोह्यमस्ति असद्व्यवच्छेदेन सच्छब्दस्य प्रवृत्तत्वात्; ततश्च पूर्ववदभावाभाववर्जनाद् असतोऽपोहे वस्तुत्वमेव स्याद् इत्यपोहवादिनोऽभ्युपगमविरुद्धाऽसद्वस्तुत्वप्रसक्तिः ।

अथास्त्वभावस्यापि वस्तुत्वम्, न, अभावस्यापि सिं(स्याऽसि)द्धौ कस्यचिद् भावस्यैवासिद्धेः, अभावव्यवच्छेदेन तस्य भवन्मतेन स्थितलक्षणत्वात्। अभावस्य वाऽपोह्यत्वे सति वस्तुत्वप्रसङ्गेन स्वरूपासिद्धेरसत्त्वमपि न सिद्ध्यति, तस्य सत्त्वव्यवच्छेदरूपत्वात्, सत्त्वस्य च यथोक्तेन प्रकारेणायोगात्। न चात्र–

"अपोह्यैः स वहिःसंस्थितैर्भिद्यते"

इत्यादौ

"अवस्तुत्वादपोहानां नैव भेदः"

इत्यादौ च 'न खल्वपोह्यभेदादाधारभेदाद् वाऽपोहानां भेदः, अपि त्वनादिकालप्रवृत्तविचित्रवित-

---

१ क्रमेण तत्त्वस॰ का॰ ९५५-९५६ पृ॰ ३०३-३०४।

२ "अभावस्य च योऽभाव स चेत् तस्माद् विलक्षण । भाव एव भवेन्नो चेद् गौरगौस्ते प्रसज्यते" ॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ९७। तत्त्वस॰ का॰ ९५७ पृ॰ ३०४।

३ "अभावस्य अगोशब्दाभिधेयस्याभाव"–तत्त्वस॰ पञ्जि॰ ३०४ पं॰ २१। "पक्षे भावस्याऽगोशब्दाभिधेयस्याभाव"–प्रमेयक॰ पृ॰ १२७ द्वि॰ पं॰ ८।

४ "नाभावा', तेनापोह्यत्वेन तेषां वस्तुत्वप्रसङ्गापादनं नानिष्टम्"–तत्त्वस॰ पञ्जि॰ पृ॰ ३०४ पं॰ २६।

५ "यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुन स्यादपोह्यता । सच्छब्दस्य त्वभावाख्यान्नापोह्य भिन्नमिष्यते" ॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ९८। तत्त्वस॰ का॰ ९५८ पृ॰ ३०४।

६ वस्तुनष्पर्वतादे–भा॰ मा॰। वस्तुन शर्वतादे–वा॰ बा॰। "वस्तुन॰ पर्वतादे॰"–तत्त्वस॰ पञ्जि॰ पृ॰ ३०५ पं॰ ७। ७–च्छ्दासत् वस्तु–आ॰ हा॰ वि॰। ८–थास्तु भा–वा॰ बा॰।
"तत्राऽसतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो महान् भवेत् । तदसिद्धौ न सत्ताऽस्ति न चाऽसत्ता प्रसिध्यति" ॥
श्लो॰ वा॰ अपो॰ श्लो॰ ९९। तत्त्वस॰ का॰ ९५९ पृ॰ ३०५।

९–स्तुत्वम् भा–भा॰ मा॰ विना। १० "'तदसिद्धौ' तस्याऽभावस्यासिद्धौ"–तत्त्वस॰ पञ्जि॰ पृ॰ ३०५ पं॰ १०। ११–स्य भावापोह्यत्वे आ॰। १२–कारेण यो–वा॰ बा॰ आ॰। १३ न चात्रापोह्यैस्सद् वहिःसंस्थितैर्भिद्यते स्यादावचस्तुत्वाद्पोहानाम् भा॰ मा॰। न चात्र पोह्येऽसवहिसंस्थितैर्भिद्यते स्यादानवतः वस्तुत्वादपोहानाम् मा॰। न चात्रापोह्यैऽस वहि संस्थितैर्भिद्यते स्यादानवतः वस्तुत्वादपोहानाम् पु॰ भा॰ डे॰। न चात्रापोह्यैसद्भिः संस्थितैर्भिद्यतेयादवः वस्तुत्वादपोहीनां नैवे भेदः वा॰ बा॰। न चात्रपोह्येऽस वहि संस्थितै भिद्यतेत्यादानवनः वस्तुत्वादपोहानाम् आ॰। १४ पृ॰ १८९ पं॰ ३ तथा २५। १५ पृ॰ १८८ पं॰ १९ तथा ४०। १६ "यत् पूर्वमुक्तम्–'अपोह्यैः स वहिः संस्थैर्भिद्येत' इत्यादि, यच्चोक्तम्–'अवस्तुत्वादपोहानां नैव भेद' इत्यादि, तत्र केचिद् बौद्धाः परिहारमाहुः–न खल्वपोह्यभेदा(दा)धारभेदाद् वा अपोहानां भेद" इत्यादि मतमन्तरेण तत्त्वस॰ पञ्जि॰ पृ॰ ३०५ पं॰ १४-१९।

थार्थविकल्पवासनाभेदान्वयैस्तत्त्वतो [1]'निर्विषयैरप्यभिन्नविषयालम्बिभिर्भिन्नैरिव प्रत्ययैर्भिन्ने[2]ष्वर्थेषु वाह्येषु भिन्ना इवार्थात्मान इवास्वभावा अप्यपोहाः[3] समारोप्यन्ते, ते[4] चैवं तथा तैः समारोपिता भिन्नाः सन्तश्च प्रतिभासन्ते येन वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपता वाऽपोहानां भविष्यति' इत्ययं परिहारो वक्तुं युक्तः[5]; यतो न ह्यवस्तुनि वासना सम्भवति, वासनाहेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात्; तदभावाद् वितथार्थानां विकल्पानाम[6]सम्भवात् आलम्बनभूते वस्तुन्यसति निर्विषयज्ञाना[7]योगेन वासनाधायकविज्ञाना[8]ऽभावतो न वासना; ततश्च वासनाऽभावात् कुतो वासनाकृतोऽपोहानां भेदः सद्रूपता वा? अतो वाच्याभिमतापोहाभावः।

तथा, वाचकाभिमतस्यापि तस्याभाव एव, तथापि[9] शब्दानां[10] भिन्नसामान्यवाचिनां विशेषवाचिनां च परस्परतो भेदो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात् वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा? ननु प्रत्यक्षत एव शब्दानां कारणभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः प्रसिद्ध एवेति प्रश्नानुपपत्तिः, असदेतत्, यतो वाचकं शब्दमङ्गीकृत्य प्रश्नः, न च [11]श्रोत्रज्ञानावसेयः स्वलक्षणात्मा शब्दो[12] वाचकः, सङ्केतकालानुभूतस्य व्यवहारकाले चिरविनष्टत्वात् तस्य न तेन व्यवहार इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदभिप्रायेण, अविवादश्चात्र। यथोक्तम्—

"नार्थशब्दविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते।
तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् सामा[13]न्यं तूपदेक्ष्यते[14]"॥[ ] इति।

तस्माद् वाचकं शब्दमधिकृत्य प्रश्नकरणा[15]ददोषः।

"तत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते।
तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते"[16]॥ [श्लो० वा०अपो०श्लो० १०४]

यथा पूर्वो[17]क्तेन विधिना 'संसृष्टैकत्वनानात्व'–इत्यादिना वाच्यापोहानां परस्परतो भेदो न घटते तथा शब्दापोहानामपि नीरूपत्वान्नासौ युक्तः, यथा[18] च वाचकानां परस्परतो भेदो न सङ्गच्छते एवं वाच्यवाचकयोरपि मिथो भेदोऽनुपपन्नः, निःस्वभावत्वात्। न चापोह्यभेदा[19]द् भेदो भविष्यति, 'न [20]विशेषः स्वतस्तस्य' इत्या[21]दिना प्रतिविहितत्वात्। तदेवं प्रतिज्ञायाः प्रतीत्य[22]भ्युपेतबाधा व्यवस्थिता।

साम्प्रतं वाच्यवाचकत्वाभावप्रसङ्गापादनादभ्युपेतबाधादिदोषं प्रतिपिपादयिषुः प्रमाणयति— [23]"ये अवस्तुनी न तयोर्गम्यगमकत्वमस्ति, यथा खपुष्प–शशशृङ्गयोः, अवस्तुनी च वाच्यवाचकापोहौ

---

१ निर्विषयैरपि भेदान्न विषयालम्बिभिन्नप्रत्ययैर्भिन्नेष्ठवाह्येषु भिन्ना इवार्थात्मान–वा० वा०।

२–न्नेष्वर्थेष्ववाह्येषु आ० हा० वि०। ३–वा अपोहाः आ० हा० वि० का०। ४ ते च तथा मा०। ते चैव तथा वा० वा०।

५ "न चापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपताऽपि वा। अपोहाना प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना"॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १००। तत्त्वस० का० ९६० पृ० ३०५।

६–मसंभव एवात आ—भा० मा०। ७–ज्ञानयो–भा० मा०। ८–नामावोतो–वि०। ९ "तथाहि"–प्रमेयक० पृ० १२७ द्वि० पं० १०।

१० "गवादि' शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते। न ह्यसाधारणः शब्दो वाचकः प्रागदृष्टितः"॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १०२। तत्त्वस० का० ९६१ पृ० ३०६।

११ श्रोतृ–आ० हा० वि०। १२ शब्दोऽवाच–भा० मा०। १३–न्यं रूपदेष्यते आ० हा० वा० वा०।–न्यं रूपं नेष्यते वि०। "सामान्यं तूपदेक्ष्यते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०६ पं० १७। द्वादशारनय० लि० प्र० पृ० २८४ द्वि० पं० ८ आ०। "सामान्यं तूपदिश्यते"–प्रमेयक० पृ० १२८ प्र० पं० ३। १४ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३०६ पं० १६। १५–प्रव्याकरणा–आ०। १६ तत्त्वस० का० ९६२ पृ० ३०६। १७ पृ० १८८ पं० २० तथा ४०।

१८ "वाचकानां यथा चैवं वाच्य–वाचकयोर्मिथः। न चाप्यपोह्यभेदेन भेदोऽस्तीत्युपपादितम्"॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १०५। तत्त्वस० का० ९६३ पृ० ३०६।

१९–दादभेदो आ० हा० वि०। २० विशेषः स्ततस्त–मा०। २१ पृ० १८९ पं० १ तथा २२। २२–त्यभ्युपेत्य वा–भा० मा०।

२३ "न गम्यगमकत्वं स्यादवस्तुत्वादपोहयोः। भवत्पक्षे यथा लोके खपुष्प–शशशृङ्गयोः"॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १०८। तत्त्वसं० का० ९६४ पृ० ३०६।

भवतामिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। नेनु च मेघाभावाद् वृष्ट्यभावप्रतीतेर्हेतोरनैकान्तिकता, अयुक्तमेतत्; यस्मात् तद्विविक्ताकाशाऽऽलोकात्मकं च वस्तु मत्पक्षेऽत्रापि प्रयोगो(गे)ऽस्त्येव, अभावस्य वस्तुत्वप्रतिपादनात्। भवत्पक्षे तु न केवलमपोहयोर्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वं न युक्तम् अपि त्वेतदपि वृष्टिमेघाभावयोर्गम्यगमकत्वमयुक्तमेव। किञ्च, यदेतद् भवद्भिरन्वयोपसर्जनयोर्व्यतिरेकप्रधानयोः स्वविषयप्रतिपादकत्वं शब्द-लिङ्गयोर्वर्ण्यते, यच्च—

"अदृष्टेरन्यशब्दार्थे स्वार्थस्यांशेऽपि दर्शनात्।
श्रुतेः सम्बन्धसौकर्यं न चास्ति व्यभिचारिता"॥ [ ]

इत्यादि वर्णितम् तदप्यपोहाभ्युपगमेऽसङ्गतम्, यतः—

"विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते।
न भवेद् व्यतिरेकोऽपि तस्य तत्पूर्वको ह्यसौ" ॥ [ श्लो० वा० अपो० श्लो० ११० ]

विधिनिवृत्तिलक्षणत्वाद् व्यतिरेकस्येति भावः।

किञ्च, नीलोत्पलादिशब्दानां विशेषणविशेष्यभावः सामानाधिकरण्यं च यदेतल्लोकप्रतीतं तस्यापह्नवोऽपोहवादिनः प्रसक्तः। यच्चेदं विशेषणविशेष्यभाव-सामानाधिकरण्यसमर्थनार्थमुच्यते-

"अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थो स्वार्थभेदगतौ जडौ।
एकत्वाभिन्नकार्यत्वाद् विशेषणविशेष्यता" ॥ [ ]
"तन्मात्राकाङ्क्षणाद् भेदः स्वसामान्येन नोज्झितः।
नोपात्तः संशयोत्पत्तेः सैव चैकार्थता तयोः" ॥ [ ] इति,

तदप्यनुपपन्नम्; यतः परस्परं व्यवच्छेद्या(द्य)व्यवच्छेदकभावो विशेषणविशेष्यभावः, स च वाह्य (वाक्य) एव व्यवस्थाप्यते यथा 'नीलो(नीलमु)त्पलम्' इति। व्यधिकरणयोरपि यथा 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ। भिन्ननिमित्तप्रयुक्तयोस्तु शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्; तच्च 'नीलोत्पलम्' इत्यादौ वृत्तावेव व्यवस्थाप्यते। न च नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु तत्सिद्धिः, शबलार्थाभिधायित्वं च तेषाम्—

"न हि तत् केवलं नीलं न च केवलमुत्पलम्।
समुदायाभिधेयत्वात्" [ ]

इत्यादिना प्रतिपादितम्। यतः अनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलव्युदासो नास्ति, नाप्यनुत्पलप्रच्युता-

---

१ "वृष्टिमेघासतोर्दृष्ट्या यथाऽनैकान्तिकं वदेत्। वस्त्वेवाऽत्रापि मत्पक्षे भवत्पक्षेऽप्यदः कुतः" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १०९। तत्त्वस० का० ९६५ पृ० ३०७।

२ "प्रयोगे" –प्रमेयक० पृ० १२८ प्र० पं० ५। "मत्पक्षेऽत्रापि वृष्टिमेघाभावप्रयोगे"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०७ पं० १०।

३ यथा भा०। ४ अदृष्टेरन्यशब्दार्थस्वार्थ–हा०। अदृष्टैरन्यशब्दार्थे का०। अदृष्टैरन्यशब्दार्थे स्वा–वि०। अदृष्टेऽप्यन्यशब्दार्थस्वा–वा० बा०। ५ श्रुते संवन्धसौकार्ये आ० हा० वि० का०। श्रुतोः संवन्धसौकर्यम् वा० बा०। ६ तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०७ पं० १७। ७–रूपस्य श–वा० बा०। ८ तत्त्वस० का० ९६६ पृ० ३०७। ९ भिन्नार्थाः हा० वि०। भिन्नार्थोऽस्वा–आ०। १० एकत्राभि–आ० हा० वि०।

११ "अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थो स्वार्थभेदगतौ जडौ। एकत्राभिन्नकार्यत्वाद् विशेषणविशेष्यका" ॥
तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०७ पं० २५।

१२–न चोज्झितः वि०। १३–पात्तसं–वा० बा०। १४–शयोत्पत्तिः वि०। १५–च वैका–आ०।
१६ "साम्ये चैकार्थता तयो"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०७ पं० २७। श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६०८ पं० २४।

१७ "अपोहमात्रवाच्यत्वं यदि चाऽभ्युपगम्यते। नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु" ॥
"विशेषणविशेष्यत्व–सामानाधिकरण्ययोः। न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलच्युतिः" ॥
"नापि तत्रेतरस्तस्मान्न विशेष्य–विशेषणे। शब्दयोर्नापि ते स्यातामभिधेयाऽनपेक्षयोः" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० ११५–११६–११७। तत्त्वस० का० ९६७–९६८–९६९ पृ० ३०८।

१८–स्परं व्यवच्छेदकभा–भा० मा० विना। १९ "स च वाक्य एव"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०८ पं० ९।
२० "यथा नीलमुत्पलमिति"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०८ पं० १०। २१ तत्त्वस० पञ्जि० ३०८ पं० १४। शास्त्रवा० स्याद्वाद० पृ० ४०६ प्र० पं० ३। २२–नीलव्यु–आ०।

वनीलव्युदास इति नानयोः परस्परमाधाराधेयसम्बन्धोऽस्ति नीलरूप(नीरूप)[1]त्वात्; न चासति सम्बन्धे विशेषणविशेष्यभावो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, अतो युष्मन्मतेनाभाववाचित्वाच्छबलार्थाभिधायित्वासम्भवाच्च विशेषणविशेष्यभावो युक्तः। अभिधेयद्वारेणैव हि तदभिधायिनोः शब्दयोर्विशेषणविशेष्यभाव उपचर्यते, अभिधेये च तस्यासम्भवेऽभिधानेऽपि कुतस्तदारोपः?

[2]सामानाधिकरण्यमपि नीलोत्पलशब्दयोर्न सम्भवति, तद्वाच्ययोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदलक्षणयोरपोह्योर्भिन्नत्वात्। तच्च भवद्भिरेव

'अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थौ'

इत्य[3]भिधानादवसीयते। प्रयोगः–न नीलोत्पलादिशब्दाः समानाधिकरणव्यवहारविषयाः, भिन्नविषयत्वात्, घटादिशब्दवत्। न च यत्रैव ह्यर्थेऽनुत्पलव्युदासो वर्त्तते तत्रैवानीलव्युदासोऽपीति नीलोत्पलशब्दवाच्ययोरपोह्योरेकस्मिन्नर्थे वृत्तेः अर्थद्वारकं सामानाधिकरण्यं शब्दयोरपीति वक्तुं[4] युक्तम्, अपोहयोर्नी[5]रूपत्वेन क्वचिदवस्थानासम्भवतो वास्तवाधेयतायोगाद्[6] वन्ध्यासुतस्येव।

भवतु वा नीलोत्पलादिष्वर्थेषु तयोराधेयता तथापि सा विद्यमानापि न शब्दैः प्रतिपाद्यते, [7]यतस्तदेवासाधारणत्वान्नीलोत्पलादि वस्तु न शब्दगम्यम्, स्वलक्षणस्य सर्वविकल्पातीतत्वात् तदप्रतिपत्तौ च तदधिकरणयोरपोह्योस्तदाधेयता कथं ग्रहीतुं शक्या धर्मिग्रहणनान्तरीयकत्वाद् धर्मग्रहणस्य? न चासाधारणवस्तुव्यतिरेकेण तयोरन्यदधिकरणं सम्भवति भवदभिप्रायेण। न चाप्रतीयमानं सदपि सामानाधिकरण्यव्यवहाराङ्गम् अतिप्रसङ्गात्। न च व्यावृत्तिमद् वस्तु शब्दवाच्यम्—यतो व्यावृत्तिद्वयोपाधिकयोः शब्दयोरेकस्मिन्नपोहवति वस्तुनि वृत्तेः सामानाधिकरण्यं भवेत्—[8]परतन्त्रत्वाद् नीलादिशब्दस्येतरभेदाना[9]क्षेपकत्वात्[10], स हि व्यावृत्त्युपसर्जनं तद्वन्तमर्थमाह न साक्षात् ततश्च साक्षादनभिधानात् तद्गतभेदाक्षेपो न सम्भवति, यथा–मधुरशब्देन शुक्लादेः। यद्यपि शुक्लादीनां मधुरादिभेदत्वमस्ति तथापि शब्दस्य साक्षादभिहितार्थगतस्यैव भेदस्याक्षेपे सामर्थ्यम् न तु पारतन्त्र्येणाभिहितार्थगतस्य, ततश्च नीलादिशब्देन तद्गतभेदानाक्षेपात् उत्पलादीनामतद्भेदत्वं स्यात्; [11]अतद्भेदत्वे च न सामान्याधिकरण्यम्; तेन जातिमन्मात्रपक्षे यो दोषः प्रतिपादितो भवता "तद्वतो न वाचकः शब्दः, अस्वतन्त्रत्वात्[12]" [ ] इति स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि तुल्यः। तथाहि–जातिमन्मात्रे शब्दार्थे सच्छब्दो जातिस्वरूपोपसर्जनं द्रव्यमाह न साक्षादिति तद्गतघटादिभेदानाक्षेपात् अतद्भेदत्वे सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्ग उक्तः; स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि समानः—तत्रापि हि सच्छब्दो व्यावृत्त्युपसर्जनं द्रव्यमाह न साक्षादिति तद्गतभेदानाक्षेपोऽत्रापि समान एव, को ह्यत्र विशेषः [13]जातिव्या(र्व्या)वृत्तिर्जातिमद्व्या(र्जातिमान् व्या)वृत्तिमानिति।

न[14] च लिङ्ग सङ्ख्या-क्रिया-कालादिभिः सम्बन्धोऽपोहस्यावस्तुत्वाद् युक्तः, एषां वस्तुधर्मत्वात्। न च लिङ्गादिविविक्तः पदार्थः शक्यः शब्देनाभिधातुम्, अतः प्रतीतिबाधाप्रसङ्गः प्रतिज्ञायाः।

---

१ "नीरूपत्वात्"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३०८ पं० १८। वि० प्रतावपि तथैव संशोधितं दृश्यते।

२ "सामानाधिकरण्यं च न भिन्नत्वादपोह्योः। अर्थतश्चैतदिष्येत कीदृश्याधेयता तयोः" ॥

मी० श्लो० वा० अपो० श्लो० ११८। तत्त्वस० का० ९७० पृ० ३०८।

३ भिन्नार्थैत्यभि–भां० मां० विना। ४ पृ० ११६ पं० १४। ५–नीलरूप–वा० बा० विना। ६–गाद्वस्तुतस्यैव–भा० मा० वा० बा० विना।

७ "न चासाधारणं वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते। अगम्यमानमैकार्थ्यं शब्दयोः क्वोपयुज्यते" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० ११९। तत्त्वस० का० ९७१ पृ० ३०९।

८ "अथान्यापोहवद्वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते। तत्रापि परतन्त्रत्वाद् व्याप्तिः शब्देन दुर्लभा" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १२०। तत्त्वस० का० ९७२ पृ० ३०९।

९–दानापेक्षक–भां० मां०। १०–स्यात् न हि वा० बा०। ११ "अतद्भेदत्वे च सामानाधिकरण्यं न प्राप्नोति"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१० पं० ६। १२ तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१० पं० ७। "जातिमदभिधानेऽपि 'तद्वतो नाऽस्वतन्त्रत्वात्' इत्यादिना सामानाधिकरण्यानुपपत्तिर्भिक्षुणा दर्शिता"–श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ५९८ पं० ७।

१३ जातिर्व्यावृत्तिजातिमद्व्यावृत्तिमानिति वि०। जातिमद्व्यावृत्तिमानिति आ०। जातिमान्व्यामावृत्तिमानिति वा० बा०। "को ह्यत्र विशेषः जातिर्व्यावृत्तिर्जातिमान् व्यावृत्तिमानिति"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१० पं० १२।

१४ "लिङ्ग–सङ्ख्यादिसंबन्धो न चाऽपोहस्य विद्यते। व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात् तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १३५। तत्त्वस० का० ९७३ पृ० ३१०।

न च व्यावृत्त्याधारभूताया व्यक्तेर्वस्तुत्वाल्लिङ्गादिसम्बन्धात् तद्द्वारेणापोहस्याप्यसौ व्यवस्थाप्यः, व्यक्तेर्निर्विकल्पकज्ञानविषयत्वाल्लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धेन व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् अपोहस्य तद्द्वारेण तद्व्यवस्थाऽसिद्धेः।

अव्यापित्वं चापोहशब्दार्थव्यवस्थायाः, 'पचति' इत्यादिक्रियाशब्देष्वन्यव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः। यथा हि घटादिशब्देषु निष्पन्नरूपं पटादिकं निषेध्यमस्ति न तथा 'पचति' इत्यादिषु, प्रतियोगिनो निष्पन्नस्य कस्यचिदप्रतीतेः। अथ मा भूत् पर्युदासरूपं निषेध्यम्, 'न पचति' इत्येवमादि प्रसज्यरूपं 'पचति' इत्यादेर्निषेध्यं भविष्यति, असदेतत्; 'तन्न (न न) पचति' इत्येवमुच्यमाने प्रसज्यप्रतिषेधस्य निषेध एवोक्तः स्यात्, ततश्च प्रतिषेधद्वयस्य विधिविषयत्वाद् विधिरेव शब्दार्थः प्रसक्तः। किञ्च, 'पचति' इत्यादौ साध्यत्वं प्रतीयते, यस्यां हि क्रियायां केचिदवयवा निष्पन्नाः केचिदनिष्पन्नाः सा पूर्वापरीभूतावयवा क्रिया साध्यत्वप्रत्ययविषयः, तथा, 'अभूत्' 'भविष्यति' इत्यादौ भूतादिकालविशेषप्रतीतिरस्ति, न चापोहस्य साध्यत्वादिसम्भवः निष्पन्नत्वादभावैकरसत्वेन; तस्मादपोहशब्दार्थपक्षे साध्यत्वप्रत्ययो भूतादिप्रत्ययश्च निर्निमित्तः प्राप्नोतीति प्रतीतिबाधा। न च विध्यादौ चान्यापोहप्रतिपत्तिरस्ति, पर्युदासरूपस्य निषेध्यस्य तत्राभावात्। 'न न पचति देवदत्तः' इत्यादौ च नञा(ञो)ऽपरेण नञा योगे नैवापोहः, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेव संस्पर्शात्। अपि च, चादीनां निपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयानां पदत्वमिष्टम्, न चैषां नञा सम्बन्धोऽस्ति असम्बन्धवचनत्वात्। तथाहि—यथा हि घटादिशब्दानाम् 'अघटः' इत्यादौ नञा सम्बन्धेऽर्थान्तरस्य पटादेः परिग्रहात् तद्व्यवच्छेदेन नञा रहितस्य घटशब्दस्यार्थोऽवकल्पते न तथा चादीनां नञा सम्बन्धोऽस्ति, न चासम्बध्यमानस्य नञाऽपोहनं युक्तम्, अतश्चादिष्वपोहाभावः। अपि च, कल्माषवर्णवच्छबलैकरूपो वाक्यार्थ इति नान्यनिवृत्तिस्तत्त्वेन व्यपदेष्टुं शक्या, निष्पन्नरूपस्य प्रतियोगिनोऽप्रतीतेः। यो तु 'चैत्र! गामानय' इत्यादावचैत्रादिव्यवच्छेदरूपाऽन्यनिवृत्तिरवयवपरिग्रहेण वर्ण्यते सा पदार्थ एव स्यात् न वाक्यार्थः, तस्यावयवस्येत्थं विवेक्तुमशक्यत्वादित्यव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था।

---

१–वृत्त्याधारभूतायां वा० बा० आ० हा० वि०।

२ "आख्यातेषु च नान्यस्य निवृत्तिः सम्प्रतीयते। न पर्युदासरूपं हि निषेध्यं तत्र विद्यते" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १३९। तत्त्वसं० का० ९७४ पृ० ३१०।

३ "प्रसज्यरूपं 'पचति' इत्यादेर्निषेध्यं भविष्यतीत्याह—'न न पचति' इत्येवमुच्यमाने"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३११ पं० ४–१०।

४ "न नेति ह्युच्यमानेऽपि निषेधस्य निषेधनम्। पचतीत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणावतिष्ठते" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १४०। तत्त्वसं० का० ९७५ पृ० ३११।

५ "साध्यत्वप्रत्ययश्चात्र तथा भूतादिरूपधम्। निष्पन्नत्वादपोहस्य निर्निमित्तं प्रसज्यते" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १४१। तत्त्वसं० का० ९७६ पृ० ३११।

६ "यस्यां क्रियायां"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३११ पं० १३।

७ "विध्यादावर्थराशौ च नान्यापोहनिदर्शनम्। नञश्चापि नञा युक्तादपोहः कीदृशो भवेत्" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १४२। तत्त्वसं० का० ९७७ पृ० ३११।

८ "आदिशब्देन निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणादीनां ग्रहणम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३११ पं० २६। "निमन्त्रणादीनां विभक्त्यर्थानां च कर्मादीनामादिशब्देन ग्रहणमिति"–श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६०५ पं० ८। ९ निषेधस्य भा०। १० "नञोऽपरेण नञा"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३११ पं० २८। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ द्वि० पं० ९। ११–न विधिरेव वा० विना०। १२ असंबद्धव–भा० मा०। "असत्त्ववचनत्वात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१२ पं० ३। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ द्वि० प० १४। १३–दे नञा भा० मा० विना। १४–स्यार्थो विकल्प्यते भा० मा०।

१५ "चादीनामपि नञ्योगो नैवास्तीत्यनपोहनम्। वाक्यार्थोऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते" ॥

श्लो० वा० अपो० श्लो० १४३। तत्त्वसं० का० ९७८ पृ० ३११।

१६ "न तथा चादीनाम् 'न च' इत्यादिना"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१२ पं० ६। १७ चासंबध्यमान–वा० बा०। १८ "किञ्च, वाक्यार्थं कल्माषवर्णवच्छबलैकरूपमिष्यते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१२ पं० ७। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० प० ३। १९ यत्तु भा० मा०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ३। २० "तस्यानवयवस्येत्थं विवेक्तुमशक्यत्वात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१२ पं० १०।

किञ्च, '[1]न अन्यापोहः अनन्यापोहः' इत्यादौ शब्दे विधिरूपादन्यद् वाच्यं नोपलभ्यते, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवावसायात्। अत्र च[2] 'नञ्श्चापि नञा योगे' इत्यनेनार्थस्य गतत्वेऽपि 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्येवंवादिनां स्ववचनेनैव विधिरिष्ट इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तम्। तथाहि—[3]अनन्यापोहशब्दस्यान्यापोहः शब्दार्थो व्यवच्छेद्यः, स च विधेर्नान्यो लक्ष्यते। [4]ये च प्रमेय-ज्ञेयाऽभिधेयादयः शब्दास्तेषां न किञ्चिदपोह्यमस्ति, सर्वस्यैव प्रमेयादिस्वभावत्वात्। तथाहि—यन्नाम किञ्चिद् व्यवच्छेद्यमेषां कल्प्यते तत् सर्वं व्यवच्छेद्याकारेणालम्ब्यमानं ज्ञेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते, न ह्यविषयीकृतं व्यवच्छेत्तुं शक्यम्; अतोऽपोह्याभावादव्या[5]पिनी व्यवस्था।

ननु हेतु[6]मुखे निर्दिष्टम् "अज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमा[7]नम्" [ हेतु० ] इति तत् कथमव्यापित्वं शब्दार्थव्यवस्थायाः, नैतत्; [8]यतो यदि ज्ञेयमप्यज्ञेयत्वेनापोह्यमस्य कल्प्यते[9] तदा वरं वस्त्वेव विधिरू[10]पं शब्दार्थत्वेन कल्पितं भवेत् यदध्यवसीयते लोकेन; एवं ह्यदृष्टाध्यारोपो दृष्टापलापश्च न कृतः स्यात्।

## [ विकल्पप्रतिबिम्बार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम् ]

ये त्वाहुः—"विकल्पप्रतिबिम्बमेव सर्वशब्दानामर्थः, तदेवं[11] चाभिधीयते व्यवच्छिद्यत इति च[12]" [ ] तेऽपि न युक्तकारिणः। [13]निराकारा बुद्धिः आकारवान् बाह्योऽर्थः—

"स बहिर्देशसम्बन्धो विस्पष्टमुपलभ्यते" [ ]

इत्या[14]दिना ज्ञानाकारस्य निषिद्धत्वात् आन्तरस्य बुद्ध्यारूढस्याकारस्या[15]सत्त्वात् तदवसायकत्वं शब्दानामयुक्तम्; अत एव तस्यापोह्यत्वमप्यनुपपन्नम्।

ये च[16] 'एवम्' 'इत्थम्' इत्यादयः शब्दास्तेषामपि न किञ्चिदपोह्यम्, प्रतियोगिनः पर्युदासरूपस्य कस्यचिदभावात्। [17]अथ 'नैवम्' इत्यादिप्रसज्यरूपं प्रतिषेध्यमत्रापि भविष्यति, न; उ[18]क्तोत्तरत्वात्।

"न नैवमिति निर्देशे निषेधस्य निषेधनम्।
एवमित्यनिषेध्यं तु स्वरूपेणैव तिष्ठति॥" [ ]

इति न्या[19]यात्।

---

१ "अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते। प्रमेय-ज्ञेयशब्दादेरपोह्यं कुत एव तु" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १४४। तत्त्वसं० का० ९७९ पृ० ३११।

२ नान्यापोह इत्यादौ वा० बा०। प्रमेयक० पृ० १२८ प्र० पं० ८। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ५। ३ अनन्यापोहः शब्दार्थो व्यवच्छेद्यः आ०। "अन्यापोहशब्दस्य अनन्यापोहशब्दार्थो व्यवच्छेद्य"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१२ पं० १६। ४ प्रमेयक० पृ० १२६ प्र० पं० ५। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ७। ५ "अव्यापिन्यपोहव्यवस्था"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ७। ६–तुमुखेन नि–कां०। हेतुमुखनामा ग्रन्थः। ७ "यत्तु अत्र दिङ्नागेनोक्तम्—"अज्ञेयं कल्पितं कृत्वा ज्ञेयशब्दः प्रवर्तते" इति"—श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६०५ पं० ९। ८ "अपोह्यकल्पनायां तु वरं वस्त्वेव कल्पितम्"। श्लो० वा० अपो० श्लो० १४५। तत्त्वसं० का० ९८० पृ० ३१२। ९ कल्पते आ० हा०। १०–रूपशब्दा–भा० मा० विना। ११–च वाभि–भां० मां० विना। १२ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१३ पं० ३। १३ "ज्ञानाकारनिषेधाच्च नान्तरार्थाभिधेयता" ॥ श्लो० वा० अपो० श्लो० १४५। तत्त्वसं० का० ९८० पृ० ३१२।

१४ "स बहिर्देशसंबद्ध इत्यनेन निरस्यते। ग्राह्याकारस्य संवित्तिर्ग्राहकानुभवादते" ॥ श्लो० वा० शून्य० श्लो० ७९।

१५–स्यासंभवत्वात् तद्–कां०।

१६ "न चाप्यपोह्यता तस्मान्नापोहस्तेषु सिध्यति। एवमित्यादिशब्दानां नवाऽपोह्यं निरूप्यते" ॥
श्लो० वा० अपो० श्लो० १४६। तत्त्वसं० का० ९८१ पृ० ३१२।

१७ "न हि अनेवं नामेति किञ्चिदस्ति, प्रकारवचनत्वाद् 'एवं'शब्दस्य; सर्वस्य च प्रकारमात्रत्वे नैवंभावाऽयोगादिति"—श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६०५ पं० १५। १८ पृ० ११८ पं० ७ तथा पं० २७। १९ "एतत् सर्वं कुमारिलोक्तमुपन्यस्तम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१३ पं० १३।

[ अपोहपक्षे उद्द्योतकरकृतानामाक्षेपाणामुपन्यासः ]

उद्द्योतकरस्त्वाह[1]-"अपोहः शब्दार्थः इत्ययुक्तम् अव्यापकत्वात्। यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रे[2]तरप्रतिषेधादितरः प्रतीयते, यथा-'गौः' इति पदाद् गौः प्रतीयमानः [3]अगौर्निषिध्यमानः, न पुनः सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत् सर्वशब्देन निवर्तेत। अथ मन्यसे एकादि असर्वं तत् सर्वशब्देन निवर्त्ते[4]त इति, तन्न, स्वार्थापवाददोषप्रसङ्गात्। एवं ह्येकादिव्युदासेन प्रवर्त्तमानः सर्वशब्दोऽङ्गप्रतिषेधादङ्गव्यतिरिक्तस्याङ्गिनोऽनभ्युपगमादनर्थकः स्यात्। अङ्गशब्देन ह्येकदेश उच्यते, एवं सति सर्वे समुदायशब्दा एकदेशप्रतिषेधरूपेण प्रवर्त्तमानाः समुदायिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य समुदायस्याऽनभ्युपगमादनर्थकाः प्राप्नुवन्ति। द्व्यादिशब्दानां तु समुच्चयविषयत्वादे[5]कादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानार्थानामसमुच्चयत्वादनर्थकत्वं स्यात्" [ अ० २ आ० २ सू० ६७ न्यायवा० पृ० ३२९ पं० १२-२३ ]

"यश्चायमगोऽपोहोऽगौर्न भवतीति गोशब्दस्यार्थः[6], स[7] किञ्चिद् भावः, अथाभावः? भावोऽपि सन् किं गौः, अथागौरिति। यदि गौः नास्ति विवादः। अथागौः, गोशब्दस्यागौरर्थ इत्यतिशब्दार्थकौशलम्[8]। अथाभावः, तन्न युक्तम्; प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरविषयत्वात्, न हि शब्दश्रवणादभावे प्रैषः—प्रतिपादकेन श्रोतुरर्थे विनियोगः—प्रतिपादकधर्म्मः, संप्रतिपत्त(त्ति)श्च[9]—[10]श्रोतृधर्म्मौ—भवेत्। अपि च, शब्दार्थः प्रतीत्या प्रतीयते, न च गोशब्दादभावं कश्चित् प्रतिपद्यते" [न्यायवा० पृ० ३२९ पं० ५-११]

किञ्च, "क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः। तत्र 'अगौर्न भवति' इत्ययमपोहः किं गोविषयः, अथागोविषयः? [11]यदि गोविषयः कथं गोर्गव्येवाऽभावः? अथागोविषयः कथमन्यविषयादपोहादन्यत्र प्रतिपत्तिः, न हि खदिरे छिद्यमाने पलाशे छिदा भवति। [12]अथागोर्गवि प्रतिषेधो 'गौरगौर्न भवति' इति, केनागोत्वं प्रसक्तं यत् प्रतिषिध्यत इति" [ न्यायवा० पृ० ३२९ पं० २४-पृ० ३३० पं० ४ ]

---

१ "साम्प्रतं 'सर्वशब्दस्य' इत्यादिनोद्द्योतकरोक्तमपोहदूषणमाशङ्कते"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३११ पं० १३।

"सर्वशब्दस्य कश्चार्थो व्यवच्छेद्यः प्रकल्प्यते। नाऽसर्वं(र्वो)नाम किञ्चिद्धि भवेद् यस्य निराक्रिया" ॥
"एकाद्यसर्वमिति चेदर्थापोहः प्रसज्यते। अङ्गाना प्रतिषिद्धत्वाद्दनिष्टेश्चाङ्गिन पृथक्" ॥
"एवं समूहशब्दार्थे समुदायिव्यपोहत। अन्यानिष्टेश्च सर्वेऽपि प्राप्नुवन्ति निरर्थका" ॥
"द्व्यादिशब्दा इहेष्टाश्च ये समुच्चयगोचरा। एकादिप्रतिषेधेन न भवेयुस्तथाविधा" ॥
"नागौरिति च योऽपोहो गोशब्दस्यार्थ उच्यते। स किं भावोऽथवाऽभावो भावो गौर्वाऽथवाऽप्यगौ." ॥
"गौश्चेन्नास्ति विवादोऽयमर्थस्तु विधिलक्षण। अगौर्गोशब्दवाच्यश्चेदतिशब्दार्थकौशलम्" ॥
"अभावोऽपि न युक्तोऽयं प्रैषादीनामसम्भवात्। न हि गोशब्दत कश्चिदभावं प्रतिपद्यते" ॥

तत्त्वस० का० ९८२-९८३-९८४-९८५-९८६-९८७-९८८ पृ० ३१३।

२ "तत्रेतरप्रतिषेधादितरत् प्रतीयते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१४ पं० ३। ३ "अगौर्निषेध्यमान"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१४ पं० ३। ४-वर्त्येत भा० मा०। ५-यत्वादाकाशा(देकदेशा)दि-भा० मा० विना। -यत्वादाकाशादिप्रतिषिध्यमाना-भा० मा० विना। ६-स्यार्थः किञ्चि (किंस्वित्) आ० हा०। ७ "स किं भाव अथाऽभाव"-न्यायवा० पृ० ३२९ पं० ६। तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१४ पं० १२। ८ इत्यतिसंशब्दा-भा०। इत्यादिशब्दा-वा०। ९ "सम्प्रतिपत्ति श्रोतृधर्म"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१४ पं० १७। १० श्रोत्रध-भा० मा० विना। श्रोत्रध-वि०। ११ "यदि गोर्विषय"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१४ पं० २१।

१२ "नागौर्गौरिति शब्दार्थः कस्याश्चापोह इष्यते। केन ह्यगोत्वमासक्तं गौ(गो)र्येनैतदपोह्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ९८९ पृ० ३१४।

"इतश्चायुक्तोऽपोहः विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-योऽयमगोरपोहो गवि स किं गोव्यतिरिक्तः, आहोश्विदव्यतिरिक्तः ? यदि व्यतिरिक्तः स किमाश्रितः, अथानाश्रितः ? यद्याश्रितस्तदाऽऽश्रितत्वाद् गुणः प्राप्तः, ततश्च—गोशब्देन गुणोऽभिधीयते 'न गौः' इति—'गौस्तिष्ठति' 'गौर्गच्छति' इति न सामानाधिकरण्यं प्राप्नोतीति । अथानाश्रितस्तदा केनार्थेन 'गोरगोपोहः' इति षष्ठी स्यात् ? अथाव्यतिरिक्तस्तदा गौरेवासाविति न किञ्चित् कृतं भवति" [ न्यायवा० पृ० ३३० पं० ८-१४ ]

"अयं चापोहः प्रतिवस्त्वेकः, अनेको वेति वक्तव्यम् । यद्येकस्तदानेकगोद्रव्यसम्बन्धी गोत्वमेवासौ भवेत् । अथानेकस्ततः पिण्डवदानन्त्यादाख्यानानुपपत्तेरवाच्य एव स्यात्" [ न्यायवा० पृ० ३३० पं० १५-१७ ] किञ्च, "इदं तावत् प्रष्टव्यो भवति भवान्-किमपोहो वाच्यः, अथावाच्य इति । वाच्यत्वे विधिरूपेण वाच्यः स्यात्, अन्यव्यावृत्त्या वा ? तत्र यदि विधिरूपेण तदा नैकान्तिकः शब्दार्थः 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इति । अथान्यव्यावृत्त्येति पक्षस्तदा तस्याप्यन्यव्यवच्छेदस्यापरेणान्यव्यवच्छेदरूपेणाभिधानम् तस्याप्यपरेणेत्यव्यवस्था स्यात् । अथावाच्यस्तदा 'अन्यशब्दार्थापोहं शब्दः करोति' इति व्याहन्येत" [ न्यायवा० पृ० ३३० पं० १८-२२ ]

आचार्यदिग्नागोक्तम्—"सर्वत्राभेदादाश्रयस्यानुच्छेदात् कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेश्च यथाक्रमं जातिधर्म्मा एकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकपरिसमाप्तिलक्षणा अपोह एवावतिष्ठन्ते; तस्माद् गुणोत्कर्षादर्थान्तरापोह एव शब्दार्थः साधुः" [ ] इत्येतदाशङ्क्य कुमारिल उपसह(संहर)न्नाह—

"अपि चैकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकसमवायिताः (ताः) ।
निरुपाख्येष्वपोहेषु कुर्वतोऽसूत्रकः पटः" ॥
"तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगस्तेषु केवलम् ।
भवेदन्यनिवृत्त्यंशः स्वात्मैवान्यत्र गम्यते" ॥ [श्लो० वा० अपो० श्लो० १६३-१६४]

'स्वात्मैव' इति स्वरूपमेव विधिलक्षणम् । 'अन्यत्र' इति नञा रहिते । तन्नापोहः शब्दार्थ इति भट्टोद्द्योतकरादयः ।

---

१ "अगोरपोहो यश्चायं गवि शब्दार्थ उच्यते । स किं गोर्व्यतिरिक्तो वाऽव्यतिरिक्त उपेयते" ॥
"विभिन्नोऽप्याश्रितो वा स्यादथवा स्यादनाश्रितः । आश्रितत्वे गुणः प्राप्तो न द्रव्यवचनं ततः" ॥
"अतो(ऽ)गौरिति शब्देन गुणमात्राभिधानतः । सामानाधिकरण्यं स्यान्न गौर्गच्छति तिष्ठति" ॥
"अथाऽनाश्रित एवाय यदर्थं(षष्ठ्यर्थ)स्तस्य को भवेत् । येनासौ प्रतिषेधाय गौरिति व्यपदिश्यते" ॥
"अथ चाऽव्यतिरिक्तोऽयमन्यापोहस्त्वयेष्यते । गौरेवायमतः प्राप्तः किमुक्तमधिकं ततः" ॥

तत्त्वस० का० ९९०-९९१-९९२-९९३-९९४ पृ० ३१४-३१५ ।

२-युक्तेऽपोह्ये विकल्पा-वा० वा० विना । ३-यते तेनागौरिति-वा० । ४-स्तथा भा० मा० विना ।

५ "प्रतिभावमपोहोऽयमेकोऽनेकोऽपि वा भवेत् । यद्येकोऽनेकगोयुक्तो गोत्वमेव भवेदसौ" ॥
"अनेकत्वेऽपि चानन्त्यं पिण्डवत् सम्प्रयुज्यते । तेन भेदवदेवाऽस्य वाच्यता नोपयुज्यते" ॥

तत्त्वस० का० ९९५-९९६ पृ० ३१५ ।

६ "अन्यापोहश्च किं वाच्य किं वाऽवाच्योऽयमिष्यते । वाच्योऽपि विधिरूपेण यदि वाऽन्यनिषेधतः" ॥
"विध्यात्मनाऽस्य वाच्यत्वे त्याज्यमेकान्तदर्शनम् । सर्वत्राऽन्यनिरासोऽयं शब्दार्थ इति वर्णितम्" ॥
"अथाऽपोहव्युदासेन यद्यपोहोऽभिधीयते । तत्र तत्रैवमिच्छायामनवस्था भवेत् ततः" ॥
"अथाऽप्यवाच्य एवाय यद्यपोहस्त्वयेष्यते । तेनाऽन्यापोहकृच्छब्द इति वाध्येत ते वचः" ॥

तत्त्वस० का० ९९७-९९८-९९९-१००० पृ० ३१५-३१६ ।

७ "एतत् सर्वमुद्द्योतकरेणोक्तमुपन्यस्तम् तत्राचार्यदिग्नागेनोक्तम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१६ पं० १२ ।

८ "योऽपि जातिधर्मातिदेशोऽपोहे कृतः "जातिधर्मव्यवस्थितेः" इति, सोऽयुक्तः"-श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६११ पं० १४ ।

९ उपहसन्नाह भा० मा० । "उपसहरन्नाह"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१६ पं० १५ । "उपसंहरति"-श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ६११ पं० १५ । १०-समवायिनि । वा० वा० विना । ११ तत्त्वस० का० १००१ पृ० ३१६ । १२ तत्त्वस० का० १००२ पृ० ३१६ ।

स० त० २६

[ स्वपक्षाक्षेपेषु प्रतिविधातव्येषु पूर्वम् अपोहवादिकृतं स्वमतस्पष्टीकरणम् ]

अत्र सौगताः प्रतिविदधति—[1]द्विविधोऽस्माकमपोहः पर्युदासलक्षणः [2]प्रसह्यप्रतिषेधलक्षणश्च। पर्युदासलक्षणोऽपि द्विविधः—बुद्धिप्रतिभासोऽर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्ध्यात्मा, विजातीय[3]व्यावृत्तस्व[4]लक्षणार्थात्मकश्च। [5]तत्र यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थं ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयन्ति तथा शावलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे [6]प्रकृत्यैकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्त्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम्। तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतया[7]ऽर्था(र्थ)प्रतिबिम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्र 'अन्यापोहः' इति व्यपदेशः। [8]न चासावर्थाभासो ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः सन् बाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद् बाह्यकृतः।

न चापोहव्यपदेशस्तत्र निर्निमित्तः, मुख्य-गौणभेदभिन्नस्य निमित्तस्य सद्भावात्। तथाहि—[9]विकल्पान्तरारोपित[10]प्रतिभासान्तरोद्भावन(प्रतिभासान्तराद् भेदेन) स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यस्तत्र तद्व्यपदेशः 'अपोह्यत इत्यपोहः अन्यस्मादपोहः अन्यापोहः' इति व्युत्पत्तेः। [11]उपचारात् तु त्रिभिः कारणैस्तत्र तद्व्यपदेशः—(१)कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुतया, (२) कार्ये वा कारणधर्मोपचारात् [12]अन्यविविक्तवस्तुद्वारायाततया, (३) विजातीय[13]पोढपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसित[14]त्वाच्चेति। [15]अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक्।

[16]प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणस्त्वपोहः—

"प्रसज्यप्रतिषेधस्तु गौरगौर्न भवत्ययम्।
इति [17]विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते"[18] ॥ [ तत्त्वसं० का० १०१० ]

---

१ "तथाहि-द्विविधोऽपोहः पर्युदास-निषेधतः। द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्माऽर्थात्मभेदतः" ॥
तत्त्वसं० का० १००४ पृ० ३१६।

२ प्रसज्य-कां०। ३ व्यावृत्त्यस्व-भा० वा० विना। ४-स्वलक्षणमोत्मकश्च वा० बा०। "विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्यर्थः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१७ पं० ४। "विजातीयव्यावृत्तसर्वस्वलक्षणम्"-स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० १। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०१ द्वि० पं० ९।

५ "एकप्रत्यवमर्शस्य य उक्ता हेतवः पुरा। अभयादिसमा अर्था प्रकृत्यैवान्यभेदिनः" ॥
"तानुपाश्रित्य यद् ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम्। कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्थो इत्येव निश्चितम्" ॥
तत्त्वसं० का० १००५-१००६ पृ० ३१७।

६ "प्रकृत्यैकाकारप्रत्यवमर्शस्य हेतवः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१७ पं० १३। ७-याऽर्थोपपत्तिविंबकं वा० बा०।-याऽर्थप्रतिबन्धकं भा० मा०।-याऽर्थाप्रतिबन्धकं हा० वि०। "तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिबिम्बकमर्थाभासो भाति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१७ पं० १६। प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० १। स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० ३। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०१ द्वि० पं० १२। ८ न चासामर्थ्याभावो ज्ञानावतदात्म्येनाव्यवस्थितः सन्नाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद्बाह्यकृतः वा० बा०।

९ "प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुन। प्राप्तिहेतुतयाऽश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपि ॥
"विजातीयपरावृत्तं तत् फलं यत् स्वलक्षणम्। तस्मिन्नध्यवसायाद्वा तादात्म्येनाऽस्य विप्लुतैः" ॥
"तत्राऽन्यापोह इत्येषा सञ्ज्ञोक्ता सनिबन्धना। स्वलक्षणेऽपि तद्वेतावन्यविश्लेषभावतः" ॥
तत्त्वसं० का० १००७-१००८-१००९-पृ० ३१७-३१८।

१०-प्रतिभासान्तरोद्भावनं स्वयं हा० वि०। "विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनाद् मुख्यः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१७ पं० २७। स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० ५। ११ उपचारस्तु वा०। १२ अन्यत्यवि-भा० कां०। १३-यापोहपदार्थे-भा०। "विजातीयापोहपदार्थेन"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१८ पं० ६। १४-त्वात्स्वेति भा० हा० वि० वा० बा०। १५ अचस्तु वा०। १६-सह्य-भा०। स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० ७। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०१ द्वि० पं० १३। १७ विशिष्ट वा० बा० विना। १८ तत्त्वसं० पृ० ३१८ शब्दार्थपरीक्षा।

[1]तत्र य एव [2]हि शाब्दे ज्ञाने साक्षा[3]द् भासते स एव[4] शब्दार्थो युक्तः। न[5] चात्र प्रसज्यप्रतिषेधावसायः, वाच्याध्यवसित[6]स्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वात्। नापीन्द्रियज्ञानवद् वस्तुस्वलक्षणप्रतिभासः, किं तर्हि? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलशाब्दी बुद्धिरुपजायते तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात् तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्त इति अपोहत्रये प्रथमोऽपोहव्यपदेशमासादयति।

यद्य[7]पि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्ष[8]णसम्बन्धः प्रसिद्धो नासौ कार्यकारणभावादन्योऽवतिष्ठते, [9]बाह्यरूपतयाऽध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वाद् वाच्यवाचकलक्षण[10]सम्बन्धः कार्यकारणभावात्मक एव; तथा च शब्दस्तस्य [11]प्रतिबिम्बात्मनो जनकत्वाद् वाचक उच्यते प्रतिबिम्बं च शब्दजन्यत्वाद् वाच्यम्।

[ 'निषेधमात्रमेव अन्यापोहः' इति मत्वा अपोहपक्षमाक्षिप्तवतः कौमारिलस्य निराकरणम् ]

तेन यदुक्त[12]म्—

'निषेधमा[13]त्रं नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासते'। इति,

तदसङ्गतम्; निषेधमात्रस्य शब्दार्थत्वानभ्युपगमात्। एवं तावत् प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजे[14]न्यत्वाद् मुख्यः शब्दार्थो व्यवस्थितः; शेषयोरप्यपोहयोर्गौ[15]णं शब्दार्थत्वमविरुद्धमेव। तथाहि—

"[16]साक्षादपि च एकस्मि[17]न्नेवं च प्रतिपा[18]दिते।
[19]प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०१३ ]

सामर्थ्यं च गवादिप्रतिबिम्बात्मनोऽपरप्रतिबिम्बात्मविविक्तत्वा[20]त् तदसंयुक्ततया प्रतीयमानत्वम्, तथा तत्प्रतीतौ प्रसज्यलक्षणापोहप्रतीतेरप्यवश्यं सम्भवात्; अतस्तस्यापि गौणशब्दार्थत्वम्। स्वलक्षणस्यापि गौणशब्दार्थत्वमुपपद्यत एव। तथाहि–प्रथमं यथावस्थितवस्त्वनुभवः, ततो विवक्षा, ततस्ताल्वादिपरिस्पन्दः, ततः शब्द इत्येवं परम्परया यदा शब्दस्य [21]बाह्यार्थैर्भिसम्बन्धः स्यात् तदा विजा[22]तीयव्यावृत्तस्यापि [23]वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगम इत्यन्यव्यावृत्तवस्त्वात्माऽपोहशब्दार्थ इत्युप[24]चर्यते। तदुक्तम्—

"न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः।
व्यावृत्तव[25]स्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यतः[26]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०१४ ]
"तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते।
न च साक्षादयं शब्दै[27] द्वि(द्वैर्द्वि) [28]विधोऽपोह उच्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०१५ ]

इति।

---

१ "तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोह प्रतिपाद्यते। बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात् समुद्भवात्" ॥ तत्त्वसं० का० १०११ पृ० ३१८।

२ हि शब्दे आ० हा० वि० विना। ३–क्षात् प्रतिभासते भा० मां०। ४–च शब्दोऽर्थो आ० हा०। –च शाब्दार्थो वा० बा०।–च शाब्दोऽर्थो का०। "स एव शब्दार्थो युक्त."–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१८ पं० २३। स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० ९। ५ न चाद्य भा०। "न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधाध्यवसायः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१८ पं० २३। ६–तबुद्ध्या–वा० बा०।

७ "तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धिय शब्दाच्च जन्मनि। वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मकः ॥ तत्त्वस० का० १०१२ पृ० ३१८।

८–क्षणः सम्ब–कां०। ९ वाह्यरूपतया वाचकलक्षणसंबन्धः कार्यकारणभावात्मक एव भां० भा० विना। स्याद्वादर० पृ० ३४९ द्वि० पं० १२। १०–णस्संबन्धः भा० मा०। ११–प्रतिबिम्बस्य जनक–भा० मां०। तथैव तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१९ पं० ७। १२ पृ० १८५ पं० २६। १३–मात्रमैवेह शा–वा० बा०।–मात्रमेवेह आ० हा० वि०। १४–जन्यमानत्वाद् मुख्यः भां० भां०। तथैव तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३१९ पं० १०। १५–गौणश–वा० बा०। १६ "साक्षादाकार एतस्मिन्नेवं च"–तत्त्वसं० पृ० ३१९ पं० १३। १७–स्मिन्नेव च बा० का०। १८–पाद्यते वा० बा० विना। १९–प्रसह्य–भां०। २०–त्वाच्च संयु–वि०। २१ बाह्यार्थैर्वस्तुभिः संबन्धः वा० बा०। बाह्यैर्भिसंबन्धः वि०। बाह्यैर्वस्तुभिः संबन्धः भा० मा०। "यदा शब्दस्य वस्तुभिर्बाह्यैरग्न्यादिभि संबन्धः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१९ पं० २५। २२–तीयाव्यावृ–वा० बा० विना। २३–स्तुनोऽर्थोपपत्तितो का०। २४–पवर्यते हा०। –पवर्जते भा०। २५–वस्त्वाभिग–वा०। २६ आत्मवा० स्याद्वादर० पृ० ४०२ प्र० पं० ४। २७ शब्दे द्वि–आ० हा० वि०। "शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते"–तत्त्वसं० पृ० ३१९ पं० १८। २८–विधापोह वा०।

[ उद्द्योतकरदूषितस्य दिग्नागकथनस्य अभिप्रायमुद्भाव्य कण्टकोद्धारः ]

तेनाचार्यदिग्नागस्योपरि यद् उद्द्योतकरेणोक्तम्–

"यदि[1] शब्दस्यापोहोऽभिधेयोऽर्थस्तदाऽभिधेयार्थव्यतिरेकेणास्य स्वार्थो वक्तव्यः, अथ स एव स्वार्थस्तथापि व्याहतमेतत् अन्यशब्दार्थापोहं हि स्वार्थं कुर्वती श्रुतिरभिधत्त इत्युच्यते इति, अस्य हि वाक्यस्यायमर्थस्तदानीं भवत्यभिद्यानाभिधत्त[2] इति" [अ० २ आ० २ सू० ६७ न्यायवा० पृ० ३३० पं० २२–पृ० ३३१ पं० ३ ] तदेतद् वाक्यार्था[3]परिज्ञानादुक्तम्। तथाहि–स्वलक्षणमपि[4] शब्दस्योपचारात् स्वार्थ इति प्रतिपादितम्[5]; अतः स्वलक्षणात्मके स्वार्थेऽर्थान्तरव्यवच्छेदं प्रतिविम्बान्तराद् व्यावृत्तं प्रतिविम्बात्मकमपोहं कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते[6] इत्युच्यते इत्येतदाचार्यीयं[7] वचनमविरोधि।

अयमाचार्यस्याशयः–न[8] शब्दस्य बाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पप्रतिविम्बोत्पादव्यतिरेकेणान्यो बाह्याभिधानव्यापारः, निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम्; अतो बाह्यार्थाध्यवसायेन प्रवृत्तं विकल्पप्रतिविम्बं जनयन्ती श्रुतिः स्वार्थमभिधत्त इत्युच्यते, न[9] तु विभेदिनं[10] सजातीयविजातीयव्यावृत्तं[11] स्वलक्षणमेषा स्पृशति, तथाविधप्रतिविम्बजनकत्वव्यतिरेकेण नापरा श्रुतेरभिधा[12] क्रियाऽस्तीत्यर्थः। एवंभूते चापोहस्य स्वरूपे न परोक्तदूषणावकाशः। तेन यदुक्तम्[13]–

'यदि गौरिति शब्दश्च' इत्यादि।

तत्र[14] गोबुद्धिमेव हि शब्दो जनयति, अन्यविश्लेषस्तु सामर्थ्याद् गम्यते न तु शब्दात् तस्य[15] गोप्रतिविम्बस्य प्रतिभासान्तरात्मरहितत्वात्–अन्यथा नियतरूपस्य[16] प्रतिपत्तिरेव न स्यात्–[17]तेनापरो ध्वनिर्गोबुद्धेर्जनको न मृग्यते, गोशब्देनैव गोबुद्धेर्जन्यमानत्वात्।

यदपि[18]–'ननु ज्ञानफलाः शब्दाः' इत्यादि कुमारिल[19]वचनम्,

तदप्यसारम्, यतो यथा[20] 'दिवा न भुङ्क्ते पीनो देवदत्तः[21]' इत्यस्य वाक्यस्य साक्षाद् दिवाभोजनप्रतिषेधः स्वार्थः, अभिधानसामर्थ्यगम्यस्तु रात्रिभोजनविधिर्न साक्षात्; तद्वत् 'गौः' इत्यादेरन्वयप्रतिपादकस्य[22] शब्दस्यान्वयज्ञानं साक्षात् फलम् व्यतिरेकगतिस्तु सामर्थ्यात्; यस्मादन्वयो

---

१ "यदि च शब्दस्याऽपोहो नाभिधेयार्थ"–न्यायवा० पृ० ३३० पं० २२। २ "भवत्यन्यदनभिदधानोऽभिधत्त इति"–न्यायवा० पृ० ३३१ पं० २। ३ वाच्यार्थो–भा० मा०।

४ "अर्थान्तरव्यवच्छेदं कुर्वती श्रुतिरुच्यते। अभिधत्त इति स्वार्थमित्येतदविरोधि तत्" ॥

तत्त्वस० का० १०१६ पृ० ३२०।

५ पृ० २०३ पं० २५। ६–भिवर्तत इत्यु–आ० हा० वि०। ७–चार्यीयं आ० हा० वि०।

८ "बाह्यार्थाध्यवसायेन प्रवृत्तं प्रतिविम्बकम्। उत्पादयति येनेयं तेनाहेत्यपदिश्यते" ॥

तत्त्वस० का० १०१७ पृ० ३२०।

९ "न तु स्वलक्षणात्मानं स्पृशत्येषा विभेदिनम्। तन्मात्राशातिरेकेण नास्त्यस्या अभिधा क्रिया" ॥

तत्त्वसं० का० १०१८ पृ० ३२०।

१० विभेदनं आ० वा० वा०। ११ सजातीयव्यावृत्तं आ० हा० वि०। १२ श्रुतिरभिधा भा० मा०। १३ पृ० १८६ पं० ३।

१४ "तस्य च प्रतिविम्बस्य गतावेवानुगम्यते। सामर्थ्यादन्यविश्लेषो नास्यान्यात्मकता यत" ॥

तत्त्वस० का० १०१९ पृ० ३२०।

१५ तस्यागोप्रतिप्रभासान्त–आ०। तस्य गोप्रतिभासान्त–हा० वि०। तस्य गोशप्रतिभासान्त–वा० वा०। १६–रूपस्याप्रति भा० मा० विना। "नियतरूपस्य तस्य प्रतिपत्तिरेव न स्यात्"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३२० पं० २८। १७ तेन परो भा० मा० विना। १८ पृ० १८६ पं० ५। पृ० १८५ गतं चतुर्दशतम टिप्पणं विलोकनीयम्। १९ मुद्रिते श्लोकवार्तिके नैतत् कुमारिलवचनं दृश्यते, तत्त्वसङ्ग्रहे तु मूलकारिकासु दृश्यते, किन्तु तत्पञ्जिकाकारेण कमलशीलेन तत् पद्यं भामहकर्तृकत्वेन परिचायितम्, उपलभ्यते चैतत् भामहालंकारे।

२० "दिवाभोजनवाक्यादेरिवाऽस्यापि फलद्वयम्। साक्षात् सामर्थ्यतो यस्मान्नान्वयोऽव्यतिरेकवान्" ॥

तत्त्वस० का० १०२० पृ ३२१।

२१–दत्तस्य वाक्यस्य भा० मा० वा० वा० विना। २२–कशब्दस्या–भा० मा० वा० वा० विना।

विधिरव्यतिरेकवाञ्चास्ति विजातीयव्यवच्छेदाव्यभिचारित्वात् तस्य; इत्येकज्ञानस्य फलद्वयमविरुद्धमेव। [1]यतो यदि साक्षादेकस्य शब्दस्य विधि-प्रतिषेधज्ञानलक्षणं फलद्वयं युगपदभिप्रेतं स्यात् तदा भवेद् विरोधः; यदा तु दिवाभोजनवाक्यवदेकं साक्षात् अपरं सामर्थ्यलभ्यं फलमभीष्टं तदा को विरोधः?

यच्चोक्तम्[2]-'प्रागगौरिति ज्ञानम्' इत्यादि,

तदपि निरस्तम्; अनभ्युपगमात्—न ह्यगोप्रतिषेधमाभिमुख्येन गोशब्दः करोतीत्यभ्युपगतमस्माभिः, किं तर्हि? सामर्थ्यादिति।

यच्चोक्तम्[3]—'अगोनिवृत्तिः सामान्यम्' इत्यादि,

तदप्यसत्; बाह्य[4]रूपतयाऽध्यस्तो बुद्ध्याकारः सर्वत्र शावलेयादौ 'गौर्गौः' इति समानरूपतयावभासनात् सामान्यमित्युच्यते। बाह्यवस्तुरूपत्वमपि तस्य भ्रान्तप्रतिपत्तृवशाद् व्यवह्रियते न परमार्थतः।

[5]ननु च यदि कदाचित् मुख्यं वस्तुभूतं सामान्यं [6]बाह्यवस्त्वाश्रितमुपलब्धं भवेत् तदा तत्साधर्म्यदर्शनात् तत्र [7]सामान्यभ्रान्तिर्भवेत् यावता मुख्यार्थासम्भवे सैव भवतामनुपपन्ना, असदेतत्; साधर्म्यदर्शनाद्यनपेक्षद्विचन्द्रादिज्ञानवत् अन्तरुपप्लवादपि तज्ज्ञानसम्भवात्; न हि [8]सर्वा भ्रान्तयः साधर्म्यदर्शनादेव भवन्ति, किं तर्हि? अन्तरुपप्लवादपीत्यदोष इति सिद्ध[9]साध्यतादोषो न भवति। [10]स एव बुद्ध्याकारो बाह्यतयाऽध्यस्तोऽपोहो बाह्यवस्तुभूतं सामान्यमिवो[11]च्यते वस्तुरूपत्वेनाध्यवसायात्, शब्दार्थत्वाऽपोहरूपत्वयोः प्रागेव कारणमुक्तम्—

'[12]बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात् स[13]मुद्भ[14]वात्'

'[15]प्रतिभासान्तराद् भेदात्' इत्यादिना।

कस्मात् पुनः परमा[16]र्थतः सामान्यमसौ न भवति? बुद्धे[17]र्व्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरानुगमाभावात्। तदु[18]क्तम्—

'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्'।

न च भवद्भिर्बुद्ध्या[19]कारो गोत्वाख्यं सा[20]मान्यं वस्तुरूपमिष्टम्, किं त[21]र्हि? बाह्यशावलेयादिगतमेकमनुगामि गोत्वादि सामा[22]न्यमुपकल्पितम्; अतः कुतः सिद्धसाध्यता। य[23]च्चोक्तम्—

'निषेधमात्ररू[24]पश्च' इत्यादि,

तस्यानभ्युपगतत्वादेव न दोषः। यच्चेदमु[25]क्तम्—

'त[26]स्यां चाश्वादिबुद्धीनाम्' इत्यादि,

---

१ "नाभिमुख्येन कुरुते यस्माच्छब्द इद द्वयम्। स्वार्थाभिधानमन्यस्य विनिवृत्तिं च वस्तुन" ॥
तत्त्वसं० का० १०२१ पृ० ३२१।

२ पृ० १८६ पं० ७। ३ पृ० १८६ पं० १७ तथा ३९।

४ "तादृशः प्रतिभासश्च सामान्यं गोत्वमिष्यते। सर्वत्र शावलेयादौ समानत्वावसायतः" ॥
तत्त्वसं० का० १०२२ पृ० ३२१।

५ "वस्त्वित्यध्यवसायाच्च वस्त्वित्यपि तदुच्यते। भ्रान्तिरेव हि तज्ज्ञानं भ्रान्तं जातं स्वबीजतः ॥
तत्त्वसं० का० १०२३ पृ० ३२२।

६ बाह्यं वस्त्वा-बा०। बाह्यवस्तुरूपत्वं निश्चितमुप-वि०। ७ "सामान्य भ्रान्तिर्भवेत्"-तत्त्वसं० पञ्जि० ३२२ प० ५। ८ सर्वभ्रान्त-आ०। ९ पृ० १८७ प० १०।

१० "स एव च तदाकारशब्दार्थोऽपोह उच्यते। सामान्यं वस्तुरूपं न तथा भ्रान्त्याऽवसायत" ॥
तत्त्वसं० का० १०२४ पृ० ३२२।

११-च्यतेऽवस्तु-बा०। १२ बाह्यार्थव्यवसा-आ० हा० वि०। १३-मुद्भेदात् आ०। १४ पृ० २०३ पं० १ तथा २७। १५ पृ० २०२ पं० १० तथा ३१। १६-मार्थतत्सामा-आ० हा० वि०।

१७ "सामान्यवस्तुरूपत्वं न युक्तं तस्य भाविकम्। बुद्धेरनन्यरूपं हि यायादर्थान्तर कथम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०२५ पृ० ३२२।

१८ पृ० १८४ पं० १० तथा ३१। १९-कारे गो-आ० हा०।-कारगो वि०। २०-मान्यवस्तु-बा०। २१ तर्हि शाव-वि०। २२-न्यमनुपकल्पित-आ० का० बा०।-न्यमनुकल्पित-हा०।-न्यमसौवुपकल्पित-वि०। २३ पृ० १८७ प० २१ तथा ३९। २४-रूपाश्च आ०। २५ पृ० १८७ पं० २२ तथा ४३। २६ तस्यां वाश्वा-बा० वा० विना।

तदप्यसद्; यतः–

"यद्यप्यव्यतिरिक्तोऽयमाकारो बुद्धिरूपतः।
तथापि बाह्यरूपत्वं भ्रान्तैस्तस्यावसीयते" ॥ [तत्त्वसं० का० १०२६]

यदपि 'शब्दार्थोऽर्थानपेक्षः' इति,

तत्र, यत्र हि पारम्पर्याद् वस्तुनि प्रतिबन्धोऽस्ति तस्य भ्रान्तस्यापि सतो विकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवत्र बाह्यार्थानपेक्षत्वमस्ति, अतोऽसिद्धं बाह्यार्थानपेक्षत्वम्।

यच्च–'वस्तुरूपावभासा (रूपा च सा) बुद्धिः' इत्यादि,

तत्र यद्यपि वस्तुरूपा सा बुद्धिस्तथापि तस्यास्तेन बाह्यात्मना बुद्ध्यन्तरात्मना च वस्तुत्वं नास्तीति प्रतिपादितम्। तेन 'बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरापोहो' न गम्यते' इत्यसिद्धम् सामर्थ्येन गम्यमानत्वात्।

'असत्यपि च बाह्येऽर्थे' इति,

अत्र यथैव हि प्रतिबिम्बात्मकः प्रतिभाख्योऽपोहो वाक्यार्थोऽस्माभिरुपवर्णितस्तथैव पदार्थोऽपि, यस्मात् पदादपि प्रतिबिम्बात्मकोऽपोह उत्पद्यत एव, पदार्थोऽपि स एव; अतो न केवलं 'वाक्यार्थ इति' विप्रतिपत्तेरभावाद् नोप(पा)लम्भो युक्तः।

'बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न बुद्धेः प्रतीयते' इत्यादावपि

यतः एव हि स्वरूपोत्पादनमात्रादन्यमंशं सा न बिभर्ति तत एव स्वभावव्यवस्थितत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदः प्रतीयते; अन्यथाऽन्यस्वरूपं बिभ्रती कथं ततो व्यवच्छिन्ना प्रतीयते?

'भिन्नसामान्यवचनाः' इत्यादावपि

यथैवं ह्यपोहस्य निःस्वभावत्वादरूपस्य परस्परतो भेदो नास्तीत्युच्यते तथैवाऽभेदोऽपि इति कथमभिन्नार्थाभावे पर्यायत्वासञ्जनं क्रियते? अभेदो ह्येकरूपत्वम्, तच्च नीरूपेष्वेकरूपत्वं नास्तीति न

---

१ पृ० १८७ पं० ४४ तथा पृ० १८८ पं० ११। २–र्थोऽनपेक्ष–हा०।

३ "तस्य नार्थानपेक्षत्वं पारम्पर्यात् तदागते। तेनात्मना न वस्तुत्वं नैवास्तीत्युपपादितम्" ॥

तत्त्वसं० का० १०२७ पृ० ३२३।

४–स्तुने प्रतिबिम्बोऽस्ति तस्याभ्रान्त–बा०। ५–क्षमस्ति हा०। ६–क्षं यच्च भा० मा० विना। ७ पृ० १८८ पं० ४ तथा पं० २७। ८ वस्तुरूपावसा सा बुद्धिः वा० बा०। वस्तुत्वरूपावभासबुद्धिः भा० मां०। ९–यत्रापि मां०। १०–सा वस्तु–बा०। ११ पृ० २०३ प० २३। "बाह्यात्मना बुद्ध्यन्तरात्मना न वस्तुत्वं नास्तीत्युपपादितम् 'न तदात्मा परात्मा' इत्यादिना"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२३ पं० ९। १२–त्वं न बु–बा० भा० विना। १३–हो नागम्य–बा०। १४ पृ० १८८ पं० १४ तथा पं० ३३। १५ पृ० १८८ पं० ११ तथा ३०।

१६ "प्रतिबिम्बात्मकोऽपोहः पदादप्युपजायते। प्रतिभाख्यो झटित्येव पदार्थोऽप्ययमेव न." ॥

तत्त्वसं० का० १०२८ पृ० ३२३।

१७–त्मकं प्र–भा०। १८ वा स्वार्थो–मां०। "बाह्यार्थो"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२३ पं० १५। १९ "वाक्यार्थ इति"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२३ पं० १७। २०–ति प्रति–हा०। २१–पत्तिरभावतोपलम्भो बा०। २२ "नोपालम्भो युक्त"–तत्त्वसं० पञ्जि० ३२३ पं० १८। २३ पृ० १८८ प० १४ तथा प० ३३।

२४ "स्वरूपोत्पादमात्राद्धि नान्यमंशं बिभर्ति सा। बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदस्तेन बुद्धेः प्रतीयते" ॥

तत्त्वसं० का० १०२९ पृ० ३२३।

२५–दमात्रादन्यमावां सा बा० बा०। २६–न्यमशं आ० हा०।–न्यमात्रां वि०। २७ एव व्यव–बा०। २८–था स्वरूपं मां० मा०।–थान्येस्वरूपं आ० हा० वि०। २९ पृ० १८८ पं० १८ तथा प० ३७।

३० "यथैवाविद्यमानस्य न भेदः पारमार्थिक। अभेदोऽपि तथैवेति तेन(येन)पर्यायता भवेत्" ॥

तत्त्वसं० का० १०३० पृ० ३२३।

३१–रूपस्यापरस्परतो हा०।

३२ "अभेदो ह्येकरूपत्वं नीरूपेषु च तत् कुत। एकत्वेऽर्थस्य पर्याया आप्नुवन्ति च वाचका" ॥

तत्त्वसं० का० १०३१ पृ० ३२४।

पर्यायता[1] । स्यादेतत् यदि नाम नीरूपेष्वेकरूपत्वं भावो नास्ति तथापि काल्पनिकस्य[2] तस्य भावात् पर्यायतालक्षणं युक्तमेव[3] । नन्वेवं[4] पर्याया[5]ऽपर्यायव्यवस्था शब्दानां कथं युक्ता ? उक्तं च—

"रूपाभावेऽपि[6] चैकत्वं कल्पनानिर्मितं यथा ।
विभेदोऽपि तथैवेति कुतः पर्यायता ततः" ? ॥ [ तत्त्वसं० का० १०३२ ]
"भावतस्तु न पर्याया न[7] पर्यायश्च (नापर्यायाश्च) वाचकाः ।
न ह्येकं[8] वाच्यमेतेषा[9]मनेकं चेति वर्णितम्[10]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०३३ ] इति ।

यदि परमार्थतो भिन्नमभिन्नं वा किञ्चिद् वाच्यं[11] वस्तु शब्दानां स्यात् तदा पर्यायापर्यायता भवेत् यावता—'स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा' इत्यादिना[12] वर्णितम्—यथैषां न किञ्चिद् वाच्यमस्तीति । पर्यायादि[13]व्यवस्था तु अन्तरेणापि सामान्यम् सामान्यादिशब्दत्वस्य व्यवस्थार्प[14]णात् । तस्य चेदं निबन्धनं[15] यद् बहूनामेकार्थक्रियाकारित्वम्-प्रकृत्या केचिद् भावा बहवोऽप्येकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति; तेषामेकार्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनाय व्यवहर्तृभिर्लाघवार्थमेकरूपाध्यारोपेणैका श्रुतिर्निवेश्यते, यथा[16]-बहुषु रूपादिषु मधूदकाद्याहरणलक्षणैकार्थक्रियासमर्थेषु 'घटः' इत्येका श्रुतिर्निवेश्यते । कथं पुनरेकेनानुगामिना विना बहुष्वेका श्रुतिर्नियोक्तुं शक्या[17] ? इति न वक्तव्यम्, इच्छामात्र[18]प्रतिबद्धत्वात् शब्दाना[19]मर्थप्रतिनियमस्य । तथाहि—चक्षु[20]-रूपाऽऽलोक-मनस्कारेषु रूपविज्ञानैकफलेषु यदि कश्चिद् विनाप्येकेनानुगामिना सामान्येनेच्छावशादेकां श्रुतिं निवेशयेत्[21] तत् किं तस्य कश्चित् प्रतिरोद्धा भवेत् ? न हि तेषु लोचनादिष्वेकं चक्षुर्विज्ञानजनकत्वं सामान्यमस्ति यतः सामान्य-समवाय[22]-विशेषा[23] अपि भवद्भिः चक्षुर्ज्ञानजनका अभ्युपगम्यन्ते, न च तेषु[24] सामान्यसमवायोऽस्ति निःसामान्यत्वात् सामान्यस्य, समवायस्य च द्वितीयसमवायाभावात् ।

न च[25] घटादिकार्यस्योदकाहरणादेस्तज्ज्ञानस्य च स्वलक्षणरूपत्वेन भिन्नत्वात् कथमेककार्यकारित्वम् ? इति वक्तव्यम्, यतो यद्यपि[26] स्वलक्षणभेदात् तत्कार्यं भिद्यते तथापि ज्ञानाख्यं तावत् कार्यमेकार्था[27]ध्यवसायिपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकम्, तज्ज्ञानहेतुत्वाच्चार्था[28] घटादयोऽभेदिन इत्युच्यन्ते[29] ।

---

१-पत्वं भवतो नास्ति वा० बा० । "भावतो नास्ति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२४ पं० ९ । २-कस्य भावा-बा० ।-कस्य तस्य तावत् पर्याय-मां० । ३ एतदेव पर्यायतालक्षणं 'रूपाभावेऽपि' इत्यादिश्लोकेन प्रत्युक्तम् -प्र० पृ० पं० ३ । ४ 'नन्वेवम्' इत्यादिनाऽऽशङ्कितं तु 'भावतस्तु न' इत्यादिना श्लोकेन समाहितम्-प्र० पृ० पं० ५ । ५ पर्यायव्यव-बा० बा० आ० । ६-पि वैकत्वं भा० हा० । ७ न पर्यायस्य मां० वा० बा० विना । "नापर्यायाश्च"-तत्त्वसं० का० १०३३ पृ० ३२४ । ८ न ह्येवं वा-बा० । न ह्येक वा-मां० मा० । "न ह्येकं वाच्यम्"-तत्त्वसं० का० १०३३ पृ० ३२४ । ९-षां मनेकं चेति आ० ।-षां मते किञ्चिद्विवर्णि-वि० ।-षामनेकान्तवर्णिताम् बा० । १० श्लोकद्वयमेतत् शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०२ द्वि० पं० १२-१३ ।

११ वाच्यवस्तु शब्दानां वाच्यं स्यात् मा० । १२ पृ० १७४ पं० २३ तथा ४० ।

१३ "किन्त्वनेकोऽपि यथैककार्यकारी य ईक्ष्यते । तत्रैकधर्मारोपेण श्रुतिरेका निवेश्यते" ॥

तत्त्वसं० का० १०३४ पृ० ३२४ ।

१४-पनस्य चे-आ० हा० वि० ।-पणा तस्य चे-बा० वा० । "सामान्यशब्दत्वव्यवस्थाया इदं निबन्धनम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२४ पं० २३ । १५-न्धनं बहू-वा० बा० विना । १६-था चहुषु रू-बा० ।-था बाहुषु रू-हा० वि० ।-था बाहुरू-आ० । १७ शक्यते न वक्त-मां० मा० । शक्यते ति (इति) न वक्त-वा० बा० ।

१८ "लोचनादौ यथा रूपविज्ञानैकफले क्वचित् । कश्चिद् यदि श्रुतिं कुर्याद् विनैकेनानुगामिना" ॥

तत्त्वस० का० १०३५ पृ० ३२५ ।

१९ शब्दार्थानामर्थ-मां० । २० चक्षुरूपालोकनमस्कारे-भा० मा० विना । २१-शयेन्न किं आ० बा० वा० ।-शयेत्त किं मा० मां० । २२ समवायिविशे-आ० वि० । समवासिविशे-हा० । समायिवि-बा० बा० । २३-षा पि भा० । २४-षु असामा-भा० । २५ च घटादि-वा० बा० ।

२६ "घटादीनां च यत् कार्यं जलादेर्धारणादिकम् । यच्च तद्विषयं ज्ञानं भिन्नं यद्यपि तद् द्वयम्" ॥
"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वादेकमुच्यते । ज्ञानं तथापि तद्धेतुभावादर्था अभेदिन" ॥

तत्त्वस० का० १०३६-१०३७ पृ० ३२५ ।

२७-र्थावसायपरा-मां० मा० ।-र्थाव्यवसायिपरा-बा० बा० । २८-च्चार्था घटाद्-मां० मा० । २९ -त्युच्यते बा० ।

न च योऽसो परामर्शप्रत्ययस्तस्यापि[1] स्वलक्षणरूपतया भिद्यमानत्वादेकत्वासिद्धेरपरापरैकाकारपरामर्शप्रत्ययकार्यानुसरणतोऽनवस्थाप्रसङ्गतो ने(नै)ककार्यतया क्वचिदेकश्रुतिनिवेशो बहुषु[2] सिद्धिमुपगच्छतीति वाच्यम्; यतो न[3] परामर्शप्रत्ययस्यैककार्यकारितयैकत्वमुच्यते, किं तर्हि? एकाध्यवसायितया। स्वयमेव परामर्शप्रत्ययानामेकत्वसिद्धेर्नानवस्थाद्वारेणैकश्रुतिनिवेशाभावः, अत[4] एकाकारपरामर्शहेतुत्वाद् ज्ञानाख्यं कार्यमेकम्[5]; तद्धेतुत्वाद्[6] घटादय एकत्वव्यपदेशभाजः। तेन विनापि वस्तुभूतं सामान्यं[7] सामान्यवचना[8] घटादयः सिद्धिमासादयन्ति। तथा, कश्चिदेकोऽपि[9][10] प्रकृत्यैव सामग्र्यन्तरान्तःपातवशादनेकार्थक्रियाकारी[11] भवति[12] व्यतिरेकेणापि वस्तुभूतसामान्यधर्मभेदम्[13], तत्रातत्कार्यपदार्थभेदभूयस्त्वात्[14] अनेकश्रुतिसमावेशः अनेकधर्मसमारोपात्, यथा[15]- स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धकारित्वाद् रूपं सप्रतिघम्[16]-सह[17] निदर्शनेन चक्षुर्ज्ञानजनकत्वेन वर्तत इति[18]-सनिदर्शनं[19] च तदेवोच्यते, यथा वा शब्द एकोऽपि प्रयत्नानन्तरज्ञानफलतया 'प्रयत्नानन्तरः' इत्युच्यते, श्रोत्रज्ञानफलत्वाच्च[20] श्रावणः-श्रुतिः[21] श्रवणं श्रोत्र (त्र) ज्ञानम् तत्प्रतिभासतया[22] तत्र भवः श्रावणः, यद्वा श्रवणेन गृह्यत इति श्रावणः-एवमतत्कार्यभेदेनैकस्मिन्नप्यनेका[23] श्रुतिर्निवेश्यमानाऽविरुद्धा। अतत्कारणभेदेनापि क्वचित् तन्निवेशः, यथा[24]-भ्रामरं मधु क्षुद्रादिकृतमधुनो व्यावृत्त्या। तथा[25] तत्कार्यकारणपदार्थव्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनेच्छया अन्तरेणापि सामान्यं श्रुतेर्भेदेन निवेशनं सम्भवति-

"अश्रावणं[26] यथा रूपं विद्युद्वाऽयत्नजा यथा" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०४२ ]

"इत्यादिना प्रभेदेन विभिन्नार्थनिबन्धनाः[27]।

---

१-पि विलक्षणरूप-वा०। २-हुष(ष्व)मितिसिद्धिमु-वा० वा०।-हुपु शुद्धिमु-भा० मा०। ३ "न हि प्रत्ययमर्शप्रत्ययस्यैककार्यतयैकत्वमुच्यते, किं तर्हि? एकार्थाध्यवसायितया। तेन नानवस्था भविष्यति"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३२५ पं० २४। ४ अत एव एकापरा-वा० वा०। ५ कार्यमेत्येकम् वा०। ६-तु भावात् घटा-भा० मा०। ७ सामान्यं वचनाद् घटा-वा० वा०। सामान्यं चना घटा-भा०। सामान्यं चन घटा-का०। सामान्यं सामान्यवता घटा-हा०। वि० प्रतौ तु हा० समानोऽपि पाठ 'सामान्यं सामान्यवन्तो घटा'-इति पश्चात् संशोधितो दृश्यते।

८ "तत्र सामान्यवचना उक्ता. शब्दा घटादय । विजातीयव्यवच्छिन्नप्रतिबिम्बैकहेतव" ॥

तत्त्वस० का० १०३८ पृ० ३२६।

९ "तथाऽनेकार्थकारित्वादेको नैक इवोच्यते। अतत्कार्यपरावृत्तिबाहुल्यपरिकल्पित" ॥

तत्त्वस० का० १०३९ पृ० ३२६।

१०-कोऽपो प्रकृत्यैव भा० हा० वि०।-कोऽपोहः प्रकृत्यैव का०। ११-रान्तपात-भा०। रातः परवशाद्देने-वा०। १२ "भवति। तत्रान्तरेणापि वस्तुभूतसामान्यादिधर्मभेदम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३२६ पं० ११। १३-दाम् वा०। अत्र "गौणात् समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया"-इति है० अ० २ पा० २ सू० ३३ गतेन बहुवचनेन 'व्यतिरेकेण' इत्यस्य योगेऽपि द्वितीया समावेया। १४ तत्रा न कार्यपदार्थभेदभूतत्वा-वा० वा०। तत्र तत्कार्यपदार्थभेदभूयत्वा-भा० का०। तत्र तत्कार्यपदार्थभेदभूयस्त्वा-वि०। तत्र तत्कार्यभेदभूयस्त्वा-हा०।

१५ "यथा सप्रतिघं रूपं सनिदर्शनमित्यपि। प्रयत्नानन्तरज्ञातो यथा वा श्रावणो ध्वनिः" ॥

तत्त्वस० का० १०४० पृ० ३२६।

१६-प्रतिपं भा० हा० वि०। १७ सह दर्शा-वा० हा० वि०। १८-ति संनिदर्शनं तदे-भा० मां०। १९-नं तदे-भा० हा० वि०। २० श्रोतृज्ञा-वा० वा० विना। २१ श्रुतिः श्रोतृ-भा० मा०। २२ तत्र प्रति-भा० मा०। २३-न्नप्येका मा०।

२४ "अतत्कारणभेदेन क्वचिच्छब्दो निवेश्यते। प्रयत्नोत्थो यथा शब्दो भ्रामर वा यथा मधु" ॥

तत्त्वसं० का० १०४१ पृ० ३२६।

२५ तथाऽतत्का-वा० वा० विना। "इदानीं तत्कार्यकारणपदार्थव्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनेच्छया"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३२६ पं० २७। २६ अस्य पूर्वार्धं तु-"तत्कार्य-हेतुविश्लेषात् क्वचिच्छ्रुतिरिहोच्यते"-तत्त्वसं० पृ० ३२७ पं० २। २७-ना वा० वा० विना।

व्यावृत्तयः प्रकल्प्यन्ते तन्निष्ठाः (ष्ठाः) श्रुतयस्तथा" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०४३ ]

"यथासङ्केतमेवातोऽसङ्कीर्णार्थाभिधायिनः।
शब्दा विवेकतो वृत्ताः पर्याया न भवन्ति न (नः)" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०४४ ]

श्रोत्रज्ञानफलेशब्दव्यवच्छेदेन 'अश्रावणं रूपम्' इत्युच्यते, प्रयत्नकारणघटादिपदार्थव्यवच्छेदेन 'विद्युदप्रयत्नजा' इत्यभिधीयते। अन्तरेणापि सामान्यादिकं वस्तुभूतम् व्यावृत्तिकृतमेव शब्दानां भेदेन निवेशनं सिद्धम्, पर्यायत्वप्रसङ्गाभावश्च विभिन्नार्थनिबन्धनव्यावृत्तिनिष्ट(ष्ठ)त्वे श्रुतीनां सिद्धः।

स्यादेतत् मा भूत् पर्यायत्वमेषाम् अर्थभेदस्य कल्पितत्वात्; सामान्यविशेषवाचित्वव्यवस्था तु विना सामान्य-विशेषाभ्यां कथमेषाम्? उच्यते—

"बह्वल्पविषयत्वेन तत्सङ्केतानुसारतः।
सामान्य-भेदवाच्यत्वमप्येषां न विरुध्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०४५ ]

वृक्षशब्दो हि सर्वेष्वेव धव-खदिर-पलाशादिष्ववृक्षव्यवच्छेदमात्रानुस्यूतं प्रतिबिम्बकं जनयति; तेनास्य बहुविषयत्वात् सामान्यं वाच्यमुच्यते, धवादिशब्दस्य तु खदिरादिव्यावृत्तकतिपयपादपाध्यवसायिविकल्पोत्पादकत्वाद् विशेषो वाच्य उच्यते। यदुक्तम्—

'अपोह्यभेदेन' इत्यादि,

तत्र—

"ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थानां कल्पनाशिल्पिनिर्मिताः।
नापोह्याधारभेदेन भिद्यन्ते परमार्थतः" ॥
"तासां हि बाह्यरूपत्वं कल्पितं न तु वास्तवम्।
भेदाभेदौ च तत्त्वेन वस्तुन्येव व्यवस्थितौ" ॥
"स्वबीजानेकविश्लिष्टवस्तुसङ्केतशक्तितः।
विकल्पास्तु विभिद्यन्ते तद्रूपाध्यवसायिनः" ॥
"नैकात्मतां प्रपद्यन्ते न भिद्यन्ते च खण्डशः।
स्वलक्षणात्मका अर्था विकल्पः प्लवते त्वसौ" ॥
[ तत्त्वसं० का० १०४६-१०४७-१०४८-१०४९ ]

अस्य सर्वस्याप्ययमभिप्रायः—यदि हि पारमार्थिकोऽपोह्यभेदेनाधारभेदेन वाऽपोहस्य भेदोऽभीष्टः स्यात् तदेतद् दूषणं स्यात् यावता कल्पनया सजातीयविजातीयपदार्थभेदैरिव व्यावृत्तयो भिन्नाः कल्प्यन्ते न परमार्थतः, ततः ताश्च कल्पनावशाद्व्यतिरिक्ता इव वस्तुनो भासन्ते न परमार्थतः। परमार्थतस्तु विकल्पा एव भिद्यन्ते अनादिविकल्पवासनाऽन्यविविक्तवस्तुसङ्केतादेर्निमित्ताद् व्यावृत्तवस्त्वध्यवसायिनः न त्वर्थाः। तथाहि—वृक्षत्वादिसामान्यरूपेण नैकात्मतां धवादयः प्रतिपद्यन्ते, नापि क्षणिकाऽनात्मकादिधर्मभेदेन खण्डशो भिद्यन्ते, केवलं विकल्प एव तथा प्लवते, न त्वर्थः।

---

१ तन्निष्ठाः वा० बा०। २-वातेऽ-बा०। ३ वृत्ता प-बा०। वृत्तौ प-आ० का०। ४ 'भवन्ति नः' इति वि० सं०। ५-लव्यव-आ० हा० वि०। ६ "एवमन्तरेणापि सामान्यादिकम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२७ पं० ८। ७-श्च भिन्ना-भा० मा०। ८ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ प्र० पं० १। ९ हि स्वेष्वेव भां० मा०। १०-न्नास्यूतं आ० हा० वि०। ११ पृ० १८९ पं० १ तथा २२। १२ अपोहते भेदेन त्यादि वा० बा०। अपोह्यभेदनेत्यादि आ० हा० वि०। १३ तत्र तोश्च आ० वा० बा०। तत्र चोश्च हा०। तत्र चो येश्च वि०। १४-जान्तेन विशिष्ट-वा० बा०। १५-सायिनी भा०। १६-त्मनां आ० हा० वि०। १७ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ प्र० पं० ६-९। १८ तदेतद् वा० बा०। १९ "कल्पनया सजातीयविजातीयपदार्थभेदनिबन्धना व्यावृत्तयो भिन्नाः कल्प्यन्ते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२८ पं० ५। २०-दार्थाभेदोरव्यावृ-वा०।-दार्थाभेदैरिव व्यावृ-आ०। २१ कल्पन्ते भा० मां०। २२-मार्थतस्ताश्च कल्पना-वा०।-मार्थतः स्ततः श्च कल्पना-आ०। २३ वृक्षादि-वा० बा०। २४-त्मनां वा० बा० आ० हा० वि०।

यथोक्तम्–

"संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः।
रूपमेकमनेकं वा तेषु बुद्धेरुपप्लवः" ॥ [ ] इति।

यच्चोक्तम्–'न चाप्रसिद्धसारूप्य'-इत्यादि।

तत्र–

"एकधर्मान्वयासत्त्वेऽप्यपोह्याऽपोहगोचराः।
वैलक्षण्येन गम्यन्तेऽभिन्नप्रत्यवमर्शकाः" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०५० ]

अपोह्याश्च अपोहगोचराश्चेति विग्रहः। तत्रापोह्या अश्वादयः गोशब्दस्य तदपोहेन प्रवृत्तत्वात्, अपोहगोचराः शाबलेयादयः तद्विषयत्वाद् अगोपोहस्य तेन यद्यप्येकस्य सामान्यरूपस्यान्वयो नास्ति तथाप्यभिन्नप्रत्यवमर्शहेतवो ये ते प्रसिद्धसारूप्या भवन्ति, ये तु विपरीतास्ते विपरीता इति। स्यादेतत् तस्यैवैकप्रत्यवमर्शस्य हेतवोऽन्तरेण सामान्यमेकं कथमर्था भिन्नाः सिद्ध्यन्ति? उच्यते–

"एकप्रत्यवमर्शे हि केचिदेवोपयोगिनः।
प्रकृत्या भेदवन्तोऽपि नान्य इत्युपपादितम्" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०५१ ]

प्रतिपादितमेतत् सामान्यपरीक्षायाम्–'यथा धात्र्यादयोऽन्तरेणापि सामान्यमेकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति तथैकप्रत्यवमर्शहेतवो भिन्ना अपि भावाः केचिदेव भविष्यन्ति' इति।

'न चान्वयविनिर्मुक्ता' इत्यादावाह–यद्यपि सामान्यं वस्तुभूतं नास्ति तथापि विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणमात्रेणैवान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते।

"यस्मिन्नधूमतो भिन्नं विद्यते हि स्वलक्षणम्।
तस्मिन्ननग्नितोऽप्यस्ति परावृत्तं स्वलक्षणम्" ॥

"यथा महानसे वेह विद्यतेऽधूमभेदि तत्।
तस्मादनग्नितो भिन्नं विद्यतेऽत्र स्वलक्षणम्" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०५३-१०५४ ]

अवयवपञ्चकमपि स्वलक्षणेनान्वये क्रियमाणे शक्योपदर्शनमित्येवं प्रयोगप्रदर्शनं कृतम्, इदं च कार्यहेतावुदाहरणम्। स्वभावहेतावपि–यद् असतो व्यावृत्तं स्वलक्षणं तत् सर्वं स्थिरादपि व्यावृत्तम्, यथा बुद्ध्यादि, तथा चेदं शब्दादि स्वलक्षणमसद्रूपं न भवतीति। अमुना न्यायेन विशे-

---

१ संयुज्यन्ते भा० मा०। २ न विद्य–वि०। ३–षु बुद्धिरूप–वा० बा०।–षु बुद्धे रूप–मा०। –षु बुद्धेरुप–भा०। ४ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२८ पं० २१। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ प्र० पं० १०। ५ यथोक्तं नवा बा०। ६ पृ० १८९ पं० १३ तथा ३५। ७–यत्वाद्ऽगो–हा०।–यत्वात् गो–आ०। –यत्वाद् गो–वि०। ८ तस्यैकैक–वा० बा०। ९–ध्यन्ति एक–वा० बा०। १० "भेदवत्त्वेऽपि"–तत्त्वसं०। ११ पृ० २०२ पं० ४ तथा २३। १२ तत्त्वसंग्रहे सामान्यपरीक्षा पृ० २३६-२६२ का० ७०८-८१२।

१३ "यथा धात्र्यभयादीना नानारोगनिवर्तने। प्रत्येकं सह वा शक्तिर्नानात्वेऽप्युपलभ्यते" ॥
"एवमत्यन्तभेदेऽपि केचिन्नियतशक्तितः। तुल्यप्रत्यवमर्शादेर्हेतुत्वं यान्ति नापरे ॥

तत्त्वसं० का० ७२३-७२६ पृ० २३९।

१४ नवा–वा० बा० भा० मा०। १५ पृ० १८९ पं० २० तथा ४२।

१६ "अतद्रूपपरावृत्तं वस्तुमात्रं स्वलक्षणम्। यतेन क्रियमाणोऽयमन्वयो न विरुध्यते" ॥

तत्त्वसं० का० १०५२ पृ० ३२९।

१७ "न विरुध्यते। कथम्? इत्याह"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२९ पं० १५-१६। १८ "चेह"–तत्त्वसं०। १९–द्यते धूम–आ० हा० वि०।

२० "असतो नरशृङ्गादेर्यच्च भिन्नं स्वलक्षणम्। बुद्धि–दीपादिवत् सर्वं व्यावृत्तं तत् स्थिरादपि" ॥
"असद्रूपं तथा चेद न शब्दादिस्वलक्षणम्। इत्थं निर्दिष्टभेदेन भवत्येनाऽन्वयोऽमुना" ॥

तत्त्वसं० का० १०५५-१०५६ पृ० ३२९।

२१–वतीत्यनुमा नायेन वा० बा०।–तीत्यमुना नायेन आ०।

षाऽसंस्पर्शात् स्वलक्षणेनान्वयः क्रियमाणो[1] न विरुध्यते । यदि तर्हि[2] स्वलक्षणेनैवान्वयः कथं सामान्यलक्षणविषयमनुमानम्? तदेव[3] हि स्वलक्षणमविवक्षित[4]भेदं सामान्यलक्षणमित्युक्तम् 'सामान्येन भेदापरामर्शेन लक्ष्यतेऽध्यवसीयते[5]' इति कृत्वा । तदुक्तम्—

"अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात्[6] ।
सामान्यविषयं प्रोक्तं "लिङ्गं[7] भेदाप्रतिष्ठितेः[8]" ॥ [ ] इति ।

तेन साहचर्यमपि लिङ्ग-शब्दयोः स्वलक्षणेनैव कथ्यते । न चाप्यदर्शनमात्रेणास्माभिर्विपक्षे लिङ्गस्याभावोऽवसीयते, किं तर्हि? अनुपलम्भविशेषादेव ।

यच्चोक्तम्—'शावलेय'-इत्यादि,

तत्रेदं भवान् वक्तुमर्हति–'शावलेयाद् बाहुलेयाऽश्वयोस्तुल्येऽपि भेदे[11] किमिति[12] तुरङ्गमपरिहारेण गोत्वं शावलेयादौ वर्तते नाश्वे' इति? स्यादेतत् किमत्र वक्तव्यम्? गोत्वस्याभिव्यक्तौ शावलेयादिरेव समर्थो नाश्वादिः; अतस्तत्रैव तद् वर्तते नान्यत्र । न चायं पर्यनुयोगो युक्तः 'कस्मात् तस्याभिव्यक्तौ शावलेयादिरेव समर्थः'? यतो वस्तुस्वभावप्रतिनियमोऽयम्; न[13] हि वस्तूनां स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति तेषां स्वहेतुपरम्पराकृतत्वात् स्वभावभेदप्रतिनियमस्येति । नन्वेवं यथा[14] शावलेयादिरेव गोत्वाभिव्यक्तौ समर्थस्तथा सत्यपि भेदे सामान्यमन्तरेणापि तुल्यप्रत्यवमर्शोत्पादने शावलेयादिरेव शक्तो न तुरङ्गम इत्यस्मत्पक्षो न विरुध्यत एव । तेन—

"तादृक् प्रत्यवमर्शश्च विद्यते यत्र वस्तुनि ।
तत्राभावे[15]ऽपि गोजातेरगोपोहः प्रवर्तते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०६० ]

यच्चोक्तम्[16]-'इन्द्रियैः' इत्यादि, तदसिद्धम्; तथाहि-स्वलक्षणात्मा[17] तावदपोह इन्द्रियैरवगम्यत एव, यश्चार्थप्रतिबिम्बात्माऽपोहः स परमार्थतो बुद्धिस्वभावत्वात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्धः,

---

१–णो विरु–भां० मां० विना । २ तर्हि बा० बा० । ३ तदेवं का० ।
"अविवक्षितभेदं च तदेव परिकीर्तितम् । सामान्यलक्षणत्वेन नानिष्टेरपरं पुनः" ॥
तत्त्वसं० का० १०५७ पृ० ३३० ।

४–वक्षितं भे–आ० हा० वि० ।–वक्षितमविवक्षितभे–बा० बा० । "अविवक्षितभेदस्य स्वलक्षणस्यैव सामान्यलक्षणत्वात्"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०३ प्र० पं० १३ । ५ "लक्ष्यते व्यवसीयते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३० पं० ११ ।

६ "यदुक्तं धर्मकीर्तिना—
अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः" ॥ इति
अष्टस० पृ० २८ पं० १५ ।

" 'भेदाप्रतिष्ठितेः' भेदाप्रतिष्ठितेर्विशेषागोचरत्वात्"–वाचकयशोवि० अष्ट० टी० लि० प्र० पृ० १८ द्वि० पं० १० माण्डा० ।

"अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रसमाश्रयात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३० पं० १३ ।
७ लिङ्गभेदाप्रतिष्ठतेरिति आ० । ८–ष्ठितैरिति का० । ९ पृ० १९० पं० १४ ।
१० "शाबलेयस्ततो भेदे बाहुलेयाऽश्वयोः समे । तुरङ्गपरिहारेण गोत्वं किं तत्र वर्तते" ॥
तत्त्वसं० का० १०५८ पृ० ३३० ।

११–दे पि कि–आ० हा० । १२ किमपि बा० बा० विना ।
१३ "न च पर्यनुयोगोऽस्ति वस्तुशक्तेः कदाचन" ॥
"वह्निर्दहति नाऽऽकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्" ।
श्लो० वा० आकृ० श्लो० २८–२९ पृ० ५५२ ।

१४ "तस्य व्यक्तौ समर्थात्मा स एवेति यदीष्यते । तुल्यप्रत्यवमर्शेऽपि स शक्तो न तुरङ्गमः" ॥
तत्त्वसं० का० १०५९ पृ० ३३० ।

१५–भावेदेऽपि भां० मां० विना । १६ पृ० १९० पं० १९ तथा ३५ ।
१७ "अगोभिन्नं च यद् वस्तु तदक्षैर्व्यवसीयते । प्रतिबिम्बं तदध्यक्षं स्वसंवित्त्याऽवगम्यते" ॥
"इदं दृष्ट्वा च लोकेन शब्दस्तत्र प्रयुज्यते । संबन्धानुभवोऽप्यस्य व्यक्तं तेनोपपद्यते" ॥
तत्त्वसं० का० १०६१–१०६२ पृ० ३३१ ।

प्रसह्यात्माऽपि सामर्थ्याद् प्रतीयत एव 'न तदात्मा परात्मा' इति न्यायात्, अतः स्वलक्षणादिरूपमपोहं दृष्ट्वा लोकः शब्दं प्रयुङ्क्त एव न वस्तुभूतं सामान्यम्; तस्याऽसत्त्वात् अप्रतिभासनाच्च। यदेव च दृष्ट्वा लोकेन शब्दः प्रयुज्यते तेनैव तस्य सम्बन्धोऽवगम्यते नान्येन अतिप्रसङ्गात्।

यद्वे—'अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः' इति,

अत्र—

"तादृक् प्रत्यवमर्शश्च यत्र नैवास्ति वस्तुनि।
अगोशब्दाभिधेयत्वं विस्पष्टं तत्र गम्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०६३ ]

यच्चोक्तम्—

'सिद्धश्चागौरपोह्येत' इत्यादि,

तत्र, स्वत एव हि गवादयो भावाः भिन्नप्रत्यवमर्शं जनयन्तो विभागेन सम्यग् निश्चिताः, तेषु व्यवहारार्थं व्यवहर्तृभिर्यथेष्टं शब्दः सिद्धः प्रयुज्यते। तथाहि-यदि भिन्नं वस्तु स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमन्यपदार्थग्रहणमपेक्षते तदा स्यादितरेतराश्रयदोषः यावताऽन्यग्रहणमन्तरेणैव भिन्नं वस्तु संवेद्यते; तस्मिन् भिन्नाकारप्रत्यवमर्शहेतुतया विभागेन 'गौर्गौः' इति च सिद्धे यथेष्टं सङ्केतः क्रियते इति कथमितरेतराश्रयत्वं भवेत्?

यच्चोक्तम्—'नाधाराधेय'-इत्यादि,

तत्र, न हि परमार्थतः कश्चिदपोहेन विशिष्टोऽर्थः शब्दैरभिधीयते। तेनैव यतः प्रतिपादितमेतत्-'यथा न किञ्चिदपि शब्दैर्वस्तु संस्पृश्यते, क्वचिदपि समयाभावात्' इति। तथाहि-शाब्दी बुद्धिरबाह्यार्थविषयाऽपि सती स्वाकारं बाह्यार्थतयाऽध्यवस्यन्ती जायते, न परमार्थतो वस्तुस्वभावं स्पृशति यथातत्त्वमनध्यवसायात्। यद्येवम् कथमाचार्येणोक्तम्—

"नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः" [ ] इति।

"अर्थान्तरनिवृत्त्याह विशिष्टानिति यत् पुनः।
प्रोक्तं लक्षणकारेण तत्रार्थोऽयं विवक्षितः" ॥
"अन्यान्यत्वेन ये भावा हेतुना करणेन वा।
विशिष्टा भिन्नजातीयैरसङ्कीर्णा विनिश्चिताः" ॥
"वृक्षादीनाह तान् ध्वानस्तद्भावाध्यवसायिनः।
ज्ञानस्योत्पादनादेतज्जात्यादेः प्रतिषेधनम्" ॥
"बुद्धौ येऽर्था विवर्तन्ते तानाह जननादयम्।
निवृत्त्या च विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्" ॥

[ तत्त्वसं० का० १०६८-१०६९-१०७०-१०७१ ]

---

१ न च त-भा०। २ पृ० २०३ पं० २३। ३-पस्यापो-भा०। ४ यथा गो-वि० भा० भा०। ५ पृ० १९० पं० २५ तथा ४१। ६ पृ० १९१ पं० ४-१३ तथा ३१। ७-रपोहेत भा०।

८ "गावोऽगावश्च संसिद्धा भिन्नप्रत्यवमर्शतः। शब्दस्तु केवलोऽसिद्धो यथेष्टं सम्प्रयुज्यते" ॥
"न ह्यन्यग्रहणं वस्तु भिन्नं वित्तावपेक्षते। अन्योन्याश्रयदोषोऽयं तस्मादस्मिन्निरास्पद" ॥

तत्त्वसं० का० १०६४-१०६५ पृ० ३३१।

९ शब्दसिद्धः भां०। "शब्दोऽसिद्ध"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३२ पं० ३। १०-मपेक्ष्यते भा० भां० आ० कां०। ११-इति सि-भा० भा०। १२-सङ्केतक्रिय ति(येति)क-भा० भा०। १३ पृ० १९१ पं० ८ तथा ३३। १४ पृ० १९१ पं० २१। १५ तत्र न हि भा० भा०।

१६ "अवेद्यबाह्यतत्त्वाऽपि प्रकृष्टोपप्लवादियम्। स्वोल्लेखं बाह्यरूपेण शब्दधीरध्यवस्यति" ॥
"एतावत् क्रियते शब्दैर्नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि। नापोहेन विशिष्टश्च कश्चिदर्थोऽभिधीयते" ॥

तत्त्वसं० का० १०६६-१०६७ पृ० ३३२।

१७-तः क्वचिद्-भां० भा० विना। १८-यते तेनैव च तपादित-भा० भा०।-यते तेनैवं यतः प्रतिपादित-आ०। "अभिधीयते। यतः प्रतिपादितमेतत्"-तत्त्वसं० पृ० ३३२ पं० १३। १९ पृ० १९१ पं० १९। २० शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०४ द्वि० प० ५। २१ नाहुरित्यार्था-आ० हा०। २२ "अर्थान्तरनिवृत्त्याहुर्वि"-तत्त्वसं०। २३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०४ द्वि० पं० ९।। २४-तास्तुन सङ्गा-भा० भा०। २५ "तानाहान्यन्तरानयम्"-तत्त्वसं०।

अस्य तात्पर्यार्थः द्विविधो ह्यर्थः——बाह्यो बुद्ध्यारूढश्च । तत्र बाह्यस्य न परमार्थतोऽभिधानं शब्दैः, केवलं तदध्यवसायिविकल्पोत्पादनादुपचारादुक्तम् 'शब्दोऽर्थानाह' इति । उपचारस्य च प्रयोजनं जात्यभिधाननिराकरणमिति । अवयवार्थस्तु–'अन्यान्यत्वेन' इति अन्यस्मादन्यत्वं व्यावृत्तिस्तेनान्यान्यत्वेन हेतुना करणेन वा ये वृक्षादयो भावा विशिष्टा निश्चिता अन्यतो व्यावृत्ता निश्चिता इति यावत्; एतेन 'अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टान्' इत्यत्र पदे 'निवृत्त्या' इति ('निवृत्त्या' इति) तृतीयार्थो व्याख्यातः । 'ध्वानः' इति शब्दः । यस्तु बुद्ध्यारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम् । 'अयम्' इति ध्वानः । अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टत्वं कथमेषां योजनीयमित्याशङ्क्य 'निवृत्त्या विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्' इत्युक्तम् । एषामपि बुद्धिसमारूढानामर्थानामन्यतो प्रतिभासनादित्यभिप्रायः ।

ननु यदि न कश्चिदेव वस्त्वंशः शब्देन प्रतिपाद्यते तत् कथमुक्तमाचार्येण–"कश्चिदेव वस्तुनो भागो गम्यते" [ ] इति, अर्थान्तरपरावृत्तदर्शनद्वारायातत्वात् बुद्धिप्रतिबिम्बकमर्थान्तरपरावृत्ते वस्तुनि भ्रान्तैस्तादात्म्येनाऽऽरोपितमिति 'वस्तुनो भागः' इति व्यपदिष्टम् । ननु चार्थान्तरनिवृत्तिर्बाह्यवस्तुगतो धर्मः; सा कथं प्रतिबिम्बाधिगमे हेतुभावं करणभावं वा प्रतिपद्यते येन 'निवृत्ता' इति ('निवृत्त्या' इति) उच्यत इति, उच्यते यदि हि विजातीयाद् व्यावृत्तं वस्तु न स्यात् तदा न तत्प्रतिबिम्बकं विजातीयपरावृत्तवस्त्वात्मनाऽध्यवसीयते तस्मादर्थान्तरपरावृत्तेर्हेतुभावः करणभावश्च युज्यत एव ।

'न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याद् ज्ञानं विशेषणम्' इत्यादावपि,

यदि ह्यन्यव्यावृत्तिरभावरूपा वस्तुनो विशेषणत्वेनाभिप्रेता स्यात् तदेतत् ( तदैतत् ) दूषणमुपपद्येत यावता वस्तुस्वरूपैवान्यव्यावृत्तिर्विशेषणत्वेनोपादीयते तेन विशेष्ये बुद्धिर्भवत्येव । तथाहि–अगोनिवृत्तिर्या गौरभिधीयते सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं नान्या; ततश्च यद्यप्यसौ व्यतिरेकेणागोनिवृत्तिः 'गौः' इत्यभिधीयते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण जिज्ञासायाम् तथापि परमार्थतो गोरात्मगतैव सा——यथाऽन्यत्वम् न हि अन्य (अन्यत्वं) अन्यस्माद् वस्तुनोऽन्यत्——अन्यथा तद् वस्तु ततो भिन्नमित्येतन्न सिद्ध्येत् । तस्मात्

१–र्थः स द्वि–वि० का० ।–र्थः सि द्वि–आ० हा० । २ शब्दो नार्थानाह वा० बा० । ३–न्नान्यत्वे–भा० मां० कां० विना । ४–ना कारणे–वा० बा० । ५ पृ० २१२ पं० २० । ६–शिष्टमित्य–वा० बा० । ७ "इति तृतीयार्थो व्याख्यात"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३३ पं० ५ । ८ "अथार्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टत्वम्"–तत्त्वसं० पञ्जि पृ० ३३३ पं० ११ । ९ पृ० २१२ पं० २८ । १०–त्यपि भि–वा० बा० ।

११ "अर्थान्तरपरावृत्त्या गम्यते तस्य वस्तुनः । कश्चिद् भाग इति प्रोक्तं तदेव प्रतिबिम्बकम्" ॥
"अर्थान्तरपरावृत्तवस्तुदर्शनसंश्रयात् । भागतेत्वत्र चारोपात् तस्य भागोऽपदिश्यते" ॥
"हेत्वर्थः करणार्थश्च पूर्ववत् तेन वाऽऽत्मना । यदि वस्तु विजातीयान्न स्याद् भिन्नं न तत् तथा" ॥
तत्त्वसं० का० १०७२–१०७३–१०७४ पृ० ३३३ ।

१२–त्वाद्बापचा–वा० बा० । १३ न चा–वा० बा० । १४–भावं कारण–वा० बा० कां० विना । १५ भा० मां० वा० बा० विना । १६–वृत्तोत्यु–वा० बा० । १७–वसीयेत भा० मां० । १८–श्च प्रयु–वा० बा० १९ पृ० १९२ पं० ९–२२ तथा ३३ ।

२० "अगोनिवृत्तिरन्यत्वं तस्य चात्मगतैव सा । भेदोक्तावप्यभावस्तु केवलो न निवर्तते" ॥
"तद्विशेषणभावेऽपि वस्तुधीर्न विहीयते । कल्पनानिर्मितं चेदमभेदेऽपि विशेषणम्" ॥
"सोऽपकृष्य ततो धर्मः स्थापितो भेदवानिव । येन दण्डादिवत् तस्य जायते हि विशेषणम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०७५–१०७६–१०७७ पृ० ३३४ ।

२१ "यदि ह्यन्यव्यावृत्तिर्भावरूपा वस्तुनो विशेषणत्वेनाभिप्रेता स्यात् तदैतत्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३४ पं० १५ २२ "अगोनिवृत्तिर्या गोरभिधीयते साऽश्वादिभ्य"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३४ पं० १७ । २३–यते साश्वा–वा० बा० । २४–भावेव वा० बा० । २५ यद्यप्य–वा० बा० हा० वि० । यदिप्य–आ० । २६–तो गौरा–आ० ह० का० विना । २७–त्वम् नामान्यस्मा–भा० विना । "यथाऽन्यत्वम्, न हि अन्यत्वं नाम अन्यस्माद् वस्तु अन्यः" तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३४ पं० २० । २८–न्यद स्तु ततो वा० बा० ।

प्यन्यव्यावृत्तेर्विशेष्ये वस्तुधीर्भवत्येव[1]। अथ व्यतिरिक्तमेव विशेषणं लोके प्रसिद्धम्; यथा–दण्डः पुरुषस्य, व्यावृत्तिश्चाव्यतिरिक्ता वस्तुनः, तत् कथमसौ तस्य विशेषणम्? असदेतत्; न हि परमार्थेन किञ्चित् कस्यचिद् विशेषणम् अनुपकारकस्य विशेषणत्वायोगात्, उपकारकत्वे चाङ्गीक्रियमाणे कार्यकाले कारणस्यानवस्थानाद् अयुगपत्कालभाविनोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनुपपन्नः, युगपत्कालभावित्वेऽपि तदानीं सर्वात्मना परिनिष्पत्तेर्न परस्परमुपकारो[2]ऽस्तीति न युक्तो विशेषणविशेष्यभाव इति सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरयःशलाकाकल्पत्वात् कल्पनया अमीषां मिश्रीकरणम्। अतः परमार्थतो यद्यपि व्यावृत्ति–तद्वतोरभेदस्[3]तथापि कल्पनारचितं भेदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि भविष्यति।

यच्चोक्तम्[4]–'यदा वाऽशब्दवाच्यत्वाद्[5] व्यक्तीनामपोह्यता' इत्यादि, तत्र 'व्यक्तीनामवाच्यत्वात्[6]' इत्यसिद्धम्। तथाहि–यद्[7] व्यक्तीनामवाच्यत्वमस्माभिर्वर्णितं तत् परमार्थचिन्तायाम् न पुनः संवृत्यापि; तया तु व्यक्तीनामेव वाच्यत्वमविचारितरमणीयतया प्रसिद्धमिति कथं नासिद्धो हेतुः? अथ पारमार्थिकमवाच्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽपोह्यत्वमपि परमार्थतो व्यक्तीनां नेष्टमिति सिद्धसाध्यता।

यच्चोक्तम्[10]–'तदापोह्येत[11] सामान्यम्' इत्यादि, तत्रापि 'अपोह्यत्वात्' इत्यस्य[12] हेतोरसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं[13] च, व्यक्तीनामेवापोहस्य प्रतिपादितत्वात्। न चापोहेऽपि वस्तुता, साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावात्[14]।

यदपि[15]–'अभावानामपोह्यत्वं न' इत्यादि[16], तत्र,

"नाभावोऽपोह्यते ह्येवं नाभावो भाव इत्ययम्।
भावस्तु न तदात्मेति तस्यैवमपोह्यता" ॥
"यो नाम न यदात्मा हि स तस्यापोह्य[17] उच्यते।
न भावोऽभावरूपश्च तदपोहे न वस्तुता[18]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८१–१०८२ ]

'नाभावः[19]' इत्येवमभावो नापोह्यते येनाभावरूपतायास्त्यागः स्यात्, किं तर्हि? भावो यः स विधिरूपत्वादभावरूपविवेकेनावस्थित इति सामर्थ्यादपोह्यत्वं तस्याभावस्येष्टत्वम्[20] (ष्टम्) तदेव स्पष्टीकृतम् 'यो नाम' इत्यादि[21]श्लोकेन। 'तदपोहे[22]' इति तस्याभावस्यैवमपोहे सति न वस्तुता प्राप्नोति। अत्रोभयपक्षप्रसिद्धोदाहरणप्रदर्शनेनानैकान्तिकतामेव स्फुटयति–

"प्रकृतीशादिजन्यत्वं न हि वस्तु प्रसिद्ध्यति[23]" ॥
"नातोऽसतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो न कश्चन[24]" । [तत्त्वसं० का० १०८३–१०८४]

---

१–कत्वे चाङ्गी–भा० मा० विना। २–कारो नास्ति वा०। ३–द्वतोऽभेद–वि०।–द्वतो भेद–आ० हा० का०। ४ पृ० १९३ पं० २० तथा ३६। ५–दा चाऽ–भा० मा०। ६ पृ० १९३ पं० २०।

७ "प्रतिभासश्च शब्दार्थ इत्याहुस्तत्त्वचिन्तकाः। दृश्य–कल्प्या(ल्प्या)विभागज्ञो लोको बाह्यं तु मन्यते" ॥
"तस्मातोऽध्यवसायेन व्यक्तीनामेव वाच्यता। तत्त्वतश्च न शब्दानां वाच्यमस्तीति साधितम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०७८–१०७९ पृ० ३३५।

८–चारितसरम–आ०। ९–वाच्यं हे–भां० मा० वा० बा० विना। १० पृ० १९३ पं० २१ तथा ३६। ११ तदपो–भां० मा०। १२ पृ० १९३ पं० २६। १३–मनेका–वा० बा०।

"इत्थं च शब्दवाच्यत्वाद् व्यक्तीनामस्त्यपोह्यता। सामान्यस्य तु नापोहो न चापोहेऽपि वस्तुता" ॥
तत्त्वसं० का० १०८० पृ० ३३५।

१४–माणभा–आ० हा० वि०। १५ यद्यपिऽभा–वा० बा०। पृ० १९३ पं० २२ तथा ४१। १६–दिना च ना भावो पोह्य–आ० हा० वि०।–दिना भावो पोह्यमिति नाभावोह्यते त्येवं वा० बा०। १७ "तस्यापोह उच्यते"–तत्त्वसं०। १८ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० ८–९। १९ न भाव–वा० बा०। २०–भावस्पष्टत्वम् भा० मा०।–भावं स्पष्टत्वं हा०। वा० बा० प्रतौ तु नैष पाठः। "तस्याभावस्येष्टम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३५ पं० २८। २१ पृ० २१४ पं० २०। २२–हे इति भा० मा०। २३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १०।

तस्य पूर्वार्धं तु–"प्रकृतीशादिजन्यत्वं वस्तूनां नेति चोदिते"–तत्त्वसं०।
२४ उत्तरार्धं त्वस्य–"तस्य सिद्धं च सत्ताऽस्ति सा चाऽसत्ता प्रसिद्ध्यति"–तत्त्वसं०।

तथाहि-प्रकृति-ईश्वर-कालादिकृतत्वं भावानां भवद्भिर्मीमांसकैरपि नेष्यत एव, तस्य च प्रतिषेधे सत्यपि यथा न वस्तुत्वमापद्यते तथा अपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वापत्तिर्न भविष्यतीत्यनेकान्तः ।

यदुक्तम्[2]—'तत्रासतोऽपि वस्तुत्वमिति क्लेशो महान् भवेत्' इति,
तदप्यनेनैवानैकान्तिकत्वप्रतिपादनेन प्रतिविहितमिति दर्शयति 'नातोऽसतोऽपि' इत्यादिना[3] ।

'तदसिद्धौ न[4] सत्ताऽस्ति न चासत्ता प्रसिद्ध्यति' ॥ इति[5] ।

अत्र अभावस्य यथोक्तेन प्रकारेणा[6]सिद्धावपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव, तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या च भावस्य यथोक्तेन प्रकारेण सिद्धिः सैव सत्तेति प्रसिद्ध्यति । एतदेवोक्तम्—

"अगोतो[7] विनिवृत्तश्च[8] गौर्विलक्षण इष्यते ।
भाव एव ततो नायं गौरगौर्मे प्रसज्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८५ ]

'भाव एव भवेत्' इति[9], एतत्रानिष्टापादनम् इष्टत्वात् । तथाहि-अगोरूपादश्वादेर्गौर्भावविशेषरूप एव १ विलक्षण इष्यते नाभावात्मा; तेन भाव एव भवेत्, अगोतश्च गोर्वैलक्षण्यस्ये[10]ष्टत्वादगोर्न गोत्वप्रसङ्गः । एतेन यदुक्तम्[11]—

'अभावस्य[12] च योऽभावः' इत्यादि, तत् प्रतिविहितम् ।

यच्चोक्तम्[13]— 'न ह्यवस्तुनि वासना' इति, तत् असिद्धमनैकान्तिकं च । यतः—

"अवस्तुविषये[14]ऽप्यस्ति चेतोमात्रविनिर्मिता । १
विचित्रकल्पनाभेदरचितेष्विव वासना" ॥

"ततश्च वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि[15] वा ।
प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां कल्पनारचितेष्विव[16]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८६-१०८७ ]

'अवस्तुविषयं चेतो नास्ति' इति[17], एतदसिद्धम् । तथाहि[18]—उत्पाद्यकथाविपर्यय[19]समुद्भूतवस्त्वाकारसमारोपेण प्रवर्तत एवं[20] चेतः तथा(था)ऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये अनन्तरचेतसि वासना[21]माधत्त एव; यतः पुनरपि सन्तानपरिपाकवशात्[22] प्रबोधकप्रत्ययमासाद्य तथाविध[23]मेव चेतः समुपजायते, तद्वदपोहाना[24]मपि परस्परतो भेदः सद्रूपता च कल्पनावशाद् भविष्यतीत्यनैकान्तिकता ।

यच्च[25]-

'शब्दभेदोऽप्यपोहनिमित्तो न युक्तः' इति,

अत्र-

"यादृशोऽर्थान्तरापोहः[26] प्रतिबिम्बात्मको
वाच्योऽयं प्रतिपादितः ।

---

१ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० ४ । २ पृ० १९४ पं० १४ तथा ३२ । ३ पृ० २१४ पं० २७ । ४ न व स-वा० या० । न वा स-आ० हा० वि० । ५ पृ० १९४ पं० १४ तथा ३२ । ६ "प्रकारेण सिद्धौ सत्यामपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या चाऽभावस्य"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३६ पं० १८ । ७ आगोतो आ० हा० वि० वा० या० । अगौतो भां० । "अगोतो विनिवृत्तिश्च"-तत्त्वसं० । "अगोतो विनिवृत्तेश्च"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १३ । ८-श्च गोर्वि-आ० हा० वि० कां० । ९ पृ० १९४ पं० ७ तथा २३ । १० गोर्वैलक्षण्यस्ये-आ० हा० वि० का० । गो वैलक्षण्यस्ये-वा० या० । ११ पृ० १९४ पं० ६ तथा २३ । १२-वश्व व यो-वा० या० । १३ पृ० १९५ पं० ४ तथा २८ । १४-वस्तुनिविप-आ० हा० वि० । १५-तापि च का० । "-पि च-" तत्त्वसं० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ द्वि० पं० १ । १६ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १४ तथा द्वि० पं० १ । १७ पृ० १९५ पं० ४ तथा २८ । १८-थाह्युत्पोह्यक-भां० मां० । -थाह्युपोह्यक-आ० हा० वि० ।-थाह्यपोह्यक-का० । "तथाहि-उत्पाद्यकत्वा(त्य ?)विपय"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३७ पं० ८ । "अपोहभेद-सत्तयोश्च तथाविधवासनामूलविकल्पविषयत्वात् कल्पितवृत्तान्तार्थानुपप्लवानुरोधेनाऽवस्तुन्यपि वासनोपगमात्"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १२ । १९-पयासमु-वा० या० । २० एव चेतस्तुथाऽनाग-आ० । एव चेतस्तुत्वाऽनाग-हा० वि० । एव चेतस्तथाऽनाग-का० । एवस्तुत्वाऽनाग-वा० या० । "एव चेत. तथाऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३७ पं० ९ । २१-ना समाध-भां० मां० । २२-वशा अबोधप्रत्यय-आ० हा० वि० वा० या० ।-वशाद् अबोधप्रत्यय-कां० । २३-थाविध एव आ० हा० वि० । २४-दपोहाना-वा० या० । २५ पृ० १९५ पं० १८ । २६-रापोहप्रति-भां० मां० ।

प्यन्यव्यावृत्तेर्विशेष्ये वस्तुधीर्भवत्येव। अथ व्यतिरिक्तमेव विशेषणं लोके प्रसिद्धम्; यथा-दण्डः पुरुषस्य, व्यावृत्तिश्चाव्यतिरिक्ता वस्तुनः, तत् कथमसौ तस्य विशेषणम्? असदेतत्; न हि परमार्थेन किञ्चित् कस्यचिद् विशेषणम् अनुपकारकस्य विशेषणत्वायोगात्, उपकारकत्वे चाङ्गीक्रियमाणे कार्यकाले कारणस्यानवस्थानाद् अयुगपत्कालभाविनोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनुपपन्नः, युगपत्कालभावित्वेऽपि तदानीं सर्वात्मना परिनिष्पत्तेर्न परस्परमुपकारोऽस्तीति न युक्तो विशेषणविशेष्यभाव इति सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरयःशलाकाकल्पत्वात् कल्पनया अमीषां मिश्रीकरणम्। अतः परमार्थतो यद्यपि व्यावृत्ति-तद्वतोरभेदस्तथापि कल्पनारचितं भेदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि भविष्यति।

यच्चोक्तम्[4]—'यदा[5] वाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता' इत्यादि,

तत्र 'व्यक्तीनामवाच्यत्वात्[6]' इत्यसिद्धम्। तथाहि-यद्[7] व्यक्तीनामवाच्यत्वमस्माभिर्वर्णितं तत् परमार्थचिन्तायाम् न पुनः संवृत्यापि; तया तु व्यक्तीनामेव वाच्यत्वमविचारितरमणीयतया[8] प्रसिद्धमिति कथं नासिद्धो हेतुः? अथ पारमार्थिकमवाच्यत्वं[9] हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽपोह्यत्वमपि परमार्थतो व्यक्तीनां नेष्टमिति सिद्धसाध्यता।

यच्चोक्तम्[10]—'तदापोह्येत[11] सामान्यम्' इत्यादि,

तत्रापि 'अपोह्यत्वात्' इत्यस्य[12] हेतोरसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं[13] च, व्यक्तीनामेवापोहस्य प्रतिपादितत्वात्। न चापोहेऽपि वस्तुता, साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावात्[14]।

यदपि[15]—'अभावानामपोह्यत्वं न' इत्यादि[16],

तत्र, "नाभावोऽपोह्यते ह्येवं नाभावो भाव इत्ययम्।
भावस्तु न तदात्मेति तस्येष्टैवमपोह्यता" ॥
"यो नाम न यदात्मा हि स तस्यापोह्य[17] उच्यते।
न भावोऽभावरूपश्च तदपोहे न वस्तुता[18]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८१-१०८२ ]

'नाभावः[19]' इत्येवमभावो नापोह्यते येनाभावरूपतायास्त्यागः स्यात्, किं तर्हि? भावो यः स विधिरूपत्वादभावरूपविवेकेनावस्थित इति सामर्थ्यादपोह्यत्वं तस्याभावस्येष्टत्वम्[20] (एम्) तदेव स्पष्टीकृतम् 'यो नाम' इत्यादि[21]श्लोकेन। 'तदपोहे[22]' इति तस्याभावस्यैवमपोहे सति न वस्तुता प्राप्नोति। अत्रोभयपक्षप्रसिद्धोदाहरणप्रदर्शनेनानैकान्तिकतामेव स्फुटयति—

"प्रकृतीशादिजन्यत्वं न हि वस्तु प्रसिद्ध्यति[23]" ॥
"नातोऽसतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो न कथ्यने[24]"। [तत्त्वसं० का० १०८३-१०८४]

---

१-कत्वे चाङ्गी-भां० मा० विना। २-कारो नास्ति बा०। ३-द्धतोऽभेद-वि०।-द्धतो भेद-आ० हा० का०। ४ पृ० १९३ पं० २० तथा ३६। ५-दा चाऽ-भां० मा०। ६ पृ० १९३ पं० २०।

७ "प्रतिभासश्च शब्दार्थं इत्याहुस्तत्त्वचिन्तकाः। दृश्य-कल्प्य(ल्प्या)विभागज्ञो लोको बाह्यं तु मन्यते" ॥
"तस्यातोऽध्यवसायेन व्यक्तीनामेव वाच्यता। तत्त्वतश्च न शब्दाना वाच्यमस्तीति साधितम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०७८-१०७९ पृ० ३३५।

८-चारितमरम-आ०। ९-वाच्यं हे-भां० मा० बा० वा० विना। १० पृ० १९३ पं० २१ तथा ३६। ११ तदपो-भां० मा०। १२ पृ० १९३ पं० २६। १३-मनेका-बा० वा०।

"इत्थं च शब्दवाच्यत्वाद् व्यक्तीनामस्त्यपोह्यता। सामान्यस्य तु नापोहो न चापोहेऽपि वस्तुता" ॥
तत्त्वसं० का० १०८० पृ० ३३५।

१४-माणभा-आ० हा० वि०। १५ यद्यपिऽभा-बा० वा०। पृ० १९३ पं० २२ तथा ४१। १६-दिना च ना भावो पोह्य-आ० हा० वि०।-दिना भावो पोह्यमिति नाभावोह्यते त्येवं बा० वा०। १७ "तस्यापोह उच्यते"-तत्त्वसं०। १८ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० ८-९। १९ न भाव-बा० वा०। २०-भावस्पष्टत्वम् भां० मा०।-भावं स्येष्टत्वं हा०। बा० वा० प्रतौ तु नैष पाठ। "तस्याभावस्येष्टम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३५ पं० २८। २१ पृ० २१४ पं० २०। २२-हे इति भां० मा०। २३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १०।

अस्य पूर्वार्धं तु-"प्रकृतीशादिजन्यत्व वस्तूनां नेति चोदिते"-तत्त्वसं०।

२४ उत्तरार्धं त्वस्य-"तस्य सिद्धौ च सत्ताऽस्ति सा चाऽसत्ता प्रसिद्ध्यति"-तत्त्वसं०।

तथाहि[1]-प्रकृति-ईश्वर-कालादिकृतत्वं भावानां भवद्भिर्मीमांसकैरपि नेष्यत एव, तस्य च प्रतिषेधे सत्यपि यथा न वस्तुत्वमापद्यते तथा अपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वापत्तिर्न भविष्यतीत्यनेकान्तः ।

यदुक्तम्[2]—'तत्रासतोऽपि वस्तुत्वमिति क्लेशो महान् भवेत्' इति, तदप्यनेनैवानैकान्तिकत्वप्रतिपादनेन प्रतिविहितमिति दर्शयति 'नातोऽसतोऽपि' इत्यादिना[3] ।

'तदसिद्धौ न[4] सत्ताऽस्ति न चासत्ता प्रसिद्ध्यति' ॥ इति[5] ।

अत्र अभावस्य यथोक्तेन प्रकारेणा[6]सिद्धावपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव, तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या च भावस्य यथोक्तेन प्रकारेण सिद्धिः सैव सत्तेति प्रसिद्ध्यति । एतदेवोक्तम्—

"अगोतो[7] विनिवृत्तश्च[8] गौर्विलक्षण इष्यते ।
भाव एव ततो नायं गौरगौर्मे प्रसज्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८५ ]

'भाव एव भवेत्' इति[9], एतच्चानिष्टापादनम् इष्टत्वात् । तथाहि-अगोरूपादश्वादेर्गौर्भावविशेषरूप एव विलक्षण इष्यते नाभावात्मा; तेन भाव एव भवेत्, अगोतश्च गोर्वैलक्षण्यस्ये[10]ष्टत्वादगोर्न गोत्वप्रसङ्गः । एतेन यदुक्तम्[11]—

'अभावस्य[12] च योऽभावः' इत्यादि, तत् प्रतिविहितम् ।

यच्चोक्तम्[13]— 'न ह्यवस्तुनि वासना' इति, तत् असिद्धमनैकान्तिकं च । यतः—

"अवस्तु[14]विषयेऽप्यस्ति चेतोमात्रविनिर्मिता ।
विचित्रकल्पनाभेदरचितेष्विव वासना" ॥

"ततश्च वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि[15] वा ।
प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां कल्पनारचितेष्विव[16]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८६-१०८७ ]

'अवस्तुविषयं चेतो नास्ति' इति[17], एतदसिद्धम् । तथाहि[18]—उत्पाद्यकथाविपर्यय[19]समुद्भूतवस्त्वाकारसमारोपेण प्रवर्तत एव[20] चेतः तथा(था)ऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये अनन्तरचेतसि वासना[21]माधत्त एव; यतः पुनरपि सन्तानपरिपाकवशात्[22] प्रबोधकप्रत्ययमासाद्य तथाविध[23]मेव चेतः समुपजायते, तद्वदपोहा[24]नामपि परस्परतो भेदः सद्रूपता च कल्पनावशाद् भविष्यतीत्यनैकान्तिकता ।

यच्च[25]-

'शब्दभेदोऽप्यपोहनिमित्तो न युक्तः' इति,

अत्र-

"यादृशोऽर्थान्तरा[26]पोहः प्रतिबिम्बात्मको
वाच्योऽयं प्रतिपादितः ।

---

१ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० ४ । २ पृ० १९४ पं० १४ तथा ३२ । ३ पृ० २१४ पं० २७ । ४ न च स-वा० वा० । न वा स-आ० हा० वि० । ५ पृ० १९४ पं० १४ तथा ३२ । ६ "प्रकारेण सिद्धौ सत्यामपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या चाऽभावस्य"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३६ पं० १८ । ७ आगोतो आ० हा० वि० वा० वा० । अगौतो मां० । "अगोतो विनिवृत्तिश्च"-तत्त्वसं० । "अगोतो विनिवृत्तेश्च"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १३ । ८-श्च गोर्वि-आ० हा० वि० कां० । ९ पृ० १९४ पं० ७ तथा २३ । १० गोर्विलक्षण्यस्ये-आ० हा० वि० कां० । गो वैलक्षण्यस्ये-वा० वा० । ११ पृ० १९४ पं० ६ तथा २३ । १२-वश्च च यो-वा० वा० । १३ पृ० १९५ पं० ४ तथा २८ । १४-वस्तुनिविष-आ० हा० वि० । १५-तापि च का० । "-पि च-" तत्त्वसं० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ द्वि० पं० १ । १६ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १४ तथा द्वि० पं० १ । १७ पृ० १९५ पं० ४ तथा २८ । १८-थाह्युत्पोह्यक-मां० मां० । -थाह्युपोह्यक-आ० हा० वि० । -थाह्यपोह्यक-का० । "तथाहि-उत्पाद्यकत्वा(ल्प?)विषय"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३७, पं० ८ । "अपोहभेद-सत्तयोश्च तथाविधवासनामूलविकल्पविषयत्वात् कल्पितवृत्तान्तार्थोपस्थित्यनुरोधेनाऽवस्तुन्यपि वासनोपगमात्"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ प्र० पं० १२ । १९-पयासमु-वा० वा० । २० एव चेतस्तुथाऽनाग-आ० । एव चेतस्तुत्वाऽनाग-हा० वि० । एव चेतस्त्वचाऽनाग-कां० । एवस्तुत्वाऽनाग-वा० वा० । "एव चेतः तथाऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३७ पं० ९ । २१-ना समाध-मा० मां० । २२-वशा अवोधप्रत्यय-आ० हा० वि० वा० वा० । -वशाद् अवोधप्रत्यय-का० । २३-थाविध एव आ० हा० वि० । २४-दपोह्याना-वा० वा० । २५ पृ० १९५ पं० १८ । २६-रापोहप्रति-मां० मां० ।

शब्दान्तर[1]व्यपोहोऽपि
तादृगेव प्रतिबिम्बात्मक एवावग[2]म्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०८८ ]

इति वाचकापोहपक्षेऽपि दूषणं विस्तरतः प्रतिपादित[3]मयुक्तं द्रष्टव्यम्।

'[4]अगम्यगमकत्वं स्यात्' इति,

अत्र प्रयोगेऽपि यदि[5] 'अवस्तुत्वात्' इति सामान्येनोपादीयते तदा हेतुरसिद्धः यतः प्रतिबिम्बात्मनोर्वाच्य-वाचकापोहयोर्बाह्य[6]वस्तुत्वेन भ्रान्तैरवसितत्वात् सांवृतं वस्तुत्व[7]मस्त्येव । अथ पारमार्थिकमवस्तुत्वमाश्रित्य हेतुरभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता; नहि परमार्थतोऽस्माभिः किञ्चिद् वाच्यं वाचकं [8]चेष्यते। यत उक्तम्—

"न वाच्यं वाचकं [9]चास्ति परमार्थेन किञ्चन।
क्षणभङ्गिषु भावेषु व्यापकत्ववियोगतः[10]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०९० ]

क्षणिकत्वेन सङ्केतव्यवहारा[11]प्तकालव्यापकत्वाभावात् स्वलक्षणस्येति भावः । स्यादेतत् नास्माभिस्तात्त्विको वाच्यवाचकभावो निषिध्यते, किं तर्हि? तात्त्विकीमपोहयोरवस्तुतामाश्रित्य सांवृतमेव गम्यगमकत्वं निषिध्यते न[12] भाविकम्, तेन (तेन न) हेतोरसिद्धतापि (ता, नापि) सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषो भविष्यति; द्वयोरपि हि सांवृतत्वे तात्त्विकत्वे वाऽऽश्रीयमाणे स्यादेतद् दोषद्वयमिति[13], नैवम्; हेतोरनैका[14]न्तिकताप्रसक्तेः कल्पना[15]रचितेषु हि महाश्वेतादिष्वर्थेषु तद्वाचकेषु च शब्देषु परमार्थतो वस्तुत्वाभावेऽपि सांवृतस्य वाच्यवाचकभावस्य दर्शनात्। स्यादेतत् तत्रापि महाश्वेतादिषु सामान्यं वाच्यं वाचकं च परमार्थतोऽस्त्येव ततो न तैर्व्यभिचारः, असदेतत्; सामान्यस्य विस्तरेण निरस्तत्वात्[16] न[17] तेषु सामान्यं वाच्यं वाचकं वा महाश्वेतादिष्वस्तीति कथं नानैकान्तिकता हेतोः? स्यादेतत् यद्यपि तत्र वस्तुभूतं नास्ति सामान्यं वाच्यम् वाचकं[18] (कं तु) महाश्वेतादिशब्दस्वलक्षणमस्त्येव, न, सर्वपदार्थव्यापिनः क्षणभङ्गस्य प्रसाधितत्वान्न शब्द[19]स्वलक्षणस्य वाचकत्वं युक्तम्, क्षणभङ्गि[20]त्वेन तस्य सङ्केतासम्भवात् व्यवहारकालानन्वयाच्चेति प्रतिपादित[21]त्वात्।

"तस्मात् तद् द्वयमेष्टव्यं प्रतिबिम्बादि सांवृतम्।
तेषु तद् व्यभिचारित्वं दुर्निवारमतः स्थितम्[22]" ॥ [ तत्त्वसं० का० १०९४ ]

---

१-रव्यपो-वा० बा०।

२ "यादृशोऽर्थान्तरापोहो वाच्योऽयं प्रतिपादितः । शब्दान्तरव्यपोहोऽपि तादृगेवावगम्यताम्" ॥
तत्त्वसं० का०।

३-तमुक्तं द्र-भा० मा० विना। ४ अगम्यं भा० मा० विना। ५ पृ० १९५ पं० २४ तथा ४३।

६ "वस्तित्वाध्यवसायत्वाभावाऽवस्तुत्वमपोहयो । प्रसिद्धं साधृते मार्गे तात्त्विके त्विष्टसाधनम् ॥
तत्त्वसं० का० १०८९ पृ० ३३७।

७-मस्त्येवाप पर-वा० बा०। ८-कं वेष्य-भा०। ९-कं वास्ति वा० बा०। १० शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ द्वि० पं० १०। ११-हारऽसका-वा० बा०। १२ नाभाविक-आ० हा० वि०। "न भाविकम्, तेन न हेतोरसिद्धता, नापि सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३८ पं० ५। १३-ति नैव हे-आ० हा०।

१४ "तद् गम्यगमकत्वं चेत् साधृत प्रतिषिध्यते । तात्त्विकीं समुपाश्रित्य विनिवृत्त्योरवस्तुताम्" ॥
"तथापि व्यभिचारित्वं दुर्वारमनुषज्यते । विकल्परचितैरर्थैः शब्दैस्तद्वाचकैरपि" ॥
तत्त्वसं० का० १०९१-१०९२ पृ० ३३८।

१५ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ द्वि० पं० ११। १६ पृ० ११० पं० ८-पृ० ११३ पं० २८।

१७ "नहि तेष्वस्ति सामान्यं वाच्यं तस्य च वाचकम्। न वाचकत्वं शब्दस्य क्षणभङ्गि स्वलक्षणम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०९३ पृ० ३३८।

१८ वाचकं च महा-वा० बा० विना। "वाचकं तु"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३८ पं० २१। १९ शब्दलक्षणवाच-भा० मा० विना। २०-ङ्गित्वे च तस्य संकेतनासंभ-वा० बा०। २१ पृ० १७५ पं० ५ तथा ३०। २२ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०५ द्वि० पं० १३।

'द्वयम्' इति वाच्यं वाचकं च, 'प्रतिविम्बादि' इति आदिशब्देन निराकारज्ञानाभ्युपगमेऽपि स्वगतं किञ्चित् प्रतिनियतमनर्थेऽर्थाध्यवसायिरूपत्वं विज्ञानस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यमिति दर्शयति, 'तेषु' इति कल्पनोपरचितेष्वर्थेषु, 'तद्' इति तस्मात् तस्य वा हेतोर्व्यभिचारित्वं तद्व्यभिचारित्वम्। 'विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते' इति, अत्रापि न ह्यस्माभिः सर्वथा विधिरूपः शब्दार्थो नाभ्युपगम्यते—येनैतद् भवताऽनिष्टत्वप्रसङ्गापादनं क्रियते—किन्तु शब्दार्था(ब्दादर्था)ध्यवसायिनश्चेतसः समुत्पादात् संवृतो (सांवृतो) विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युपगम्यत एव। तत्त्वतस्तु न किञ्चिद् वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्त्विको निषिध्यते; तेन सांवृतस्य विधिरूपस्य श[...]।स्येष्टत्वात् स्वार्थाभिधाने विधिरूपे सत्यन्यव्यतिरेकस्य सामर्थ्यादधिगते वि(तिर्वि)धिपूर्वको रेको युज्यत एव। स्यादेतत् यदि विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युपगम्यते कथं तर्हि हेतुमुखे लक्षण.ण "असम्भवो विधिः" [ हेतु० ] इत्युक्तम्? सामान्यलक्षणादेर्वाच्यस्य [११]वकस्य वा असम्भवात् परमार्थतः, शब्दानां विकल्पानां च परमार्थतो विषयासम्भवात् परमार्था।श्रित्य विधेरसम्भव उक्त आचार्येण इत्यविरोधः।

'अपोहमात्रवाच्यत्वम्' इत्यादावपि

[१२]एकमेवानीलानुत्पलव्यावृत्तार्थाकारमुभयरूपं प्रतिविम्बकं नीलोत्पलशब्दादुदेति नाभावमात्रम्; अतः [१३]शैवलार्थोऽध्यवसायित्वमध्यवसायवशान्नीलोत्पलादिशब्दानामस्त्येवेति तदनुरोधात् सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव। यच्चोक्तम्—

'अथान्यापोहवद् वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते' इति,

[१५]तत्रापि यदि हि व्यावृत्ताद् भावाद् व्यावृत्तिर्नामान्या भवेत् स्यात् तदा [१६]तद्वत्पक्षोदितदोषप्रसङ्गः यावता नान्यतो व्यावृत्ताद् भावादन्या व्यावृत्तिरस्ति अपि तु व्यावृत्त एव भावो भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायां तथाऽभिधीयते; तेन यथा जातौ प्राधान्येन वाच्यायां पारतन्त्र्येण

---

१–र्थाव्यवसा–भां० मां० विना। "प्रतिनियतमनर्थेऽर्थाध्यवसायिरूपस्य विज्ञानस्य"–तत्त्वसं०पञ्जि० पृ०३३९ पं०२।
२ पृ० ११६ पं० ९।

३ "विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते। तदाभं जायते चेतः शब्दादर्थावसायि हि" ॥
"स्वार्थाभिधाने शब्दानामर्थादन्यनिवर्तनम्। तद्योगो व्यतिरेकोऽपि मम तत्पूर्वको ह्यसौ" ॥
तत्त्वसं० का० १०९५–१०९६ पृ० ३३९।

४ क्रियेत भा०। "क्रियते यावता शब्दादर्थाध्यवसायिनश्चेतसः समुत्पादात् साम्वृतो विधिरूपः शब्दार्थोऽभीष्यत एव"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३९ पं० ११। ५–म्यते तत्त्व–भा० वा० वा० विना। ६–गतिर्वि–वा० वा० विना। "सामर्थ्यादधिगतेर्विधिपूर्वको व्यतिरेकः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३९ पं० १४। ७–मुखेन ल–कां०। ८ "विधेः" –तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३९ पं० १७।

९ "असंभवो विधेरुक्तः सामान्यादेरसंभवात्। शब्दाना च विकल्पानां वस्तुनो(तोऽ)विषयत्वतः" ॥
तत्त्वसं० का० १०९७ पृ० ३३९।

१० "च"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३९ पं० २०। ११ पृ० ११६ पं० १८ तथा ३७।

१२ "नीलोत्पलादिशब्देभ्य एक एवा(एकमेवा)वसीयते। अनीलानुत्पलादिभ्यो व्यावृत्तं प्रतिबिम्बकम्" ॥
तत्त्वसं० का० १०९८ पृ० ३३९।

१३ "सबलार्थाभिधायित्वमध्यवसायवशात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३९ पं० २७। १४ पृ० १९७ पं० १८ तथा ३७।

१५ "न त्वन्यापोहवद् वस्तु वाच्यमस्माभिरिष्यते।
व्यावृत्तादन्यतोऽभा(तो भा)वान्नान्याद्वया (न्या व्या) वृत्तिरस्ति नः" ॥
"तत् पारतन्त्र्यदोषोऽयं जाताविव न संगतः। अवदातमिति(तमति)प्रोक्ते शब्दस्यार्थेऽपृथक्त्वतः" ॥
"'अवदातमिति(तमति)प्रोक्ते' इति विशुद्धधिया आचार्यदिङ्नागेन प्रोक्ते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४० पं० १५।
"विशेषणविशेष्यत्व–सामानाधिकरण्ययोः। तस्मादपोहे शब्दार्थे व्यवस्था न विरुध्यते" ॥
तत्त्वसं० का० १०९९–११००–११०१ पृ० ३४०।

१६ तद्वत्पक्षो–मां०। १७–तन्त्रेण भा० मां० विना।

तद्वतोऽभिधानात् तद्गतभेदानाक्षेपात् तैः सह सामानाधिकरण्यादेरभावप्रसङ्ग उक्तः तद्वदपोहपक्षे नावतरति, व्यतिरिक्तान्यापोहवतोऽनभिधानात्। न ह्यस्मन्मते परपक्ष इव सामानाधिकरण्याभावः। तथाहि–'नीलम्' इत्युक्ते पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायिभ्रमर-कोकिलाऽञ्जनादिषु संशय्यमानरूपं विकल्पप्रतिबिम्बकमुदेति, तच्चोत्पलशब्देन कोकिलादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तुविषये व्यवस्थाप्यमानं परिनिश्चितात्मकं प्रतीयते; तेन परस्परं यथोक्तबुद्धिप्रतिबिम्बकापेक्षया व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावान्नीलोत्पलशब्दयोर्विशेष्यविशेषणभावो न विरुध्यते, द्वाभ्यां चाऽनीलानुत्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्यं च भवतीति; परपक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा। तथाहि–विधिशब्दार्थवादिपक्षे नीलादिशब्देन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते 'किमुत्पलम् आहोस्विद् अञ्जनम्' इत्येवमज्ञानं विशेषान्तरे न प्राप्नोति सर्वात्मना तस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात्। एकस्यैकदैकप्रतिपत्त्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधाच्च धर्मान्तरे संशय-विपर्यासावित्युत्पलादिशब्दान्तरप्रयोगाकाङ्क्षा प्रयोक्तुरपि न प्राप्नोति—यदर्थमुत्पलादिशब्दोच्चारणम्—तस्य नीलशब्देनैव कृतत्वात्। अथापि स्यात् तद् वस्त्वेकदेशेनाभिहितं नीलशब्देन न सर्वात्मना, तेन स्वभावान्तराभिधानायापरः शब्दोऽन्वेष्यते, असदेतत्, न ह्येकस्य वस्तुनो देशाः सन्ति येनैकदेशेनाभिधानं स्यात् एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्, इति यावन्तस्त एकदेशास्तावन्त्येव भवता वस्तूनि प्रतिपादितानीति नैकमनेकं सिद्ध्येत्।

स्यादेतत् न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते किं तर्हि? नीलाख्यो गुणः तत्समवेता वा नीलत्वजातिः, उत्पलशब्देनाप्युत्पलजातिरेवोच्यते न द्रव्यम्; तेन भिन्नार्थाभिधानादुत्पलादिशब्दान्तराकाङ्क्षा युज्यत एव। नन्वेवं परस्परभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन नितरां नीलोत्पलशब्दयोर्न सामानाधिकरण्यम् चकुलोत्पलशब्दयोरिवैकस्मिन्नर्थे वृत्त्यभावात्। अथ नीलशब्दो यद्यपि गुणविशेषवचनस्तथापि तद्द्वारेण नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं द्रव्यमप्याह, तथोत्पलशब्देनापि जातिद्वारे (द्वारेण) तदेव द्रव्यमभिधीयत इति तयोरेकार्थवृत्तिसम्भवात् सामानाधिकरण्यं भविष्यति न चकुलोत्पल-

---

१–दानां क्षेयात् आ०। २ पृ० १९७ पं० २३ तथा ४०। ३ नाहरति वा० बा०।

४ "केवलान्नीलशब्दादेर्विशिष्टं प्रतिबिम्बकम्। कोकिलोत्पलभृङ्गादौ भ्रमानं प्रवर्तते" ॥

"पिकाऽञ्जनाद्यपोहेन विशिष्टविषयं पुनः। तदिन्दीवरशब्देन स्थाप्यते परिनिश्चितम्" ॥

"सामानाधिकरण्यादिरेवमस्मिन्न बाधितः। परपक्षे तु सर्वेषा तद्व्यवस्थाऽतिदुर्घटा" ॥

तत्त्वस० का० ११०२–११०३–११०४ पृ० ३४०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० ४।

५ संसह्य–वा० बा०। संसज्य–भा० मा०। ६–शब्देनाकोकि–वा० बा०। ७–लादिभ्योऽव्यवच्छि–मा०। ८–या व्यवच्छेद्यव्यवस्थाभावा–वा० बा०।–या व्यवच्छेदकव्यवस्थाभावा–आ० हा० वि०। ९–ण्यं भव–वा० बा०।

१० "तथाह्येकेन शब्देन सर्वथोक्तं स्वलक्षणम्। तथा चाभिहिते तस्मिन् कस्माद् भेदान्तरेऽमतिः" ॥

तत्त्वस० का० ११०५ पृ० ३४१। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० ८।

११–शब्दे नीला–भा० मा०। १२–न्तरेण प्रा–आ०।

१३ "यदर्थमपरः शब्दः प्रयुज्येताऽत्र वस्तुतः। सर्वथाऽभिहिते, नो चेत् तदनेकं प्रसज्यते" ॥

तत्त्वस० का० ११०६ पृ० ३४१।

१४ वस्तुन एकदेशाः सन्ति मा०। मा०पाठवत् तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४१ पं० २२। "एकस्य वस्तुनो देशानुपपत्तेः"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० १०। १५–न नीलोत्पलमभि–आ०।–न मभि–वा० बा० हा० वि०। "न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४१ पं० २६।

१६ "नीलजातिर्गुणो वाऽपि नीलशब्देन चेद् मतः। अन्येन्दीवरजातिस्तु व्यवसेयोत्पलश्रुतेः" ॥

"एवं सति तयोर्भेदाद् चकुलोत्पलशब्दवत्। सामानाधिकरण्यादि सुतरां नोपपद्यते" ॥

तत्त्वस० का० ११०७–११०८ पृ० ३४२।

१७–न नातरं वा० बा०।–न नन्तरं आ० हा० वि०। १८–योरेवैक–भा० मा० आ०। वा० बा० प्रतौ नायं पाठांशः। १९–न्नर्थे नीलोत्पलशब्दयोर्वृ–भा० मा०। २० "जाति-गुणविशेषवचनः"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० १०। २१ जातिरवो त–वा० बा०। "जातिद्वारेण"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० ११।

शब्दयोरिति, असदेतत्; नीलगुण-तज्जातिसम्बद्धस्य द्रव्यस्य नीलशब्देन प्रतिपादनात् सर्वात्मना उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । स्यादेतत् यद्यपि नीलशब्देन गुण-तज्जातिमद् द्रव्यमभिधीयते तथापि नीलशब्दस्यानेकार्थवृत्तिदर्शनात् प्रतिपत्तुरुत्पलार्थ(र्थे)निश्चितरूपा न बुद्धिरुपजायते—कोकिलादेरपि नीलत्वात्—अतोऽर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायोत्पलश्रुतेः प्रयोगः सार्थक एव, तदप्यसम्यक्; प्रकृतार्थानभिज्ञतयाभिधानात् । विधिशब्दार्थपक्षे हि सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीत्येतदत्र प्रकृतम्, यदि चोत्पलशब्दः संशयव्यवच्छेदायैव व्याप्रियते न द्रव्यप्रतिपत्तये न तर्हि विधिः शब्दार्थः स्यात् उत्पलशब्देन भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रतिपादनात्, परस्परविरुद्धं चेदमभिधीयते-'नीलशब्देनोत्पलादिकं द्रव्यमभिधीयते अथ च प्रतिपत्तुस्तत्र निश्चयो न जायते' इति; न हि यत्र संशयो जायते स शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, नापि निश्चयेन विषयीकृते वस्तुनि संशयोऽवकाशं लभते निश्चयाऽऽरोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात् । स्यादेतत् यद्यपि नीलोत्पलशब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्नास्ति तदर्थयोस्तु जाति-गु(योस्तु गु)णजात्योरेकस्मिन् द्रव्ये वृत्तिरस्तीत्यतोऽर्थद्वारकमनयोः सामानाधिकरण्यं भविष्यति, तदेतदयुक्तम् अतिप्रसङ्गात्; एवं हि रूप रसशब्दयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यात् तदर्थयो रूप-रसयोरेकस्मिन् पृथिव्यादिद्रव्ये वृत्तेः । किञ्च, तर्हि 'नीलोत्पलम्' इत्येकार्थविषया बुद्धिर्न प्राप्नोति एकद्रव्यसमवेतयोर्गुण-जात्योर्द्वाभ्यां पृथक् पृथगभिधानात्; न चैकार्थविषयज्ञानानुत्पादे शब्दयोः सामानाधिकरण्यमस्तीत्यलमतिप्रसङ्गेन । अथापि स्यात् यदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं वस्तु न तदेवोत्पलशब्देनोच्यते, तेनोत्पलश्रुतिर्व्यर्था न भविष्यति । नन्वेवं भिन्नगुणजात्याश्रयद्रव्यप्रतिपादकत्वान्नीलोत्पलशब्दयोः कुतः सामानाधिकरण्यम्? अथ यद्यपि यदेव द्रव्यं नीलशब्देनोच्यते उत्पलशब्देनापि तदेव तथापि नीलशब्दो नोत्पलजातिसम्बन्धिरूपेण द्रव्यमभिधत्ते, किं तर्हि? नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपेणैव, तेनोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वमस्याभिधातुमुत्पलश्रुतिः प्रवर्तमाना नां(ना)नार्थिका भविष्यति, असदेतत्; न हि नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यदेवोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वं येन नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधाने द्रव्यस्योत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधानं (नं न) भवेत्, एकस्माद् द्रव्याद् द्वयोरपि सम्बन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात् तयोरप्येकत्वमेवेत्ययुक्तमेकरूपाभिधानेऽपररूपस्यानभिधानम् । भवतु वोत्पलत्वसम्बन्धिरूपत्वं नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यत् तथा-

---

१ "गुण-तज्जातिसंबद्धं द्रव्यं चेत् प्रतिपाद्यते । नीलशब्देन यद्येवं व्यर्था स्यादुत्पलश्रुति" ॥
"ताभ्यां यदेव संबद्धं तदेवोत्पलजातिमत् । नीलश्रुत्यैव तन्नोक्तं व्यर्था नीलोत्पलश्रुति." ॥

तत्त्वसं० का० ११०९-१११० पृ० ३४२ ।

२ गुण-जातिम-आ० हा० । गुण-तज्जातिद्र-वा० बा० । ३ "प्रतिपत्तुरुत्पलार्थे निश्चितरूपा"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० २२ । ४ "सामानाधिकरण्यादि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० २४ । ५-व च व्या-वि० । ६-यते तद्द्रव्यप्र-भा० मा० । ७ जायेत इ-भा० मा० विना । ८ "तदर्थयोस्तु गुण-जात्योरेकस्मिन्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४३ पं० ४ । ९-ण-जाति-आ० हा० वि० वा० बा० ।

१० "गुण-तज्जातिसंबद्धादन्यदुत्पलजातिमत् । यदि भिन्नाश्रये स्याता पुनर्नीलोत्पलश्रुती" ॥

तत्त्वसं० का० ११११ पृ० ३४३ ।

११-शब्देनो-भा० मा० विना । १२-म्बन्धरू-भा० मा० विना । १३-ना नर्थिका आ० विना ।-ना नानर्थिका वि० सं० । "प्रवर्तमाना नानर्थिका"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४३ पं० २० ।

१४ "अथोत्पलत्वसंबन्धिरूपत्वेन न चोदयेत् । गुण-तज्जातिसंबद्धं द्रव्यं नीलमिति ध्वनि." ॥

तत्त्वसं० का० १११२ पृ० ३४३ ।

१५ "स्यान्नामोत्पलतायोगिरूपत्वमतदात्मकम् । उत्पलत्वेन संबद्धं ताभ्यां संबद्धमेव तत्" ॥
"नीलश्रुत्या च तत् प्रोक्तं शाब्द्याऽत्र विषयीकृतम् । बुद्ध्या सर्वात्मना नाशेस्तदनर्थोत्पलश्रुतिः" ॥

तत्त्वसं० का० १११३-१११४ पृ० ३४३ ।

१६ "येन नीलोत्पलादिसंबन्धि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ३ । १७-त्वाभिधा न भ-वा० बा० ।-"त्वाभिधानं न भवेत्" तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ४ । १८ द्रव्या द्रव्ययोरपि आ० हा० वि० । द्रव्याद्द्वयोयोरपि भा० मा० । १९-पत्वयोः व्य-आ० ।-पत्वयो व्य-हा० ।-पत्वाव्यतिरेकात् तयो-वा० बा० । "संबन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात् तद्वत् तयोरपि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ४ । २०-रप्येकान्तयोरप्ये-वि० । २१-स्याभिधान-वा० बा० । २२-तु चो-वा० बा० भा० मा० ।

तद्वतोऽभिधानात् तद्गतभेदानाक्षेपात् तैः सह सामानाधिकरण्यादेरभावप्रसङ्ग उक्तः तद्वपोह-पक्षे नावतरति, व्यतिरिक्तान्यापोहवतोऽनभिधानात्। न ह्यस्मन्मते परपक्ष इव सामानाधिकरण्या-भावः। तथाहि–'नीलम्' इत्युक्ते पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायिभ्रमर-कोकिलाऽञ्जनादिषु संशय्य-मानरूपं विकल्पप्रतिबिम्बकमुदेति, तच्चोत्पलशब्देन कोकिलादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तु-विषये व्यवस्थाप्यमानं परिनिश्चितात्मकं प्रतीयते; तेन परस्परं यथोक्तबुद्धिप्रतिबिम्बकापेक्षया व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावान्नीलोत्पलशब्दयोर्विशेष्यविशेषणभावो न विरुध्यते, द्वाभ्यां चाऽनीलानु-त्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्यं च भवतीति; पर-पक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा। तथाहि–विधिशब्दार्थवादिपक्षे नीलादिशब्देन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते 'किमुत्पलम् आहोस्विद् अञ्जनम्' इत्येवमज्ञानं विशेषान्तरे न प्राप्नोति सर्वात्मना तस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात्। एकस्यैकदैकप्रतिपत्त्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधान्न धर्मान्तरे संशय–विपर्यासा-वित्युत्पलादिशब्दान्तरप्रयोगाकाङ्क्षा प्रयोक्तुरपि न प्राप्नोति—यदर्थमुत्पलादिशब्दोच्चारणम्—तस्य नीलशब्देनैव कृतत्वात्। अथापि स्यात् तद् वस्त्वेकदेशेनाभिहितं नीलशब्देन न सर्वात्मना; तेन स्वभावान्तराभिधानायापरः शब्दोऽन्वेष्यते, असदेतत्; न ह्येकस्य वस्तुनो देशाः सन्ति येनैक-देशेनाभिधानं स्यात् एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्, इति यावन्तस्त एकदेशा-स्तावन्त्येव भवता वस्तूनि प्रतिपादितानीति नैकमनेकं सिद्ध्येत्।

स्यादेतत् न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते किं तर्हि? नीलाख्यो गुणः तत्समवेता वा नीलत्व-जातिः, उत्पलशब्देनाप्युत्पलजातिरेवोच्यते न द्रव्यम्; तेन भिन्नार्थाभिधानादुत्पलादिशब्दान्त-राकाङ्क्षा युज्यत एव। नन्वेवं परस्परभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन नितरां नीलोत्पलशब्दयोर्न सामाना-धिकरण्यम् वकुलोत्पलशब्दयोरिवैकस्मिन्नर्थे वृत्त्यभावात्। अथ नीलशब्दो यद्यपि गुणविशेषवचन-स्तथापि तद्द्वारेण नीलगुण–तज्जातिभ्यां सम्बद्धं द्रव्यमप्याह, तथोत्पलशब्देनापि जातिद्वारे (द्वारेण) तदेव द्रव्यमभिधीयत इति तयोरेकार्थवृत्तिसम्भवात् सामानाधिकरण्यं भविष्यति न वकुलोत्पल-

---

१–दानां क्षेपात् आ०। २ पृ० १९७ पं० २३ तथा ४०। ३ नाहरति वा० बा०।

४ "केवलान्नीलशब्दादेर्विशिष्टं प्रतिबिम्बकम्। कोकिलोत्पलभृङ्गादौ भ्रमानं प्रवर्तते" ॥
"पिकाऽञ्जनाद्यपोहेन विशिष्टविषयं पुनः। तदिन्दीवरशब्देन स्थाप्यते परिनिश्चितम्" ॥
"सामानाधिकरण्यादिरेवमस्मिन्न बाधितः। परपक्षे तु सर्वेषा तद्व्यवस्थाऽतिदुर्घटा" ॥
तत्त्वसं० का० ११०२–११०३–११०४ पृ० ३४०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० ४।

५ संसक्ष–वा० बा०। संसत्य–भा० मा०। ६–शब्देनाकोकि–वा० बा०। ७–लादिभ्योऽव्यव-च्छिद्य–मा०। ८–या व्यवच्छेद्यव्यवस्थाभावा–वा० बा०।–या व्यवच्छेदकव्यवस्थाभावा–आ० हा० वि०। ९–पर्यं भव–वा० बा०।

१० "तथाह्येकेन शब्देन सर्वथोक्तं स्वलक्षणम्। तथा चाभिहिते तस्मिन् कस्माद् भेदान्तरेऽमतिः" ॥
तत्त्वसं० का० ११०५ पृ० ३४१। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० ८।

११–शब्दे नीला–भा० मा०। १२–न्तरेण प्रा–आ०।

१३ "यदर्थमपरः शब्दः प्रयुज्येताऽत्र वस्तुतः। सर्वथाऽभिहिते, नो चेत् तदनेकं प्रसज्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ११०६ पृ० ३४१।

१४ वस्तुन एकदेशाः सन्ति मा०। मा०पाठवत् तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४१ पं० २२। "एकस्य वस्तुनो देशानुपपत्तेः"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ प्र० पं० १०। १५–न नीलोत्पलमभि–आ०।–न मभि–वा० बा० हा० वि०। "न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४१ पं० २६।

१६ "नीलजातिर्गुणो वाऽपि नीलशब्देन चेद् गतः। अन्येन्दीवरजातिस्तु व्यवसेयोत्पलश्रुतेः" ॥
"एवं सति तयोर्भेदाद् वकुलोत्पलशब्दवत्। सामानाधिकरण्यादि सुतरां नोपपद्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ११०७–११०८ पृ० ३४२।

१७–न नातरं वा० बा०।–न नन्तरं आ० हा० वि०। १८–योरेवैक–भा० मा० आ०। वा० बा० प्रतौ नायं पाठः। १९–न्नर्थे नीलोत्पलशब्दयोर्वृ–भा० मा०। २० "जाति–गुणविशेषवचनः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० १०। २१ जातिरवो त–वा० बा०। "जातिद्वारेण"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० ११।

शब्दयोरिति, असदेतत्; नीलगुण-तज्जातिसम्बद्धस्य द्रव्यस्य नीलशब्देन प्रतिपादनात् सर्वात्मना उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स्यादेतत् यद्यपि नीलशब्देन गुण-तज्जातिमद् द्रव्यमभिधीयते तथापि नीलशब्दस्यानेकार्थवृत्तिदर्शनात् प्रतिपत्तुरुत्पलार्थ(र्थे)निश्चितरूपा न बुद्धिरुपजायते—कोकिलादेरपि नीलत्वात्—अतोऽर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायोत्पलश्रुतेः प्रयोगः सार्थक एव, तदप्यसम्यक्, प्रक्रान्तार्थानभिज्ञतयाभिधानात्। विधिशब्दार्थपक्षे हि सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीत्येतदत्र प्रकृतम्, यदि चोत्पलशब्दः संशयव्यवच्छेदायैव व्याप्रियते न द्रव्यप्रतिपत्तये न तर्हि विधिः शब्दार्थः स्यात् उत्पलशब्देन भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रतिपादनात्, परस्परविरुद्धं चेदमभिधीयते-'नीलशब्देनोत्पलादिकं द्रव्यमभिधीयते अथ च प्रतिपत्तुस्तत्र निश्चयो न जायते' इति; न हि यत्र संशयो जायते स शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, नापि निश्चयेन विषयीकृते वस्तुनि संशयोऽवकाशं लभते निश्चयाऽऽरोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात्। स्यादेतत् यद्यपि नीलोत्पलशब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्नास्ति तदर्थयोस्तु जाति-गु(योस्तु गु)णजात्योरेकस्मिन् द्रव्ये वृत्तिरस्तीत्यतोऽर्थद्वारकमनयोः सामानाधिकरण्यं भविष्यति, तदेतदयुक्तम् अतिप्रसङ्गात्; एवं हि रूप-रसशब्दयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यात् तदर्थयो रूप-रसयोरेकस्मिन् पृथिव्यादिद्रव्ये वृत्तेः। किञ्च, तर्हि 'नीलोत्पलम्' इत्येकार्थविषया बुद्धिर्न प्राप्नोति एकद्रव्यसमवेतयोर्गुण-जात्योर्द्वाभ्यां पृथक् पृथगभिधानात्; न चैकार्थविषयज्ञानानुत्पादे शब्दयोः सामानाधिकरण्यमस्तीत्यलमतिप्रसङ्गेन। अथापि स्यात् यदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं वस्तु न तदेवोत्पलशब्देनोच्यते, तेनोत्पलश्रुतिर्व्यर्था न भविष्यति। नन्वेवं भिन्नगुणजात्याश्रयद्रव्यप्रतिपादकत्वान्नीलोत्पलशब्दयोः कुतः सामानाधिकरण्यम्? अथ यद्यपि यदेव द्रव्यं नीलशब्देनोच्यते उत्पलशब्देनापि तदेव तथापि नीलशब्दो नोत्पलजातिसम्बन्धिरूपेण द्रव्यमभिधत्ते, किं तर्हि? नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपेणैव, तेनोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वमस्याभिधातुमुत्पलश्रुतिः प्रवर्तमाना नां(ना)नार्थिका भविष्यति, असदेतत्; न हि नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यदेवोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वं येन नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधाने द्रव्यस्योत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधानं (नं न) भवेत्, एकस्माद् द्रव्याद् द्वयोरपि सम्बन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात् तयोरप्येकत्वमेवेत्ययुक्तमेकरूपाभिधानेऽपररूपस्यानभिधानम्। भवतु वोत्पलत्वसम्बन्धिरूपत्वं नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यत् तथा-

---

१ "गुण-तज्जातिसंबद्धं द्रव्यं चेत् प्रतिपाद्यते। नीलशब्देन यद्येव व्यर्था स्यादुत्पलश्रुतिः" ॥
"ताभ्यां यदेव संबद्धं तदेवोत्पलजातिमत्। नीलश्रुत्यैव तत्रोक्तं व्यर्था नीलोत्पलश्रुति" ॥
तत्त्वसं० का० ११०९-१११० पृ० ३४२।

२ गुण-जातिम-आ० हा०। गुण-तज्जातिद्र-वा० वा०। ३ "प्रतिपत्तुरुत्पलार्थे निश्चितरूपा"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० २२। ४ "सामानाधिकरण्यादि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४२ पं० २४। ५-च च व्या-वि०। ६-यते तद्द्रव्यप्र-भां० मां०। ७ जायेत इ-भां० मां० विना। ८ "तदर्थयोस्तु गुण-जात्योरेकस्मिन्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४३ पं० ४। ९-ण-जाति-आ० हा० वि० वा० वा०।

१० "गुण-तज्जातिसंबद्धादन्यदुत्पलजातिमत्। यदि भिन्नाश्रये स्याता पुनर्नीलोत्पलश्रुती" ॥
तत्त्वसं० का० ११११ पृ० ३४३।

११-शब्देनो-भां० मां० विना। १२-म्बन्धिरू-भां० मां० विना। १३-ना नर्थिका आ० विना।-ना नानार्थिका वि० सं०। "प्रवर्तमाना नानर्थिका"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४३ पं० २०।

१४ "अथोत्पलत्वसंबन्धिरूपत्वेन न चोदयेत्। गुण-तज्जातिसंबद्धं द्रव्यं नीलमिति ध्वनि" ॥
तत्त्वसं० का० १११२ पृ० ३४३।

१५ "स्यान्नामोत्पलतायोगिरूपत्वमतदात्मकम्। उत्पलत्वेन संबद्धं ताभ्यां संबद्धमेव तत्" ॥
"नीलश्रुत्या च तत् प्रोक्तं शब्त्याऽत्र विषयीकृतम्। बुद्ध्या सर्वात्मना नाशेस्तदनर्थोत्पलश्रुति." ॥
तत्त्वसं० का० १११३-१११४ पृ० ३४३।

१६ "येन नीलोत्पलादिसंबन्धि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ३। १७-त्वाभिधा न भ-वा० वा०।-"त्वाभिधानं न भवेत्" तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ४। १८ द्रव्या द्रव्ययोरपि आ० हा० वि०। द्रव्याद्द्वयोयोरपि भां० मां०। १९-पत्वयोः व्य-आ०।-पत्वयो व्य-हा०।-पत्वाव्यतिरेकात् तयो-वा० वा०। "संबन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात्, तद्वत् तयोरपि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ४। २०-रप्येकान्तयोरप्ये-वि०। २१-स्याभिधान-वा० वा०। २२-तु चो-वा० वा० भां० मां०।

प्युत्पलश्रुतिरनर्थिकैव । तथाहि–यत् तद् अनंशं वस्तु उत्पलजात्या सम्बद्धं तदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बध्यते, तच्चानंशत्वात् सर्वात्मना नीलश्रुत्यैवाभिहितम् किमपरमनभिहितमस्य स्वरूपमस्ति यदभिधानायोत्पलश्रुतिः सार्थिका भवेत् ।

उद्द्योतकरस्त्वाह–" 'निरंशं वस्तु सर्वात्मना विषयीकृतं नांशेन' इत्येवं विकल्पो नावतरति, सर्वशब्दस्यानेकार्थविषयत्वात् एकशब्दस्य चावयववृत्तित्वात्" [ ] इति, असदेतत्, वाक्यार्थापरिज्ञानत एवमभिधानात् । तथाहि–'प्रथमेनैव नीलशब्देन सर्वात्मना तत् प्रकाशितम्' इत्यस्यायमर्थो विवक्षितः–यादृशं तद् वस्तु तादृशमेवाभिहितम् न तस्य कश्चित् स्वभावस्त्यक्तः यदभिधानायोत्पलश्रुतिर्व्याप्रियेत निरंशत्वात् तस्य, इति वाक्छलमेतत्–'कृत्स्नैक-देशविकल्पानुपपत्तिस्तत्र' इति, एवमन्येषामप्यनित्यादिशब्दानां प्रयोगोऽनर्थकः, प्रयोगे वा पर्यायत्वमेव स्यात् तरु–पादपादिशब्दवत् । उक्तं च–

"अन्यथैकेन शब्देन व्याप्त एकत्र वस्तुनि ।
बुद्ध्या वा नान्यविषय इति पर्यायता भवेत्" ॥ [ ] इति ।

अथ भवत्पक्षेऽप्येकेन शब्देनाभिहिते वस्तुनि भेदान्तरे संशय-विपर्यासाभावप्रसङ्गः शब्दान्तरा-प्रवृत्तिप्रसङ्गश्च कस्मान्न भवति? संवृत्या शब्दार्थाभ्युपगमान्नास्माकमयं दोषः । तथाहि–नील-शब्देनानीलपदार्थव्यावृत्तमुत्पलादिषूपप्लवमानरूपतया तेषामप्रतिक्षेपकमध्यवसितबाह्यरूपं विकल्पप्र-तिबिम्बकमुपजायते पुनरुत्पलश्रुत्या तदेवानुत्पलव्यावृत्तमारोपितबाह्यैकवस्तुस्वरूपमुपजन्यते, तदेवं क्रमेणानीलानुत्पलव्यावृत्तमध्यवसितबाह्यैकरूपं भ्रान्तं विकल्पप्रतिबिम्बकमुपजन्यत इति तदनु-रोधात् सांवृतं सामानाधिकरण्यं युज्यत एव ।

यदुक्तम्–

'लिङ्ग–सङ्ख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्यते' इति,

अत्र वस्तुधर्मत्वं लिङ्ग–सङ्ख्यादीनामसिद्धम् स्वतन्त्रेच्छाविरचितसङ्केतमात्रभावित्वात् । प्रयोगः–यो

---

१–म्बध्यते भा० मां० विना । २ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४४ पं० ११ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ द्वि० पं० १ ।

"न चेद् भेदविनिर्मुक्ते कार्त्स्न्य-भेदविकल्पनम् । न वाक्यार्थोऽपरिज्ञानादिदं ह्यत्र विवक्षितम्" ॥

तत्त्वसं० का० १११५ पृ० ३४४ ।

३–क्यार्थपरि–भा० मा० विना ।

४ "प्रथमेनैव शब्देन सर्वथा तत् प्रकाशितम् । नात्मा कश्चित् परित्यक्तो यादृशं तत् तथोदितम्" ॥

तत्त्वसं० का० १११६ पृ० ३४४ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ द्वि० पं० २ ।

५–तं तस्य न क–वा० बा० विना ।

६ "एतेनैव प्रकारेण नान्येषामप्युदीरणम् । सफलं तत्र शब्दानामुक्तो पर्यायता ध्रुवम्" ॥

तत्त्वसं० का० १११७ पृ० ३४४ ।

७ बुद्ध्या वा वा० बा० । ८–यतो भ–आ० हा० वि० । ९ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४५ पं० २ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ द्वि० प० ६ । १०–विपर्ययाभावः प्रस–आ० हा० वि० ।–विपर्ययाभावाप्रस–वा० बा० । ११–न्तरप्रवृ–वा० बा० ।

१२ "अस्माकं तु न शब्देन बाह्यार्थः प्रतिपाद्यते । शब्दाच्च चापि विज्ञानं बाह्यार्थविषयं मतम्" ॥
"यतः सर्वात्मना ताभ्यां विषयीकरणात् परम् । शब्दज्ञानान्तरं तत्र पर्यायत्वं प्रयास्यति" ॥

तत्त्वसं० का० १११८–१११९ पृ० ३४५ ।

१३ "प्रतिबिम्बं तु शब्देन क्रमेणैवोपजन्यते । एकत्वेन च तद् भाति बाह्यत्वेन च विभ्रमात्" ॥
"सामानाधिकरण्यादि प्रतिबिम्बानुरोधतः । परमार्थेन शब्दास्तु मता निर्विषया इमे" ॥

तत्त्वसं० का० ११२०–११२१ पृ० ३४५ ।

१४–लादिप्लव–वा० बा० । १५–रूपभ्रान्तिवि–वा० बा० । १६–धात् संवृ–आ० हा० वि०
१७ पृ० ११७ पं० २८ तथा ४४ । १८–धर्मलिङ्ग–वा० बा० ।

"लिङ्ग–संख्यादियोगस्तु व्यक्तीनामपि नास्त्ययम् । इच्छारचितसंकेतनिमित्तो न हि वास्तवः" ॥

तत्त्वसं० का० ११२२ पृ० ३४५ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ द्वि० पं० ९ ।

यदन्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते नासौ तद्धर्मः, यथा शीतत्वमग्नेः, नानुविधत्ते च लिङ्ग-सङ्ख्यादि[1]र्वस्तुनोऽन्वय-व्यतिरेकाविति व्यापकानुपलब्धिः । न चायमसिद्धो हेतुः; यतो यदि लिङ्गं वस्तुतो वस्तु स्यात् तदैकस्मिंस्तटाख्ये[2] वस्तुनि 'तटः' 'तटी' 'तटम्' इति लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तेरेकस्य वस्तुनस्त्रैरूप्यप्रसक्तिः स्यात् । न चैकस्य स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं युक्तम् एकत्वहानिप्रसङ्गात्, विरुद्धधर्माध्यासितस्याप्येकत्वे सर्वं[3]विश्वमेकमेव वस्तु स्यात्; ततश्च सहोत्पत्ति-विनाशप्रसङ्गः । किञ्च, सर्वस्यैव वस्तुन एकशब्देन शब्दान्तरे[4]ण वा लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् तद्विषयाणां सर्वचेतसां मेचकादिरत्नवच्छबलाभास[5]ताप्रसङ्गः । अ[6]थ सत्यपि लिङ्गत्रययोगित्वे स[7]ति सर्ववस्तूनां यदेव रूपं वक्तुमिष्टं प्रतिपादकेन तन्मात्रावभासान्येव विवक्षावशाच्चेतांसि भविष्यन्ति न शबलाभासानि; ननु यदि 'विवक्षावशादेकरूपाणि चेतांसि भवन्ति' इत्यङ्गीक्रियते तदा[8] तानि त्र्यात्मकवस्तुविषयाणि न प्राप्नुवन्ति तदाकारशून्यत्वात्, चक्षुर्विज्ञानवत् श[10]ब्दविषये । योऽपि मन्यते "संस्त्यान-प्रसव-स्थितिषु यथाक्रमं स्त्री-पुं-नपुंसकव्य[11]वस्थाति ( स्था" [ ] इति ) तस्यापि तन्न युक्तम्; य[12]तो यदि स्थित्याद्याश्रया लिङ्गव्यवस्था तदा तट शृङ्खलादिव[13]त् सर्वपदार्थेष्व-विभागेन त्रिलिङ्गताप्रसक्तिः स्थित्यादेर्विद्यमानत्वात्—अन्यथा 'तटः' 'तटी' 'तटम्' इत्यादावपि लिङ्गत्रयं न स्यात् विशेषाभावात्—इत्यतिव्यापिता लक्षणदोषः । व्यभिचारदर्शना[14]द् वाऽव्यापिता च—अ[15]सत्यपि हि स्थित्यादिके शशविषाणादिष्वसद्रू[16]पेषु (षु) 'अभावः' 'निरु[17]पाख्यम्' 'तुच्छता' इत्या[18]दिभिः शब्दैः लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् । इतश्चाव्यापिनी—स्थि[19]त्यादिष्वेव प्रत्येकं लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तिदर्शना[20]त् । तथाहि-प्रसव उत्पादः, संस्त्यानं विनाशः, आत्मस्वरूपं च स्थितिः; तत्र प्रसवे स्थिति-संस्त्यानयोरभावात् कथं 'उत्पादः' 'उत्पत्तिः' 'जन्म' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य[21] शब्दस्य प्रवृत्तिर्भवेत् ? तथा, संस्त्याने स्थिति-प्रसवयोरभावात् कथं 'तिरोभूतिः' 'विनाशः' 'तिरोभवनम्' इत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्येत 'संस्त्यानम्' इत्यनेन च ? तथा, स्थितौ संस्त्यान-प्रसवयोरसम्भवात्

---

१-ङ्ख्यादि च-आ० । २-ख्यं वस्तु स्यात् आ० ।

"तटस्तटी तटं चेति नै(त्रै)रूप्यं न च वस्तुनः । शबलाभासताप्राप्तेः सर्वेषां तत्र चेतसाम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११२३ पृ० ३४६ ।

३ "सर्वं विश्वमेकमेव"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४६ पं० ११ । ४-ण च लि-आ० । ५-सताप्र-भा० मां० विना ।

६ असत्यपि वि० मु० । अवसत्यपि आ० । ७ 'सति' वस्तुभूते, तथा च 'वस्तुभूते लिङ्गत्रयसम्बन्धे सत्यपि' इत्यर्थः ।

८ "विवक्षानुगतत्वे वा न स्युस्तद्विषयाणि ते । तद्वशादेकरूपाणि नैकरूपं च वस्तु तत्" ॥

तत्त्वसं० का० ११२४ पृ० ३४६ ।

९-दात्मानि वा० बा० विना । १० "शब्दविषयम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३४६ पं० २१ । ११-वस्थितित-वि० मु० ।-वस्थेतिति त-हा० ।-वस्थातिति त-आ० ।-वस्थितेति त-भां० मा० । "यथोक्तस्त्री-पुं-नपुंसकत्वव्यवस्थेति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४६ पं० २२ । स्त्री-पुं-नपुंसकव्यवस्था"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०६ द्वि० पं० १४ ।

१२ "स्थिति-प्रसव-संस्त्यानसंश्रया लिङ्गसंस्थितिः । यदि स्यादविभागेन त्रि(त्रि)लिङ्गत्वं प्रसज्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ११२५ पृ० ३४६ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ प्र० पं० १ ।

१३-वच्छद्रूप-वा० बा० । १४-नाच्चा व्या-भा० मा० ।-नात्वा व्या-वा० बा० ।

१५ अभावो निरुपाख्यत्वं तुच्छतेति यदुच्यते । तत्र स्थित्यादिसंबन्धः कोऽसत्सु परिकल्प्यते" ॥

तत्त्वस० का० ११२६ पृ० ३४७ ।

१६-द्रूपो स्व-वा० बा० । "शशविषाणादिषु असद्रूपेषु"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४७ पं० ५ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ प्र० पं० १-२ । १७ निरूपा-भा० मां० विना । १८-त्यादिशब्दैः आ० का० ।

१९ "उत्पादः प्रसवश्चैषां नाशः संस्त्यानमिष्यते । आत्मरूपं तु भावानां स्थितिरित्यभिधीयते" ॥

"तत्रोत्पादे न नाशोऽस्ति तद् किमुत्पत्तिरुच्यते । नात्माकारा स्थितिश्चास्ति तत् कथं जन्म गीयते" ॥

"संस्त्याने न द्वयं चान्यत् तत् कथं व्यपदिश्यते । तिरोभावश्च नाशश्च तिरोभवनमित्यपि" ॥

"स्थितौ स्थितिः स्वभावश्च हेतुना केन वोच्यते । अथाऽविभक्तमेवैषां रूपं स्यादेकलिङ्गता" ॥

तत्त्वसं० का० ११२७-११२८-११२९-११३० पृ० ३४७ ।

२०-नात् इतश्चाव्यापिनी तथाहि आ० हा० वि० । २१-स्य प्रवृ-वा० बा० ।

'स्थितिः' 'स्थानम्' 'स्वभावः' चेत्यादिभिः शब्दैः कथमुच्येत ?, अथ स्थित्यादीनां परस्परमविभक्तरूपत्वात् प्रत्येकमेषु लिङ्गत्रययोगिता, ननु यद्येषां परस्परमविभक्तं रूपं तदेकमेव परमार्थतो लिङ्गं स्यात् न लिङ्गत्रयम्।

अन्यस्त्वाह-"स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव सामान्यविशेषाः" [ ]। तत्र पक्षे सामान्यविशेषाणामभावा(वात्)स्त्रीत्वादीनामपि तद्रूपाणामभाव इत्यसम्भवि लक्षणम्। किञ्च, तेष्वेवं सामान्यविशेषेष्वन्तरेणाप्यपरं सामान्यविशेषं 'जातिः' 'भावः' 'सामान्यम्' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य प्रवृत्तिदर्शनात् अव्यापिता च लक्षणस्य, न हि सामान्येष्वपराणि सामान्यानि "निःसामान्यानि सामान्यानि" [ ] इति वैशेषिकसिद्धान्तात्। यदा तु सामान्यस्याप्यपराणि सामान्यानीष्यन्ते वैयाकरणैः—यथोक्तम्—

"अर्थजात्यभिधानेऽपि सर्वे जातिविधायिनः।
व्यापारलक्षणा यस्मात् पदार्थाः समवस्थिताः" ॥ [ वाक्यप० तृ० का० श्लो० ११ ]

न हि शास्त्रान्तरपरिदृष्टा जातिव्यवस्था नियोगतो वैयाकरणैरभ्युपगन्तव्या, प्रत्ययाभिधानाऽन्वयव्यापारकार्यानुमीयमानरूपा हि जातयः न हि तासामियत्ता काचित्; अतो यथोदितकार्यदर्शनात् सामान्याधारा जातिः सम्प्रतिज्ञायते तथाभूतप्रत्यय-शब्दनिबन्धनम्। 'व्यापारलक्षणा' इति अभिधानप्रत्ययव्यापारतो व्यवस्थितलक्षणा इत्यर्थः तदाऽनन्तरोक्तमेव दूषणम्—'सामान्यस्याभावात्' इत्यादि। अपि च, न हि असत्सु शशविषाणादिषु जातिरस्ति वस्तुधर्मत्वात् तस्याः इति तेषु 'अभावआदिशब्दप्रयोगो न स्यात्। तस्मादव्यापिनी लिङ्गव्यवस्थेतीच्छारचितसङ्केतमात्रभाविन्येवेयं लिङ्गत्रयव्यवस्थेति स्थितम्।

सङ्ख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्धः। तथाहि"-सा मायिक्यै(क्येव) न वास्तवी दारादिष्वसत्यपि वास्तवे" भेदे विवक्षावशेनोपकल्पितत्वात्; अन्यथा बहुत्वैकत्वादिसङ्ख्या वस्तुगतभेदाभेदलक्षणा यदि स्यात् तदा 'आपः' 'दाराः' 'सिकताः' 'वर्षाः' इत्यादावसत्यपि वस्तुनो भेदे" बहुत्वसङ्ख्या कथं प्रवर्तेत? तथा, 'वनम्' 'त्रिभुवनम्' 'जगत्' 'षण्णगरी' इत्यादिष्वसत्यप्यभेदेऽर्थस्यैकत्वसङ्ख्या न व्यपदिश्येत; अतो नासिद्धता हेतोः। नाप्यनैकान्तिकः सर्वस्य सर्वधर्मत्वप्रसङ्गात्, सपक्षे भावाच्च न विरुद्धः।

---

१-मुच्यते भा० मा० विना। २-कमेवं प-भा० मा०।-कमेक प-वा० बा०।

३ "गोत्वादय इवैतेऽपि यदि स्त्रीत्वादयो मताः। सामान्यस्य निरासेन तेऽप्यास्ता एव तादृशा" ॥
तत्त्वसं० का० ११२१ पृ० ३४७। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ प्र० पं० २।

४-भाव स्त्री-भा०।-भावा स्त्रीत्वानाना-भा०। 'भावात्' वि० स०। "सामान्यविशेषाणा निरस्तत्वात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४८ पं० २।

५ "जातिर्भावश्च सामान्यमिति वा तेषु सम्मतम्। न सामान्यानि युज्यन्ते सामान्येष्वपराणि हि" ॥
तत्त्वसं० का० ११२२ पृ० ३४८।

६ वाक्यप० तृ० का० पृ० १७ पं० ८। ७ "सर्वे जात्यभिधायिन"-वाक्यप० तथा तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४८ प० ११। ८ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ प्र० पं० ६। ९ "सामान्याधारा जातिः सती 'जातय.' इत्यस्या श्रुतेर्निबन्धनमिति। 'व्यापारलक्षणा' इति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४८ पं० १५। १०-स्मति जा-भा०। ११-यते यथा वि०। १२ तथा-भा० मा०। १३ प्र० पृ० पं० ५।

१४ "अभावो निरुपाख्यत्वं तुच्छत्वेत्यादि वा कथम्। सा मायिक्येव तेनैषा लिङ्गत्रितयसंस्थितिः" ॥
तत्त्वसं० का० ११२३ पृ० ३४८।

१५ वाक्यप० तृ० का० श्लो० ६७ पृ० ५४। १६ तथापि सा वा० बा० विना।

१७ "सङ्ख्याऽपि सा मायिक्येव कल्प्यते हि विवक्षया। भेदाभेदविवेकेऽपि दारादि-विपिनादिवत्" ॥
तत्त्वसं० का० ११२४ पृ० ३४८।

१८ सापि सा मायिक्येव न वा-भा० मां०। सा सापि सामायिक्येन च न वा-वा० बा०। १९-रादिषु स-भा० हा० वि०। २०-चे च भे-वि०। २१ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ प्र० प० १०। २२ वस्तुतो भे-वा० बा० विना। २३-देऽपि व-भा० हा० वि०। २४-कत्वं स-भा० बा०।

अत्र च कुमारिलो हेतोरसिद्धतां प्रतिपादयन्नाह-दारादिशब्दः कदाचित् जातौ प्रयुज्यते कदाचित् व्यक्तौ; तत्र यदा जातौ तदा व्यक्तिगतां सङ्ख्यामुपादाय वर्तते व्यक्तयश्च बह्वयो योषितः, यदा तु व्यक्तौ प्रयुज्यते तदा तद्व्यक्त्यवयवानां पाणि-पादादीनां बहुत्वसङ्ख्यामादाय वर्तते। वनशब्देन तु धव-खदिर-पलाशादिलक्षणा व्यक्तयस्तत्सम्बन्धिभूतवृक्षत्वजातिगतसङ्ख्याविशिष्टाः प्रतिपाद्यन्ते तेन 'वनम्' इत्येकवचनं भवति जातिगतैकसंख्याविशिष्टद्रव्याभिधानात् अथवा धवादिव्यक्तिसमाश्रिता जातिरेव 'वन'शब्देनोच्यते; तेनैकवचनं भवति जातेरेकत्वादिति।

नन्वेवं 'वृक्षः' 'घटः' इत्यादावप्येकवचनमुच्छिन्नं स्यात् सर्वत्रैवास्य न्यायस्य तुल्यत्वात्। तथाहि-अत्रापि शक्यमेवं वक्तुम्-'जातौ व्यक्तौ वा वृक्षादिश्चेत् प्रयुज्यते' इत्यादि। अथ मतम्-वृक्षादौ व्यक्तेरवयवानां च सङ्ख्याविवक्षा नास्ति, यद्येवं न तर्हि वस्तुगतान्वयाद्यनुविधायिनी सङ्ख्या, विवक्षाया एवान्वय-व्यतिरेकानुविधानात्; ततश्च सैव 'दाराः' इत्यादिषु बहुवचनस्य निबन्धनमस्तु भेदाभावेऽप्येकमपि वस्तु बहुत्वेन विवक्ष्यते इति नासिद्धता हेतोः।

यच्चोक्तम्-'वनशब्दो जातिसङ्ख्याविशेषिता व्यक्तीराह' इति,

तत्र, न जातेः सङ्ख्याऽस्ति द्रव्यसमाश्रितत्वादस्याः। अथ वैशेषिकप्रक्रिया नाश्रीयते तदा भावे सङ्ख्यायास्तया कथं धवादिव्यक्तयो विशेषिताः सिद्ध्यन्ति? स्यादेतत् सम्बद्धसम्बन्धात् तत्सम्बन्धतो वा सिद्ध्यन्ति। तथाहि-यदा जातेर्व्यतिरेकिणी सङ्ख्या तदैकत्वसङ्ख्यासम्बद्धया जात्या धवादिव्यक्तीनां सम्बन्धात् पारम्पर्येण तया धवादिव्यक्तयो विशेष्यन्ते; यदा तु जातेरव्यतिरिक्तैव सङ्ख्या तदा साक्षादेव सम्बन्धात् तया विशेष्यन्त इति जातिसङ्ख्याविशेषिताः सिद्ध्यन्ति, असदेतत्; यतो यदि सम्बद्धसम्बन्धात् सम्बन्धतो वा धवादिव्यक्तिषु वनशब्दस्य प्रवृत्तिस्तदैकोऽपि पादपो 'वनम्' इत्युच्येत प्रवृत्तिनिमित्तस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि-बहवोऽपि धवादयो जातिसङ्ख्यासम्बन्धादेव 'वनम्' इत्युच्यते नान्यतः; स च सम्बन्धः एकस्मिन्नपि पादपेऽस्तीति किमिति न तथोच्येत अथवा 'धवादिव्यक्तिसमाश्रिता' इत्यत्र पक्षे एकस्यापि तरोः 'वनम्' इत्यभिधानं स्यात्। तथाहि-यैवासौ वनशब्देन जातिर्बहुव्यक्त्याश्रिताऽभिधीयते सैवैकस्यामपि धवादिव्यक्तौ व्यवस्थिता; ततश्च वनधियो निमित्तस्य सर्वत्र तुल्यत्वाद् एकत्रापि पादपे किमिति वनधीर्न भवेत्?

---

१ "तत्र व्यक्तौ च जातौ च दारादिश्चेत् प्रयुज्यते" ॥
"व्यक्तेरवयवानां च संख्यामादाय वर्तते। वनशब्द. पुनर्व्यक्तीर्जातिसंख्याविशेषिता ॥
ब्रूहीराहाऽथवा जातिं बहुव्यक्तिसमाश्रयाम्"।
श्लो० वा० वन० श्लो० ९१-९२-९३ पृ० ६३७। तत्त्वसं० का० ११३५-११३६ पृ० ३४९।

२-तां न स-आ० हा० वि०। ३-क्षणव्य-वा० वा०। ४ जात्योरे-वा० वा०।

५ "ननु चैतेन विधिना सर्वमेकं वचो हतम्। नान्यत्राऽस्ति विवक्षा चेत् सैवास्त्वस्य निबन्धनम्" ॥
तत्त्वसं० का० ११३७ पृ० ३४९।

६-यिनीं स-भा० मा०। ७ प्र० पृ० पं० ४ तथा २५।

८ "जातेरपि न संख्याऽस्ति भावे वा तद्विशेषिताः। कथं सबद्धसंबन्धाद् यदि सबन्धतोऽपि वा" ॥
तत्त्वस० का० ११३८ पृ० ३५०।

९-ह्यादि द्रव्यमाश्रित-भा० मां० विना। १० भावस-वा० वा०। ११-न्ति तस्यादे-मा० मां० वा० वा० विना। १२-तत्संबन्धसंबन्धात् तत्सं-आं० बां०।-तत्संबन्धात् तत्सं-हा० वि०।

१३ "यद्येवमभिधीयेत वनमेकोऽपि पादपः। बहवोऽपि हि कथ्यन्ते सबन्धादेव सोऽस्ति च" ॥
तत्त्वसं० का० ११३९ पृ० ३५०।

१४ संबन्धसं-आ० हा०। १५-त्युच्यते भा० मा० विना। १६-हवो ध-मा० मा० वा० वा० विना। १७-थोच्यते आ०। १८ अथ ध-वा० वा० विना।

"बहुव्यक्त्याश्रिता या च सैवैकस्यामपि स्थिता। तन्निमित्तस्य तुल्यत्वात् तत्रापि वनधीर्भवेत्" ॥
"अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेकादिवचसस्ततः। नियमोऽयं विवक्षातो नार्थात् तद्व्यभिचारतः" ॥
तत्त्वस० का० ११४०-११४१ पृ० ३५०।

१९ प्र० पृ० पं० ५। २० पदे भा०।

क्रिया-कालादीनां त्वसत्त्वादेवायुक्तं वस्तुधर्मत्वम्, भवतु वा वस्तुधर्मत्वमेषां तथापि प्रतिबिम्बलक्षणस्यापोहस्य भ्रान्तैवा(न्तैर्वा)ह्यव्यक्तिरूपत्वेनावसितत्वादध्यवसायवशाद् व्यक्तिद्वारको लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धो भविष्यति, तेन यदुक्तम्—

'व्यक्तेश्चाव्यपदेश्यत्वात् तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ' इति,

तदनैकान्तिकम्, संवृतिपक्षे चासिद्धम्—

"व्यक्तिरूपावसायेन यदि वाऽपोह उच्यते।
तल् लिङ्गाद्यभिसम्बन्धो व्यक्तिद्वारोऽस्य विद्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११४२ ] इति।

'अपोह उच्यते' इति 'शब्देन' इति शेषः, 'तद्' इति तस्मात्, 'अस्य' इत्यपोहस्य।

'आख्यातेषु न च' इति,

अत्र आख्यातेष्वन्यनिवृत्तिर्न सम्प्रतीयते इत्यसिद्धम्। तथाहि-जिज्ञासिते कस्मिंश्चिदर्थे श्रोतुर्बुद्धि(द्धे)र्निवेशाय शब्दः प्रयुज्यते व्यवहर्तृभिः न व्यसनितया; तेनाभीष्टार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यादनभीष्टव्यवच्छेदः प्रतीयत एव, अभीष्टानभीष्टयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात्। सर्वमेवाभीष्टं यदि स्यात् तदा प्रतिनियतशब्दार्थो न प्राप्नोति इति या च कस्यचिदर्थस्य परिहारेण श्रोतुः क्वचिदर्थे शब्दात् प्रवृत्तिः सा न प्राप्नोति; तस्मात् 'सर्वमेवाभीष्टम्' इत्येतदयुक्तम्, अतः 'पचति' इत्यादिशब्दानामनभीष्टव्यवच्छेदः सामर्थ्यात् स्फुटमवगम्यत एव—

"तथाहि-पचतीत्युक्ते नोदासीनोऽवतिष्ठते।
भुङ्क्ते दीव्यति वा नेति गम्यतेऽन्यनिवर्तनम्" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११४६ ]

तेन 'पर्युदासरूपं हि' "निषेध्यं तत्र न विद्यते' इति यदुक्तम् तदसिद्धम्।

यच्च—'पचतीत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणैव तिष्ठति'। इति।

तत्र स्ववचनव्याघातः। तथाहि-'पचति' इत्येतस्यार्थं 'स्वरूपेणैव' इत्यनेनावधारणेनावधारित

---

१ पृ० ११७ पं० २८ तथा ४४।

"क्रिया-कालादियोगोऽपि पूर्वमेव निराकृतः। तस्मात् सांकेतिका एते न व्यक्तिष्वपि भाविनः" ॥

तत्त्वसं० का० ११४१ पृ० ३५१।

२-थापि चेति वि-भा० मां०।-थापि विति वि-भा० हा० वि०। ३ भ्रान्तिर्वा-वा० वा० वि० "भ्रान्तैर्वाह्यव्यक्तिरूपत्वेन"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५१ पं० ८। ४ पृ० ११७ पं० ४४-पृ० ११८ पं० ५ 'अपोह उच्यते' अत्र वाक्ये। ६-ति विशेषः भा० मां० वा० वा०। ७ पृ० ११८ पं० ४ तथा २ ८ इति सि-वा० बा० विना। ९ जिज्ञासते भा०।

१० "अभिप्रेते निवेशार्थं बुद्धेः शब्दः प्रयुज्यते। अनभीष्टव्युदासोऽतः सामर्थ्येनैव सिद्ध्यति" ॥

तत्त्वसं० का० ११४४ पृ० ३५१।

"श्रोतुर्बुद्धेर्निवेशाय"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५१ पं० २०। ११ यदि य स्या-भा०। यदीयं स्या-हा० वि० 'यदीदं स्या'-वि० स०।

"सर्वमेव न चाभीष्टं सर्वार्थानियमासितः। तत् पचत्यादिशब्दाना विनिवर्त्यं परिस्फुटम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११४५ पृ० ३५१।

१२ "प्रतिनियतः शब्दार्थं"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५१ पं० २६। १३-त्तदुक्तम् वि०। १४-केऽतद्रा-भा० वि०। १५ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ द्वि० पं० ४।

१६ अतः परम्—

"औदासीन्यमतश्चैनमस्त्यन्यच्च क्रियान्तरम्। पर्युदासात्मकोऽपोहो नियतं यद्विध्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ११४७ पृ० ३५२।

१७ निषेध्यं ति तत्र न हा० वि०। निषेध्य ति तत्र न भा०। १८ पृ० ११८ पं० ६ तथा २२ १९ पृ० ११८ पं० ७ तथा २७।

२० "पचतीत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणैव तिष्ठति। इत्येतच्च भवद्वाक्यं परस्परपराहतम्" ॥
"अन्यरूपनिषेधोऽयं स्वरूपेणैव तिष्ठति। इत्यन्यथा निरर्थं स्यात् प्रयुक्तमवधारणम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११४८-११४९ पृ० ३५२।

रूपं दर्शयता 'पचति' इत्येतं[1]स्यान्यरूपनिषेधेनात्मस्थितिरिति दर्शितं भवति; अन्यथा 'स्वरूपेणैव' इत्येतदवधारणं भवत्प्रयुक्तमनर्थकं स्यात् व्यवच्छेद्याभावात्।

'साध्यत्वप्रत्ययश्च' [2]इति,

अत्रापि [3]यद्यपोहो भवता निरु(रू)पाख्यस्वभावतया गृहीतस्तत्कथमिदमुच्यते 'निष्पन्नत्वात्' इति, न ह्याकाशोत्पलादीनां काचिदस्ति निष्पत्तिः सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् तेषाम् । स्यादेतत् [4][5]यद्यप्यसौ [6]निरुपाख्यः परमार्थतस्तथापि [7]भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिर्बाह्यरूपतयाऽध्यवसितत्वादसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति; ननु यद्यसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति तथापि किमत्र प्रकृतार्थानुकूलं जातम् ? वस्तुभिस्तुल्यधर्मत्वम्, एतेन यथा वस्तु निष्पन्नरूपं प्रतीयते तथापोहोऽपि वस्तुभिस्तुल्यधर्मतया ख्याते[9](तो) निष्पन्न इव प्रतीयत इति सिद्धं 'निष्पन्नत्वात्' इति वचनम्[10]। [11]यद्येवं [12]भवत्यै(ती)व साध्य(ध्यत्व)-प्रत्ययस्य भूतादिप्रत्ययस्य च निमि[13]त्तमुपदर्शितमिति न वक्तव्यमेतत् 'निर्निमि[14]त्तं प्रसज्यते' इति ।

यदपि 'विध्यादाव[15]र्थराशौ च नान्यापोहनिरूपणम्' इति [16]परेणोक्तम्,

तत्र वि[17]ध्यादेरर्थस्य निषे[18]ध्यादपि व्यावृत्ततयाऽवस्थितत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्या[19]दविवक्षितं नास्तितादि [20]निषिध्यत इत्यस्त्येवात्र 'अन्यापोहनिरूपणम्' ।

'नञश्चापि नञा युक्तौ' [21]इति,

अत्रा[22]पि—

"नासौ न पचतीत्युक्ते गम्यते पचतीति हि ।
औदासीन्यादियोगश्च तृतीये नञि गम्यते" ॥
"तुर्यं तु तद्विविक्तोऽसौ पचतीत्यवसीयते ।
तेनात्र विधिवाक्येन सममन्यनिव[23]र्तनम्" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११५७-११५८ ]

तुर्यं[24]' इति चतुर्थं "चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च" [ पाणि० अ० ५ पा० २ सू० ५१ वार्ति०

---

१-त सामान्यरू-वा० बा० । २ पृ० १९८ पं० ९ तथा २९ ।

३ "निष्पन्नत्वमपोहस्य निरुपाख्यस्य कीदृशम् । गगनेन्दीवरादीनां निष्पत्तिर्नहि काचन" ॥

तत्त्वस० का० ११५० पृ० ३५२ ।

४ पृ० १९८ पं० ११ तथा २९ ।

५ "वस्त्वित्यध्यवसायाच्चेत् सोपाख्यत्वेन भात्यसौ । ततः किं तुल्यधर्मत्वं वस्तुभिश्चास्य गम्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ११५१ पृ० ३५२ ।

६ निरूपा-भा० मां० विना । ७ भ्रान्तिः मां० मां० विना । ८ "सोपाख्यत्वेन भातीति । यदि नामासौ पाख्यत्वेन भाति तथापि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५३ पं० ३-४ । ९ ख्यातेर्निष्पन्न इति वा० बा० विना । ख्यातो निष्पन्न इव"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३५३ पं० ६ । १०-नं निष्पन्नत्वादौ यद्येवं बा० बा० विना । "इति द्धं निष्पन्नत्वादिति वचनम् । यद्येवम्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५३ पं० ६ ।

११ "साध्यत्वप्रत्ययस्तस्मात् तथाभूतादिरूपणम् । वस्तुभिस्तुल्यरूपत्वात् तन्निमित्तं प्रसज्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ११५२ पृ० ३५३ ।

१२ भवत्येव बा० बा० विना । भवतैव वि० स० । "भवतैव साध्यत्वप्रत्ययस्य,"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५३ पं० ८ । १३-सित्वमु-हा० वि० ।-सित्तत्वमु'-वि० स० । १४ पृ० १९८ पं० १२ तथा २९ । १५-वर्थाा-भा० मा० । १६ पृ० १९८ प० १३ तथा ३२ ।

१७ "विध्यादावर्थराशौ च नास्तितादि निषिध्यते । सामर्थ्यान्न तु शब्देन यदेव न विवक्षितम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११५३ पृ० ३५३ ।

१८ "निषेधादिव्यावृत्ततया"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५३ प० १८ । १९-र्थ्यादिवि-भां० मा० । २० निषेध्य-वा० वा० । २१ पृ० १९८ प० १४ तथा पृ० ३२ ।

२२ "नञश्चापि नञा युक्तावपोहस्तादृशो भवेत् । तच्चतुष्टयसद्भावे यादृग् संप्रतीयते" ॥

"नञा योगे नञो ह्यर्थो गम्यते कस्यचिद् विधिः । तृतीयेन नञा तस्य विरहः प्रतिपाद्यते" ॥

"निषेधायापरस्तस्य तुरीयो यः प्रयुज्यते । तस्मिन् विवक्षिते तेन ज्ञाप्यतेऽन्यनिवर्तनम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११५४-११५५-११५६ पृ० ३५३ ।

२३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०७ द्वि० प० १२-१३ । २४ "षष्ठौ चछरु च" हैम० अ० ७ पा० १ सू० १६४ । स० त० २९

सिद्धान्त० पृ० २११ ] इत्यनेन पूरणार्थे 'यत्'प्रत्ययविधानात्। 'तद्विविक्तोऽसौ' इति औदासीन्या-'द्विविक्त(क्तः), 'विधिवाक्येन समम्न्यनिवर्तनम्' इति यथा 'पचति' इत्यादौ विधिवाक्ये सामर्थ्यादौदासीन्यादिनिवृत्तिर्गम्यते तथा द्वितीयेऽपि नञि इति सिद्धमत्राप्यन्यनिवर्तनम्। स्पष्टार्थं तु नञ्चतुष्टयोदाहरणम्।

'चादीनां नञ्योगो नास्ति' इति, अत्र—

"समुच्चयादिर्यश्चार्थः कश्चिच्चादेरभीप्सितः।
तदन्यस्य विकल्पादेर्भवेत् तेन व्यपोहनम्" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११५९ ]

आदिशब्देना(न) 'वा'शब्दस्य विकल्पोऽर्थः, 'अपि'शब्दस्य पदार्थासम्भवानाऽ(र्थसम्भावनाऽ)न्ववसर्गादयः, 'तु'शब्दस्य विशेषणम्, 'एवं'कारस्यावधारणमित्यादेर्ग्रहणम्। 'तदन्यस्य' इति तस्मात् समुच्चयादन्यस्य, 'तेन' इति चादिना।

'वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते' इति,

अत्रापि कार्यकारणभावेन सम्बद्धा एव पदार्था वाक्यार्थः यतो न पदार्थव्यतिरिक्तो निरवयवः शबलात्मा वा कल्माषवर्णप्रख्यो वाक्यार्थोऽस्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तादृशस्यानुपलब्धेः पदार्थस्य चापोहरूपत्वं सिद्धमेव। तथाहि-'चैत्र! गामानय' इत्यादिवाक्ये चैत्रादिपदार्थव्यतिरेकेण बुद्धौ नान्योऽर्थः परिवर्तते चैत्राद्यर्थगतो च सामर्थ्यादचैत्रादिव्यवच्छेदो गम्यतेः अन्यथा यद्यन्यकर्त्रादिव्यवच्छेदो नाभीष्टः स्यात् तदा चैत्रादीनामुपादानमनर्थकमेव स्यात्ः ततश्च न किञ्चित् कश्चिद् व्यवहरेदिति निरीहमेव जगत् स्यात्।

'अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते' इति,

---

१-द्विविक्तः बा० बा०। द्विव्यक्त-मा० मां०। २ पृ० २२५ पं० ४०। ३ चादी-आ० विना। ४ पृ० ११८ पं० १७ तथा ३९। ५ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० २। ६ आदिशब्दे वा बा० बा० विना। "आदिशब्देन 'वा' शब्दस्य"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५४ पं० ११। ७ कल्पार्थः मा० मां०। ८ पदार्थासंभवानान्ववसर्गा-आ०। पदार्थासंभवीनाव्वसर्गा-हा०। पदार्थासंभवनाव्वसर्गा-वि०। ९-नात्वयसर्गा-बा० बा०।

"अपि. पदार्थ-संभावनाऽन्ववसर्ग-गर्हा-समुच्चयेषु"-पाणि अ० १ पा० ४ सू० ९५ महाभा० पृ० २९६। काशि० अ० १ पा० ४ सू० ९६ पृ० ८१। "'अपि' शब्दस्य पदार्थ-संभावनान्ववसर्गादयः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५४ प ११।

"गर्हा-समुच्चय-प्रश्न-शङ्का-संभावनास्वपि"-अमर० का० ३, श्लो० २४८।

"अपि पदार्थाऽनुवृत्त्यपेक्षा-समुच्चयाऽन्ववसर्ग-गर्हाऽऽशी-संभावन-भूषण-संवरण-प्रश्नाऽवमर्षेषु"
-है० तत्त्वप्र० महा० न्या० पृ० ६५ पं० ४-१०।

"अपि संभावनाशङ्कागर्हणासु समुच्चये ॥
प्रश्ने युक्तपदार्थेषु कामचारक्रियासु च"। है० अनेका० का० ७ श्लो० ३३-३४।

"गर्हा-समुच्चय-प्रश्न-शङ्का-संभावनास्वपि" ॥ नामत० श्लो० ७८२।

"अपि संभावना-प्रश्न-शङ्का-गर्हा-समुच्चये। तथा युक्तपदार्थेषु कामचारक्रियासु च" ॥
शब्दार्थचिन्ता० अपिशब्दे।

१० "समुच्चयादेरन्यस्य"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५४ पं० २१। ११ पृ० ११८ पं० १७ तथा ३९।

१२ "वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च सुज्ञातैव तथा ह्यसौ। पदार्था एव सहिताः केचिद् वाक्यार्थ उच्यते" ॥
"तेषां च ये विजातीयास्तेऽपोह्याः सुपरिस्फुटाः। वाक्यार्थस्तोऽपि ते नैव तेभ्योऽन्यो नैव सोऽस्ति हि" ॥
तत्त्वसं० का० ११६०-११६१ पृ० ३५४।

१३ वाच्यार्थो-मां० मां०। "वाक्यार्थो"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५५ पं० ३। "तद्व्यतिरिक्तनिरवयवस्य शबलात्मन कल्माषवर्णप्रख्यस्य वाक्यार्थस्याऽनुपलब्धेः"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ५।

१४ "चैत्र! गामानयेत्यादिवाक्यार्थेऽधिगते सति। कर्तृ-कर्मान्तरादीनामपोहो गम्यतेऽर्थत" ॥
तत्त्वसं० का० ११६२ पृ० ३५५। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ४।

१५ पृ० ११८ पं० ३०। १६ पृ० ११९ पं० १ तथा २३।

अत्र, नह्यत्र भवदभिमतो जात्यादिलक्षणो विधिरूपः शब्दार्थः परमार्थतोऽवसीयते जात्यादेर्निषिद्धत्वात्[1]।

"किन्तु विध्यवसाय्यस्माद् विकल्पो जायते ध्वनेः ।
पश्चादपोहशब्दार्थनिषेधे जायते मतिः" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११६४ ]

यद्यनपोहशब्दादपोहशब्दार्थनिषेधे मतिर्जायते इतीष्यते न तर्ह्यपोहशब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः तस्य निषिद्धत्वात्, असदेतत्;

"स त्वसंवादकस्तादृग्वस्तुसम्बन्धहानितः ।
न शाब्दाः प्रत्ययाः सर्वे भूतार्थाध्यवसायिनः" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११६५ ]

'सः' इति अनन्यापोहशब्दादिः, 'असंवादकः' इति न संवदतीत्यसंवादकः, न विद्यते वा(वा) संवादो (संवादोऽस्येत्यसंवा)दकः । कस्मात्? 'वस्तुसम्बन्धहानितः' तथाभूतवस्तुसम्बन्धाभावात् पूर्वं हि जात्यादिलक्षणस्य शब्दार्थवस्तुनो निषिद्धत्वात् । यद्येवं तर्हि कथमनन्यापोहशब्दादिभ्योऽपोहशब्दार्थनिषेधे मतिरुपजायत इति, उच्यते; 'वितथविकल्पाभ्यासवासनाप्रभवतया हि केचन शाब्दाः प्रत्यया असद्भूतार्थनिवेशिनो जायन्त एव इति न तद्वशाद् वस्तूनां सदसत्ता सिद्ध्यति ।

यच्च 'प्रमेय-ज्ञेयशब्दादेः' इति,

अत्र कस्य प्रमेयादिशब्दस्यापोह्यं नास्तीत्यभिधीयते? यदि तावद्वाक्यस्थप्रमेयादिशब्दमाश्रित्योच्यते तदा सिद्धसाध्यता, केवलस्य प्रयोगाभावादेव निरर्थकत्वात् यतः श्रोतृजनानुग्रहाय प्रेक्षावद्भिः शब्दः प्रयुज्यते न व्यसनितया, न च केवलेन प्रयुक्तेन श्रोतुः कश्चित् सन्देह-विपर्यासनिवृत्तिलक्षणोऽनुग्रहः कृतो भवेत् । तथाहि-यदि श्रोतुः क्वचिदर्थे समुत्पन्नौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्य निस्सन्दिग्धप्रत्ययमुत्पादयेत् प्रतिपादकः; एवं तेनास्यानुग्रहः कृतो भवेत् नान्यथा । न च केवलेन शब्देन प्रयुक्तेन तथाऽनुग्रहः शक्यते कर्तुम्, तस्मात् संशयादिनिवर्त्तने निश्चयोत्पादने च श्रोतुरनुग्रहात् शब्दप्रयोगसाफल्यमिति वाक्यस्थस्यैवास्य प्रयोगः । अथ वाक्यस्थमेव ज्ञेयादिशब्दमधिकृत्योच्यते, तद् असिद्धम्; तत्र हि वाक्यस्थेन प्रमेयादिशब्देन यदेव मूढमतिभिः संशयस्थानमिष्यते

१ "अनन्यापोहशब्दादौ न विधिर्व्यवसीयते । परैरभिमतः पूर्वं जात्यादेः प्रतिषेधनात्" ॥
तत्त्वसं० का० ११६३ पृ० ३५५ ।

२-रूपश-भां० विना । ३ पृ० १७४ पं० २४ । ४-ध्यवशाय्यसाद्वि-भां० मा० । ५ यद्यनपोहशब्दार्थनिषेधे आ० हा० वि० । यद्यन्यपोहशब्दार्थनिषेधे वा० बा० । "यद्यपोहशब्दार्थनिषेधे मतिर्जायते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५५ पं० २० । ६ सर्वेऽसं-आ० । ७-दक इति न संवादकः कस्मात् आ० हा० । ८ दकः कस्मात् वा० बा० विना । "न संवदतीत्यसंवादकः, न विद्यते वा संवादोऽस्येत्यसंवादकः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५५ पं० २४ । ९ विवक्षाविक-वा० बा० । "वितथविकल्पवासनावशात् तत्र तथाविधार्थविकल्पक्रमेणो(णा)न्यापोहनिषेधमतिप्रवृत्तः"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ६ । १० यच्च ज्ञेय-प्रमेयश-भां० मां० वा० बा० विना । "यदपि ज्ञेय-प्रमेयादिशब्दाना न किञ्चिदपोह्यमस्ति"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ७ । ११ पृ० १९९ पं० ४ तथा २२ ।

१२ "प्रमेय-ज्ञेयशब्दादौ कस्याऽपोह्यं न विद्यते । न ह्यसौ केवलोऽकाण्डे प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ११६६ पृ० ३५६ ।

१३-वद् वाक्यस्थप्र-आ० हा० वि० । १४-वाक्यार्थप्र-वा० बा० । १५-वलप्रयोगा-भां० मां० ।

१६ "किन्त्वारेक-विपर्याससंभवे सति कस्यचित् । क्वचित् तद्विनिवृत्त्यर्थं धीमद्भिः स प्रयुज्यते" ॥
"निस्सन्देहविपर्यासप्रत्ययोत्पादनादतः । तेनैव तैः प्रयुक्तेन साफल्यमनुभूयते" ॥
तत्त्वसं० का० ११६७-११६८ पृ० ३५६ ।

१७-पर्ययौ भां० मां० । १८ निस्संदिग्धं प्र-भां० मां० । १९-वर्तनेन नि-भां० मां० । २०-स्थस्यैव प्र-भां० मां० वा० बा० विना । २१-गः आद्यवा-भां० मां० । २२-क्यस्तुमेव आ० हा० वि० ।

२३ "यत् तत्र जडचेतोभिराशङ्कास्पदमिष्यते । तदेव क्षिप्यते तेन विफलोच्चारणाऽन्यथा" ॥
"किञ्चिद्ध्याशङ्कमानोऽसौ किमर्थं परिपृच्छति । अतत्संस्कारकं शब्दं शृण्वन् वा स्वस्थधीः कथम्" ॥
"चक्षुर्ज्ञानादिविज्ञेयं रूपादीति यदुच्यते । तेनाऽऽरोपितमेतद्धि केनचित् प्रतिषिध्यते" ॥
"न चक्षुराश्रितेनैव रूपं नीलादि वेद्यते । किन्तु श्रोत्राश्रितेनापि नित्येनैकेन चेतसा" ॥
तत्त्वसं० का० ११६९-११७०-११७१-११७२ पृ० ३५६-३५७ ।

२४-मतिभिः संशयास्था-वा० बा० ।-मतिभिराशङ्कास्था-भां० ।-मतिभिराशङ्क्यस्था-मां० ।

तदेव निर्वर्त्येत इत्यतोऽसिद्धमेतत् 'प्रमेयादिशब्दानां निवर्त्यं नास्ति' इति; अन्यथा यदि श्रोता न क्वचिदर्थे संशेते तत् किमिति परस्मादुपदेशमपेक्षते? निश्चयार्थी हि परं पृच्छति अन्यथोन्मत्तः स्यात्। यदि नाम श्रोतुराशङ्कास्थानमस्ति तथापि शब्देन तन्न निवर्त्यत इत्येतच्च न वक्तव्यम्, श्रोतृ[2]-संस्कारायैव शब्दानां प्रयोगात् तदसंस्कारकं वदतो वक्तुः—अन्यथा—उन्मत्तताप्रसक्तिः। तथाहि–'किं[3] क्षणिकाऽनात्मादिरूपेण ज्ञेया भावाः, आहोश्विन्न' 'किं सर्वज्ञचेतसा ग्राह्याः उत न' इत्यादि-संशयोद्भूतौ 'क्षणिकत्वादिरूपेण ज्ञेयाः सर्वधर्माः' तथा 'सर्वज्ञज्ञानविज्ञेयाः' इतिसंशयव्युदासार्थं शब्दाः[4] प्रयुज्यन्त इति। यदि[5](द)क्षणिकत्वाऽज्ञेयत्वादि समारोपितं तद् निर्वर्त्यते[6], क्षैणिकत्वादिरूपेण[7] तेषां प्रमाणसिद्धत्वात्। अथ 'किमनित्यत्वेन शब्दाः प्रमेयाः' इति 'आहोश्विन्न'[8] इति प्रस्तावे 'प्रमेयाः' इति प्रयोगे[9] प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तुः 'प्रमेयाः' इति केवलं[10] शब्दश्रवणात् प्लवमानरूपा शब्दादिबुद्धिरुपजायत एव। तद् यदि केवलस्य शब्दस्यार्थो नास्त्येव तत् कथमर्थप्रतिपत्तिर्भवति? नैवं[11] केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्तिः [12]किमिति वाक्येषूपलब्धस्यार्थवतः शब्दस्य सादृश्येनापहृतबुद्धेः केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यभिमानः। तथाहि–येष्वेव वाक्येषु 'प्रमेय'शब्दमुपलब्धवान् श्रोता तदर्थेष्वेव सा बुद्धिरप्रतिष्ठितार्था प्लवमानरूपा समुपजायते, तच्च घटादिशब्दानामपि तुल्यम्। तथाहि–'किं[13] घटेनोदकमानैषीरासि उताञ्जलिना' इति प्रयोगे प्रस्तावानभिज्ञस्य यावत्सु वाक्येषु तेन 'घटेन' इति प्रयोगो दृष्टस्तावत्स्वर्थेषु[14] आकाङ्क्षावती [15]पूर्ववाक्यानुसारादेव प्रतिपत्तिर्भवतीति घटादि-शब्दा (शब्दा इव) विशिष्टार्थवचनाः[16] प्रमेयादिशब्दाः।

[17]यदुक्तम्—'अपोहकल्पनायां च' इत्यादि,

तत्र, [18]वस्त्वेव ह्यध्यवसायवशाच्छब्दार्थत्वेन कल्पितं यद् विवक्षितं[19] नावस्तु; तेन तत्प्रतीतौ सामर्थ्यादविवक्षितस्य व्यावृत्तिरधिगम्यत एवेति नाव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था। यदेव च मूढमते-राशङ्कास्थानं तदेवाधिकृत्योक्तमाचार्येण—

"ज्ञे(अज्ञे)यं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन [20]ज्ञेयेऽनुमानम्" [ हेतु० ] इति।

---

१–वर्तत इ–भा० मा०। २ श्रोतुः सं–भा० मा०।

३ "क्षणिकत्वादिरूपेण किं (किं) ज्ञेया इति विभ्रमे। सर्वज्ञज्ञानविज्ञेया धर्मा(?)एते भवन्ति किम्"? ॥
अभावा अपि किं ज्ञेया न ज्ञानं जनयन्ति ये। इत्यादिविभ्रमोद्भूतौ विशेषपदमुच्यते" ॥

तत्त्वसं० का० ११७३–११७४ पृ० ३५७।

४–ब्दाः युज्य–भा० मा०। ५ यदक्षणिकत्वा–वि० स०। "अत्र यदक्षणिकत्वादिना ज्ञेयत्वादिरूपमारोपितम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५८ पं० ३। "'क्षणिकत्वेन ज्ञेया भावा' इत्यादिवाक्यस्थेन तेन क्षणिकत्वादिनाऽज्ञेयत्वादेः समारोपितस्य व्यावर्तनात्"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० ९। ६–वर्तते वा० बा०।

७ "तादृग् ज्ञेयत्वमस्ते(स्त्ये)षां क्षणिकत्वादिसाधनात्। ज्ञेयोऽभावोऽपि सद्वृत्त्या(त्या)स्थापनादमुनाऽऽत्मना" ॥

तत्त्वसं० का० ११७५ पृ० ३५८।

८–इति आहोस्विन्न भा० मा०।–इति अहोश्विन्न हा० वि०।–इति अहोस्विन्न वा० बा०। ९–प्रयोग प्र वा० बा० भा० मा० विना। "इति प्रस्तावे 'प्रमेया' इति प्रयोगे प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तुः केवलशब्दश्रवणात् प्लवमानरूपा शाब्दी धी"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० १०। १०–वलशब्द–आ०।

११ "प्रमेय–ज्ञेयशब्दादेः प्रतिपत्तिनिमित्तताम्। इत्थ वाक्यस्थितस्यैव दृष्ट्वा कालान्तरेष्वपि" ॥
"केवलस्योपलम्भे या प्रतीतिरुपजायते। भ्रमानाऽर्थभेदेषु सा तद्वाक्यानुसारत" ॥
"घटादिभ्योऽपि शब्देभ्यः साऽस्त्येव च तथाविधा। तस्माद् घटादिशब्देन ज्ञेयादिध्वनयः समाः" ॥

तत्त्वसं० का० ११७६–११७७–११७८ पृ० ३५८।

१२ "किन्तु"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५८ पं० २२। १३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४०८ प्र० पं० १२। १४–नय स्युता–हा० वि०। १५ "पूर्ववाक्यानुसारादेव प्रतिपत्तिर्भवति (इति)। तस्माद् यथाऽर्थवा(घटा)दिशब्दाविशिष्टार्थवचनाः तथा प्रमेयादिशब्दा अपि"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५८ पं० २७। १६–ष्टार्थाव–वा० बा०। १७ पृ० ११९ पं० ९ तथा ३०।

१८ "अपोह्यकल्पनायां च वर वस्त्वेव कल्पितम्। इत्येतद् व्याहतं प्रोक्तं नियमेनान्यवर्जनात्" ॥
"वस्त्वेव कल्प्यते तत्र यदेव हि विवक्षितम्। क्षेपो विवक्षितस्यातो न तु सर्वं विवक्षितम्" ॥

तत्त्वसं० का० ११७९–११८० पृ० ३५९।

१९–वक्षिता वस्तु वा० बा० भा० मा० विना। २० ज्ञेयानु–वा० बा०। २१ पृ० ११९ पं० ८ तथा २९।

'ज्ञानाकारनिषेधाच्च'[1] इत्यादौ[3]

ज्ञानाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्ष[2]सिद्धत्वात् कथमभावः? तथाहि-स्वप्नादिषु अर्थमन्तरेणापि निरालम्बनमागृहीतार्थाकारसमारोपकं ज्ञान[4]मागोपा[5]लमतिस्फुटं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धम् । न च देश-कालान्तरावस्थितोऽर्थस्तेन रूपेण संवेद्यत इति युक्तं वक्तुम्, तस्य तद्रूपाभावात्; न चान्येन रूपेणान्यस्य संवेदनं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। किञ्च, अवश्यं भवद्भिर्ज्ञानस्यात्मगतः कश्चिद् विशेषोऽर्थकृतोऽभ्युपगन्तव्यः येन बोधरूपतासाम्ये[6]ऽपि प्रतिविषयं 'नीलस्येदं संवेदनम् न पीतस्य' इति विभागेन विभ[7]ज्यते ज्ञानम्; तदभ्युपगमे च सामर्थ्यात् साकारमेव ज्ञानमभ्युपगतं स्यात् आकारव्यतिरेकेणान्यस्य स्वभावविशेषत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात्, अतो भवता 'स्वभावविशेषः' इति स एव शब्दान्तरेणोक्तः अस्माभिस्तु 'आकारः' इति केवलं[8] नास्ति विवादः।

'एव[9]मित्थम्' इत्यादा[10]वपि 'एवमेत[11]न्नैवम्' इति वा 'प्रकारान्तरमारोपितमेवम्' इत्यादिशब्दैर्व्यवच्छिद्यमानं स्फुटतरमवसीयते[12] चेति नाव्यापिता शब्दार्थव्यवस्थायाः। एवं कुमारिलेनोक्तं दूषणं प्रतिविहितम्।

## [ उद्द्योतकरोक्तानामाक्षेपाणां प्रतिविधानम् ]

इदानीमुद्द्योतकरेणोक्तं प्रतिविधीयते-तत्र यदुक्तम्[13]—

'सर्वशब्दस्य कश्चार्थो व्यव[14]च्छेद्यः प्रकल्प्यते' इति,

अत्रापि धै[15]र्यादिपदवत् केवलस्य सर्वशब्दस्याप्रयोगात् वाक्यस्थस्यैव नित्यं प्रयोग इति यदेव मूढमतेराशङ्कास्थानं तदेव [16]निवर्त्त्यमस्ति। तथाहि—

" 'सर्वे धर्मा निरात्मानः' 'सर्वे वा पुरुषा गताः'।
सामस्त्यं गम्यते तत्र कश्चिदंशस्त्वपोह्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११८६ ]

कोऽसावंशोऽपोह्यतेऽत्र इति चेत्, उच्यते—

"केचिदेव निरात्मानो बाह्या इष्टा घटादयः।
गमनं कथंचि[17]च्चैव भ्रान्ति[18]स्तद्विनिवर्त्यते" ॥ [ तत्त्वसं० का० ११८७ ]

'एकाद्यसर्वम्' इत्यादावपि[19]

यदि[20] हि सर्वस्याङ्गस्य प्रतिषेधो वाक्यस्थे सर्वशब्दे विवक्षितः स्यात् तदा स्वार्थोऽपोहः प्रसज्यते यावता यदेव मूढधिया शङ्कितं तदेव निषिध्यत इति कुतः स्वार्थापवादित्वदोषप्रसङ्गः? एवं[21] द्व्यादिशब्देष्वपि वाच्यम्।

यच्चोक्तम्—'किं भावोऽथाभावः' इत्यादि[22],

---

१ पृ० १९९ पं० १४ तथा ३२। २-क्षप्रत्ययसि-भां० मां०।

३ "ज्ञानाकारनिषेधस्तु स्ववेद्यत्वान्न शक्यते। विद्यते हि निरालम्बमारोपकमनेकधा" ॥
"ज्ञानस्यात्मगतः कश्चिन्नियतः प्रतिगोचरम्। अवश्याऽभ्युपगन्तव्यः स्वभावश्च स एव च" ॥
"अस्माभिरुक्त आकारः प्रतिबिम्बं तदाभता। उल्लेखः प्रतिभासश्च संज्ञाभेदस्त्वकारणम्" ॥
तत्त्वसं० का० ११८१-११८२-११८३ पृ० ३५९।

४-पज्ञान-वा० बा०। ५-लमसिस्फु-भां० मां०।-लसितिस्फु-आ०।-लमि स्फु-वा० बा०। ६-साम्ये ति प्रति-हा० वा० बा०।-साम्येति विप-आ०। ७-भज्येते आ० मां०। ८-वलनास्ति भां० मां० विना। ९ एवमित्यादा-भां० मां०। १० १९९ पं० १८ तथा ३६।

११ "एवमित्यादिशब्दानां नैवमित्यादि विद्यते। अपोह्यमिति विस्पष्टं प्रकारान्तरलक्षणम्" ॥
तत्त्वसं० का० ११८४ पृ० ३६०।

'एवमेतन्नैवमिति प्रकारान्तर-' तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६० पं० ४। १२-ते चेति भां० मां०। १३ पृ० २०० पं० २ तथा २१-२२। १४-च्छेद्यः प्रकल्प-आ०। च्छेदः प्रकल्प-हा० वि०।

१५ "व्यवहारोपनीते च सर्वशब्देऽपि विद्यते। व्युदास्यं तस्य चार्थोऽयमन्यापोहोऽभिधित्सितः" ॥
तत्त्वसं० का० ११८५ पृ० ३६०।

१६ निर्धर्त्य-हा० वि०। १७-स्यान्चिच्चैवं आ० वि०। १८ भ्रान्तेस्त-आ०। १९ पृ० २०० पं० ५ तथा २३। २० "सर्वाङ्गप्रतिषेधश्च नैव तस्मिन् विवक्षितः। स्वार्थापोहप्रसङ्गोऽयं तस्मादज्ञतयोच्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ११८८ पृ० ३६०।

२१ एव द्वादि-वा० बा०। एवमद्यादि भां० मां० आ० हा०। २२ पृ० २०० पं० ११ तथा २६।

तत्रापि यथा[1]ऽसौ बाह्यरूपतया भ्रा[2]न्तैरवसीयते न तथा स्थित इति बाह्यरूपत्वाभावान्न भावः, न चाभावो [3]बाह्यवस्तुतयाऽव्य(ध्य)वसितत्वात् [4] इति कथं 'यदि भावः स किं गोः' इत्या[5]दि(दे)र्भावपक्षभाविनः 'भ्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरभावः' इ[6]त्यादेश्चाभावपक्षभाविनो दोषस्यावकाशः? अथ पृथक्त्वैकत्वादिलक्षणः कस्मान्न भवति[7]? [8]व्यतिरेको(का)ऽव्यतिरेकाऽऽश्रिताऽनाश्रितत्वादिवस्तुगतधर्माणां कल्पनाशिल्पिघटितविग्रहेऽपोहेऽसम्भवात्।

य[9]च्चोक्तम्—'क्रि[10]यारूपत्वाद[11]पोहस्य विषयो वक्तव्यः' इति, तदसिद्धम्; शब्दवाच्यस्यापोहस्य प्रतिबिम्बात्मकत्वात्। तच्च प्रतिबिम्बकम् अध्यवसितबाह्यवस्तुरूपत्वाद् न प्रतिषेधमात्रम्; अत एव 'किं गोविषयः अथाऽगोवि[12]षयतः (यः)' इ[13]त्यस्य विकल्पद्वयस्यानुपपत्तिः गोविषयत्वेनैव तस्य विधिरूपतयाऽध्यवसीयमानत्वात्।

य[14]च्चोक्तम्—'केन ह्यगोत्वमास[15]क्तं गोयेनैतदपोह्यते' इति, अत्रापि, य[16]दि हि प्राधान्येनान्यनिवृत्तिमेव शब्दः प्रतिपादयेत् तदैतत् स्यात् यावतार्था(र्थ)प्रतिबिम्बकमेव शब्दः करोति, तद्गतौ च सामर्थ्यादन्यनिवर्त्तनं गम्यत इति सिद्धान्तानभिज्ञतया यत् किञ्चिदभिहितम्। व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पः पूर्वमेव निरस्तः।

यदु[18]क्तम्—'किमयमपोहो वाच्यः' इत्यादि, तत्रा[20]न्या[21]पोहे 'वाच्य[22]त्वम्' इति विकल्पो यद्यन्यापोहशब्दमधिकृत्याभिधीयते तदा विधिरूपेणैवासौ तेन शब्देन वाच्य इत्यभ्युपगमान्नानिष्टापत्तिः। तथाहि-'किं विधिः शब्दार्थः आ[23]होस्विदन्या-

---

१ "न भावो नापि चाभावोऽपृथगेकत्वलक्षण । नाश्रिताऽनाश्रितोऽपोहो नैकानेकश्च वस्तुत" ॥
"तथाऽसौ नास्ति तत्त्वेन यथाऽसौ व्यवसीयते । तन्न भावो न चाभावो वस्तुत्वेनाऽवसायत" ॥
तत्त्वसं० का० ११८९–११९० पृ० ३६०–३६१।

२ भ्रान्तैर-भा० बा०। ३-न्न भावो बाह्यवस्तुतया आ० भा० बा०।-न्न भावो बाह्यवस्तु तथाऽव्यवस्थितत्वा-हा० वि०। ४ "बाह्यरूपतया दर्शितत्वात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६१ पं० ७।

५-त्यादिभाव-भा० मा० हा० वि० विना। पृ० २०० पं० १२ तथा २६। ६ पृ० २०० पं० १३ तथा २८। ७-ति व्यतिरेकाभि-भा० मा० विना।

८ "भेदाभेदादयः सर्वे वस्तुसत्तापरिनिष्ठिताः । निःस्वभावश्च शब्दार्थस्तस्मादेते निरास्पदाः" ॥
तत्त्वसं० का० ११९१ पृ० ३६१।
"व्यतिरेकाव्यतिरेकादयः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६१ पं० ११।

९ पृ० २०० पं० १६। १० क्रियाया रू-आ० हा० वि०। ११-दपोह्यस्य भा० मा० विना। १२ विषय इ-का०। "-विषय"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६१ पं० १५। १३ पृ० २०० पं० १७। १४ पृ० २०० पं० १९ तथा ३६। १५-क्तं गोयेने-आ० हा० विना।

१६ "अन्यार्थविनिवृत्तिं च साक्षाच्छब्दः करोति न । कृते स्वार्थाभिधाने तु सामर्थ्यात् साऽवगम्यते" ॥
"न तदात्मा परात्मेति विस्तरेणोपपादितम् । (पृ० २०३ पं० २३) परपक्षानभिज्ञेन तस्मादेतदिहोच्यते" ॥
"केन ह्यगोत्वमासक्तं गोयेनैतदपोह्यते । इति नैवाभिमुख्येन शब्देनैतदपोह्यते" ॥
तत्त्वसं० का० ११९२–११९३–११९४ पृ० ३६१।

१७ "यावताऽर्थप्रतिबिम्बकमेव"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६१ पं० २५। १८ अ० पृ० पं० ५। १९ पृ० २०१ पं० ८।

२० "कतमेन च शब्देन वाच्यत्वं परिपृच्छयते । अपोहस्य किमेतेन यदि वा किं घटादिना" ॥
"शब्दार्थः किमपोहो वा विधिर्वेति निरूप्यते । अपोह इति भाष्येतद् यत् तदेवं प्रतीयते" ॥
"प्रतिबिम्बं हि शब्दार्थं इति साक्षादियं मतिः । आत्मादिविधिहानिस्तु सामर्थ्यादवगम्यते" ॥
"घट-वृक्षादिशब्दाश्च तदेव प्रतिबिम्बकम् । ब्रुवन्ति जननात् साक्षादर्थादन्यत् क्षिपन्ति तु" ॥
"तस्मान्न विधिदोषोऽस्ति नानिष्टा च प्रसज्यते । अवाच्यपक्षदोषस्तु तदनङ्गीकृतेर्न न" ॥
तत्त्वसं० का० ११९५–११९६–११९७–११९८–११९९ पृ० ३६२।

२१-न्यापोहवा-भा० बा०। २२-च्यत्वमिति विकल्पे आ० हा० वि०।-च्यत्वविकल्पे भा० मा०। "तत्रान्यापोहवाच्यत्वविकल्प"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६२ पं० १४। २३ आहोस्विद्-हा० वि०। आहेतेस्विद्-भा०, बा०।

पोहः' इति प्रस्तावे 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्युक्ते प्रतिपत्तुर्यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणान्यापोहाध्यवसायी प्रत्ययः समुपजायते ऽर्थानु[1](र्थात् तु)विधिरूपशब्दार्थनिषेधः । अथ घटादिशब्दमधिकृत्य, तत्रापि यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाद् घटादिशब्दै[2]रुपजन्यमानत्वाद् विधिरूप एव तैः प्रतिपाद्यते, सामर्थ्यात् त्वन्यनिवृत्तेरधिगम इति नानिष्टापत्तिः । न चाप्यनवस्थादोषः[3], सामर्थ्यादन्यनिवृत्ते-र्गम्यमानत्वात् न तु वाच्यतया[4] । अवाच्यपक्षस्यानङ्गीकृतत्वादेव न तत्पक्षभाविदोषोदयावकाशः ।

'अपि चैकत्व[5]-नित्यत्व'-इत्यादावपि,

[6]यदि पारमार्थिकैकत्वाद्युपवर्णनं कृतं स्यात् तदा हास्यकरणं भवतः स्यात्; यदा तु भ्रान्तप्रति-पत्त्रनुरोधेन काल्पनिकमेव तद् आचार्येणोपवर्णितं तदा कथमिव हास्यकरणमवतरति विदुषः किन्तु भवानेव विवक्षितमर्थमविज्ञाय दूषयन् विदुषामतीव हास्यास्पदमुपजायते ।

'तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगः' इत्यादावपि[7],

'[8]न केवलं यत्र नञ्योगस्तत्रान्य[9]विनिवृत्त्यंशोऽवगम्यते, यत्रापि हि नञ्योगो नास्ति तत्रापि गम्यत एव' इति स्ववाचैवैतद् भवता प्रतिपादितम् 'स्वात्मैव गम्यते' [10]इत्यवधारणं कुर्वता; अन्यथाऽवधा-रणवैयर्थ्यमेव स्यात् यतः 'अवधारणसामर्थ्यादन्यापोहोऽपि गम्यते' इति स्फुटतरमेवावसीयते । [11]न च वन्ध्यासुतादिशब्दस्य बाह्यं सुतादिकं वस्त्वन्यव्यावृत्तमपोहाश्रयो नास्तीति किमधिष्ठानोऽपोहो वाच्य इति वक्तव्यम्[12], [13]यतो न तद्विषयाः शब्दा जात्यादिवाचकत्वेनाशङ्क्याः 'वस्तुवृ[14]त्तीनां हि शब्दानां किं रूपमभिधेयम्, आहोश्वित् प्रतिबिम्बम्' इत्याशङ्का स्यादपि, अभा[15]वस्तु वस्तुविवेकलक्षण एवेति तद्वृत्तीनां शब्दानां कथमिव वस्तुविषयत्वाशङ्का भवेद् इति निर्विषयत्वं स्फुटमेव तत्र शब्दानां प्रति-बिम्बकमात्रोत्पादादवसीयत एव ।

अत एव "[16]ये सङ्केतसव्यपेक्षास्तेऽर्थशून्याभिजल्पाऽऽहितवासनामात्रनिर्मि[17]तविकल्पप्रतिबिम्ब-मात्रावद्योतकाः, यथा वन्ध्यापुत्रादिशब्दाः, कल्पितार्थाभिधायिनः सङ्केतसव्यपेक्षाश्च विवादास्प-दीभूता घटादिशब्दा इति स्वभावहेतुः । [18]यद्वा परोपगतपारमार्थिकजात्याद्यर्थाभिधायका न भवन्ति घटादिशब्दाः, सङ्केतसापेक्षत्वात्, कल्पितार्थाभिधानव[19]त् । न च हेतोरनैकान्तिकता, क्वचि[20]त् साध्य-

---

१ अथानु आ० हा० वि० विना। "अर्थात् तु"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६२ पं० १७। २ पृ० २०१ पं० १० तथा १४। ३-स्वाच्च वाच्य-भां० मां०। ४-या वाच्य-आ० हा० वि०। ५ पृ० २०१ पं० १६।

६ "एकत्व-नित्यतादिश्च कल्पितो न तु तात्त्विकः। तदत्र हासकरणं महाविद्वत्त्वसूचकम्" ॥

तत्त्वसं० का० १२०० पृ० ३६२।

७ पृ० २०१ पं० १८। ८-पि केव-भां० मां० वा० बा० विना।

९ "अवधारणसामर्थ्यादन्यापोहोऽपि गम्यते। स्वात्मैव गम्यते यत्र विफलो नियमोऽन्यथा" ॥

तत्त्वसं० का० १२०१ पृ० ३६३।

१०-न्यनि-भां० मा०। ११ पृ० २०१ पं० १५।

१२ "यस्य तर्हि न बाह्योऽर्थोऽप्यन्यथावृत्त इष्यते। वन्ध्यासुतादिशब्दस्य तेन कोऽपोह उच्यते" ॥

तत्त्वसं० का० १२०२ पृ० ३६३।

१३ "रूपाभावादभावानां शब्दा जात्यादिवाचकाः। नाऽऽशङ्क्या एव सिद्धास्ते निर्भासस्यैव सूचकाः" ॥

अर्थशून्याभिजल्पोत्थवासनामात्रनिर्मितम्। प्रतिबिम्बं यदाभाति तच्छब्दैः प्रतिपाद्यते" ॥

तत्त्वसं० का० १२०३-१२०४ पृ० ३६३।

१४-वृत्तानां वा० बा०। १५-भावस्तु वस्तुविवेक-वा० बा०।-भावस्तु विवेक-आ०।-भाव-वस्तुविवेक-वि०।

१६ "तन्मात्रद्योतकाश्चेमे साक्षाच्छब्दाः ससंश्रयाः। संकेतसव्यपेक्षत्वात् कल्पितार्थाभिधानवत्" ॥

तत्त्वसं० का० १२०५ पृ० ३६४।

१७-तवैकल्प-भां० मां० वा० बा० विना।

१८ "परोपगतभेदादिविधानप्रतिपादकाः। न चैते ध्वनयस्तस्मात् तद्वदेवेति गम्यताम्" ॥

तत्त्वसं० का० १२०६ पृ० ३६४।

१९-वत् हे-आ० हा० वि०।

२० संकेतासंभवो यत्र भेदादौ साधितः पुरा। वैफल्यं च न तद्धेत्वोः संदिग्धव्यतिरेकिता" ॥

तत्त्वसं० का० १२०७ पृ० ३६४।

विपर्ययेऽनुपलम्भात् अशक्यसमयत्वात् अनन्यभाक्त्वाच्चेति। पूर्वं[1] स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भवस्य सङ्केतवैफल्यस्य च प्रसाधितत्वान्न हेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यतिरेकता।

अथ यथा[2] स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भवः वैफल्यं च तथाऽपोहपक्षेऽपि, ततश्चाकृतसमयत्वात् तन्मात्रद्योतकत्वमपि[3] शब्दानां न युक्तमित्यनैकान्तिकता प्रथमहेतोः। तथाहि-न प्रतिबिम्बात्मकोऽपोहः वक्तृ-श्रोत्रोरेकः सिद्ध्यति, न ह्यन्यदीयं ज्ञानमपरोऽर्वाग्दर्शनः संवेदयते प्रत्यात्मवेद्यत्वा(त्वाद्)[4] ज्ञानस्य, अज्ञानव्यतिरिक्तश्च परमार्थतः प्रतिबिम्बात्मलक्षणोऽपोहः[5]; ततश्च वक्तृ-श्रोत्रोरेकस्य सङ्केतविषयस्यासिद्धेः कुत्र[6] सङ्केतः क्रियेत[7] गृह्येत वा? न ह्यसिद्धे वस्तुनि वक्ता सङ्केतं कर्तुमीशः, नापि श्रोता ग्रहीतुम् अतिप्रसङ्गात्। तथाहि-श्रोता यत् प्रतिपद्यते[8] स्वज्ञानारूढमर्थप्रतिबिम्बकं न तद् वक्ता संवेद्यते यच्च वक्ता संवेद्यते न च तत् श्रोता; द्वाभ्यामपि स्वावभासस्यैव संवेदनात्[9], आनर्थक्यं[10] च तत्र सङ्केतस्य। तथाहि-यत् सङ्केतकाले प्रतिबिम्बकमनुभूतं श्रोत्रा वक्त्रा वा न तद् व्यवहारकालेऽनुभूयते तस्य क्षणक्षयित्वेन चिरनिरुद्धत्वात् यच्च व्यवहारकालेऽनुभूयते न तत् सङ्केतकाले दृष्टम् अन्यस्यैव तदानीमनुभूयमानत्वात्, न चान्यत्र सङ्केतादन्येन व्यवहारो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, असदेतत्; यतो न परमार्थतो ज्ञानाकारोऽपि शब्दानां वाच्यतयाऽभीष्टः येन तत्र सङ्केतासम्भवो[11] दोषः प्रेर्येत; यतः सर्व एवायं[12] शाब्दो व्यवहारः स्वप्रतिभासानुरोधेन तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्त इष्यते, केवलमर्थशून्याभिजल्पवासनाप्रबोधाच्छब्देभ्योऽर्थाध्यवसायिविकल्पमात्रोत्पादनात्[13] तत्प्रतिबिम्बकं शब्दानां वाच्यमित्यभिधीयते जननात् न त्वभिधेयतया। तत्र यद्यपि स्वस्यैवावभासस्य वक्तृ-श्रोतृभ्यां परमार्थतः संवेदनम् तथापि तैमिरिकद्वयस्येव[14] भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वात् द्वयोरपि वक्तृ-श्रोत्रोर्बाह्यार्थव्यवस्थाध्यवसायः तुल्य एव। तथाहि-वक्तुरयमभिमानो वर्तते 'यमेवाहमर्थं प्रतिपद्ये तमेवायं प्रतिपाद्यते'[15] एवं श्रोतुरपि योज्यम्। एकार्थाध्यवसायित्वं कथं वक्तृ-श्रोत्रोः परस्परं विदितम् इति न वाच्यम्, यतो यदि नाम परमार्थतो न विदितम् तथापि भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वादस्त्येव परमार्थतः स्वसंविदितं प्रतिबिम्बकम्। स्वप्रतिभासानुरोधेन च तैमिरिकद्वयवद्[16] भ्रान्त एव व्यवहारोऽयमिति निवेदितम्[17]; तेनैकार्थाध्यवसायवशात् सङ्केतकरणमुपपद्यत एव न चाप्यानर्थक्यं[18] सङ्केतस्य, सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्व[19] (त्वं) प्रतिबिम्बे[20] वक्तृ-श्रोत्रोरध्यवसायात् न परमार्थतः। यदुक्तम्—

"व्यापैकत्वं[21] च तस्येद[22]सिद्धमाध्यवसायिकम्।
मिथ्यावभासिनो ह्येते प्रत्ययाः शब्दनिर्मिताः" ॥ [ तत्त्वसं० का० १२१२ ]

ततः स्थितमेतद् न शब्दस्याकल्पितोऽर्थः सम्भवति।

---

१ पृ० १७४ पं० २३।-पूर्वस्थल-आ० बा० बा० विना।

२ "ननु चापोहपक्षेऽपि कथं सकेतसम्भव.। साफल्यं च कथं तस्य न द्वयोः स हि सिध्यति" ॥
"वक्तृ श्रोत्रोर्न हि ज्ञान वेद्यते तत् परस्परम्। संकेते न च तद् दृष्टं व्यवहारे समीक्ष्यते" ॥

तत्त्वसं० का० १२०८-१२०९ पृ० ३६४।

३-त्वमिति श-भां० मा० विना। ४-स्यात्मसंवेद्य-भा० मा०। "प्रत्यात्मसवेदनीयमेवाऽर्वाग्दर्शनानां ज्ञानम्। न ह्यन्यदीयज्ञानमपरोऽपरदर्शन सवेदयते। ज्ञानादव्यतिरिक्तश्च"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३६५ प० ३। ५-त्मकल-भा० मां०। ६ कुत वा० बा०। ७ क्रियते भा० मा०। ८ श्रोत्रा यत् प्रतिपाद्यते आ०। श्रोता यत् प्रतिपाद्यते वि० हा०। ९-त्वात् व्यव-आ० हा० वि०।

१० "स्वस्य स्वस्यावभासस्य वेदनेऽपि स वर्तते। बाह्यार्थाध्यवसाये यद् द्वयोरपि समो यत." ॥
"तिमिरोपहताक्षो हि यथा प्राह शशिद्वयम्। स्वसमाय तथा सर्वो शाब्दी व्यवहृतिर्मता" ॥

तत्त्वस० का० १२१०-१२११ पृ० ३६५-३६६।

११-म्भवे दो-आ० हा० वि०। १२-यं शब्दो भा० मा० विना। १३-त्पादात् भा० मां०। १४-यस्यैव वा० बा० हा० वि०। १५ "प्रतिपद्यते"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३६५ प० २४। १६-वदभ्रान्त-मां० मा० विना। १७ प्र० पृ० प० १४। १८-क्यं संकेतव्यवहार-मां० मा० विना। १९ व्यापकत्वस्य प्रति-भा० मां० वा० बा०। "सकेतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्व च"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ३६६ पं० १०। २०-विम्बं च-आ०। २१-एकं च वा० बा० आ० हा० वि०। २२ तस्येवमि-वा० बा०। तस्यैवमि आ० हा० वि०।

[ संविद्वपुरन्यापोहवादिप्रज्ञाकरमतस्य उपन्यासः ]

अपरस्त्वन्यथा प्रमाणयति—इह खलु यद् यत्र प्रतिभाति तत् तस्य विषयः, यथाऽक्षजे संवेदने परिस्फुटं प्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्द-लिङ्गान्वये च दर्शनप्रसवे वहिरर्थस्वतत्त्वप्रतिभासरहितं स्वरूपमेव चकास्ति तत् तदेव तस्य विषयः। पराकृतवहिरर्थसंस्पर्शं च संविद्वपुरन्यापोहः वस्तुनि शब्द-लिङ्गवृत्तेरयोगात्। तथाहि-जातिर्वा तयोर्विषयः, व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, जातेरेवासम्भवात्। तथाहि-दर्शने व्यक्तिरेव चकास्ति, पुरः परिस्फुटतयाऽसाधारणरूपानुभवात्। अथ साधारणमपि रूपमनुभूयते 'गौर्गौः' इति, तदसत्; शावलेयादिरूपविवेकेनाऽप्रतिभासनात्। न च शावलेयादिरूपमेव साधारणमिति शक्यं वक्तुम्, तस्य प्रतिपत्तिव्यक्ति(प्रतिव्यक्ति)भिन्नरूपोपलम्भात्। तथा च पराकृतमिदम्—

"सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न युज्यते"॥
"न चात्रान्यतरा भ्रान्तिरुपचारेण वेष्यते।
दृढत्वात् सर्वथा बुद्धेर्भ्रान्तिस्तद् भ्रान्तिवादिनाम्"॥ [ श्लो० वा० आकृ० श्लो० ५-७ ] इति।

'द्व्यात्मिका बुद्धिः' इति यदीन्द्रियबुद्धिमभिप्रेत्योच्यते तदयुक्तम्; तस्या असाधारणरूपत्वात्, नहि ह्यर्योर्वहिर्ग्राह्याकारतया परिस्फुटमुद्भासमानयोस्तदभिन्नं भिन्नं वा दर्शनारूढं साधारणं रूपमाभाति। अथ कल्पनाबुद्धिर्द्व्याकारा अभिधीयते। तथाहि-यदि नाम अपास्तकल्पने दर्शने न जातिरुद्भाति कल्पना तु तामुल्लिखन्ती व्यवसीयते 'गौर्गौः' इति, एतदप्यसत्; कल्पनाज्ञानेऽपि जातेरनवभासनात्। तथाहि-कल्पनाऽपि पुरः परिस्फुटमुद्भासमानं व्यक्तिस्वरूपं व्यवस्यन्ती हृदि चाभिजल्पाकारं प्रतीयते, न च तद्व्यतिरिक्तः वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यः प्रतिभासो लक्ष्यते वर्णादिस्वरूपरहितं च जातिस्वरूपमभ्युपगम्यते, तत्र कल्पनावसेयाऽपि जातिः। यच्च क्वचिदपि ज्ञाने नावभाति तदसद्, यथा शशविषाणम्, जातिश्च क्वचिदपि ज्ञाने परिस्फुटव्यक्तिप्रतिभासवेलायां स्वरूपेण नाभाति तन्न सती।

अथापि शब्द-लिङ्गजे ज्ञाने स्वरूपेण सा प्रतिभाति तत्र सम्बन्धप्रतिपत्तेः, स्वलक्षणस्य च तत्रासाधारणरूपतया प्रतिभासनावसायात् सम्बन्धग्रहणासम्भवाच्च तन्न शब्द-लिङ्गभूमिः। ननु तत्रापि परिस्फुटतरो व्यक्तेरेवाकारः शब्दस्य वा प्रतिभाति न तु वर्णाकाररहितोऽनुगतैकस्वरूपः प्रयोजनसामर्थ्यव्यतीतः कश्चिदाकारः केनचिदपि लक्ष्यते, शब्द-लिङ्गान्वयं हि दर्शनमर्थक्रियासमर्थतयाऽस्फुटदहनाकारमाददानं प्रवर्तयति जनम्, तत् कथमन्यावभासस्य दर्शनस्याऽन्याकारो जात्यादिविषयः? यदि च जात्यादिरेव लिङ्गादिविषयः तथा सति जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहादधिगमेऽपि शब्द-लिङ्गाभ्यां न वहिरर्थे प्रवृत्तिर्जनस्येति विफलः शब्दादिप्रयोगः स्यात्। अथ जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहेऽपि स्वलक्षणं तत्र समर्थमिति तदर्था प्रवृत्तिरर्थिनाम्, ननु तत् स्वलक्षणं लिङ्गादिजे दर्शने सदपि न प्रतिभाति, न चात्मानमनारूढेऽर्थे विज्ञानं प्रवृत्तिं विधातुमलम् सर्वस्य सर्वत्र प्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्। यत् तु तत्र प्रतिभाति सामान्यं न तद् दाहादियोग्यम्, यदपि ज्ञानाभिधानं तस्य फलं मतं तदपि पूर्वमेवोदितमिति न तदर्थोऽपि प्रवृत्तिः साध्वी।

---

१-लादि स तद्विष-भा० मां० विना। २-रर्थास्वतत्त्वप्रतिभासारहि-वा० बा०। ३-रर्थसंस्पर्शं भा० मां०। ४-तुभा-आ० हा० वि०। ५-सनात्तच्च शाव-मां० भा०।-सनानुच शाव-आ० हा० वि०। ६ तस्य प्रतिव्यति प्रतिव्यक्ति भिन्न-वा० बा। तस्य प्रतिपत्ति भिन्न-वि०, तस्य प्रतिव्यक्ति भिन्न-वि० स०। तस्य प्रतिपत्तिः व्यक्तिभिन्न-भा०। ७ बुद्धे भ्रा-वा० बा०। ८-ति बुद्ध्यात्मि-आ० हा० वि०। ९-नामुल्लि-मां० भा० विना। १०-क्तिरु-आ० हा० वि०। ११-दि वाऽभि-आ० हा० मां०। १२-तिरिक्तैः वर्णा-भा० मां०।-तिरिक्तवर्णा-आ० हा० वि०। १३ जाते स्व-आ० हा० वि०। १४-हणसम्भ-आ० विना। १५ तन्न श-मां० भा० विना। १६-तया स्फुट-मां० मां० वा० बा० विना। १७ जलम् वा० बा०। १८-रहाधिग-आ० हा० वि०। १९-नां तत् आ०। २०-ति तद्-आ० हा० वि०। २१-र्थो प्र-आ०।

अथ प्रथमं शब्द-लिङ्गाभ्यां जातिरवसीयते ततः पश्चात् तया स्वलक्षणं लक्ष्यते तेन विना तस्या अयोगादिति लक्षितलक्षणया प्रवृत्तिर्भवेत्, नैतदपि सम्यक्; न ह्यत्र क्रमवती प्रतीतिः—पूर्वं जातिराभाति पश्चात् स्वलक्षणमिति। किञ्च, जात्यापि स्वलक्षणं प्रतिनियतेन वा रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपस्य स्वलक्षणस्य प्रतिपत्तेरसम्भवात्; न हि शब्दानुमानवेलायां जातिपरिमितं प्रतिनियतं स्वलक्षणमुद्भाति सर्वतो व्यावृत्तरूपस्याननुभवात्, अनुभवे वा प्रत्यक्षप्रतिभासाविशेषः स्यात्। न च प्रतिनियतरूपमन्तरेण जातिर्न सम्भवति, तत् कुतस्तया तस्य लक्षणम्? अथापि साधारणेन रूपेण तया स्वलक्षणं लक्ष्यते 'दाहादियोग्यं वह्निमात्रमस्ति' इति, तदप्यसत्; साधारणस्यापि रूपस्यार्थक्रियाऽसम्भवात् प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः, ततश्च तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रवृत्तिः? पुनस्तेनापि साधारणेनापरं साधारणं रूपं प्रत्येतव्यम् तेनाप्यपरमिति साधारणरूपप्रतिपत्तिपरम्परा निरवधिर्भवेत्; तथा चार्थक्रियासमर्थरूपानधिगतेर्वृत्त्यभाव एव। किञ्च, यदि नाम जातिराभाति शब्द-लिङ्गाभ्याम् व्यक्तेः किमायातम् येन सा तां व्यनक्ति? तयोः सम्बन्धादिति चेत्, सम्बन्धस्तयोः किं तदा प्रतीयते, उत पूर्वं प्रतिपन्नः? न तावत् तदा भात्यसौ व्यक्तेरनधिगतेः, केवलैव हि तदा जातिर्भाति यदि तु व्यक्तिरपि तदा भासेत तदा किं लक्षितलक्षणेन? सैव शब्दार्थः स्यात्; तदनधिगमे न तत्सम्बन्धाधिगतिः। अथ पूर्वमसौ तत्र प्रतीतः तथापि तदैवासौ भवतु, नह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदापि तथैव भवति अतिप्रसङ्गात्। अथ जातेरिदमेव रूपम्, यदुत विशेषनिष्ठता? ननु 'सर्वदा सर्वत्र जातिर्विशेषनिष्ठा' इति किं प्रत्यक्षेणावगम्यते, यद्वाऽनुमानेन? तत्र न तावत् प्रत्यक्षेण सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रतिभासनान्नैकदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते, क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरवधेर्व्यक्तिपरम्परायाः सकलायाः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् तन्निष्ठता न जातेरधिगन्तुं शक्या। कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताऽधिगमे 'सर्वदा न तन्निष्ठता' इत्युक्तम्। तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्तन्निष्ठता प्रतिपत्तुं शक्या। नाप्यनुमानेन, तत्पूर्वकत्वेन तस्य तदभावेनाप्रवृत्तेः। तन्न जात्यापि तदभावे व्यक्तेरधिगमः कर्तुं शक्यः।

किञ्च, यदि जातिरभिधानगोचरः तथा सति नीलत्वजातिरुत्पलत्वजातिश्च द्वयमपि परस्परं भिन्नं प्रतीतमिति न सामानाधिकरण्यं भवेत्, न हि परस्परविभिन्नार्थप्रतीतौ तद्व्यवस्था 'घटः पटः' इति दृश्यते। अथ गुण-जाती प्रतिनियतमेकमधिकरणं बिभ्राते ततस्तद्द्वारेणैकाधिकरणता शब्दयोः। ननु गुणजातिप्रतीतौ शब्दजायां न तदधिकरणमाभाति तस्य शब्दागोचरत्वात्, न चानुद्भासमानवपुरधिकरणं सन्निहितमिति न समानाधिकरणताव्यवस्था अतिप्रसङ्गात्, पुनरपि तदेव वक्तव्यम्—'शब्दैरनभिधीयमानमधिकरणं तदभिहितैर्जात्यादिभिराक्षिप्यमाणं तद्व्यवस्थाकारि' इति। तन्न च समाधिनं सामर्थ्यायातमधिकरणं (मधिकरणमेकाधिकरणतां) शब्दयोः कर्तुमलम्; घट-पटशब्दयोरपि ताभ्यामभिहिताभ्यामेकस्य भूतलादेराधारस्याऽऽक्षेपादेकार्थताप्रसङ्गात्। तथा, जातिपक्षे धर्मधर्मिभावोऽप्यनुपपन्न एव, यदि हि व्यक्तावाश्रिता जातिः प्रतीयेत तदा तद्धर्मः स्यात्, यदा तु व्यक्तिः सत्यपि नाभाति शब्दजे ज्ञाने तदा जातेरेव केवलायाः प्रतिभासनात् कथं जाति-जातिमतोर्धर्मधर्मिभावः? नहि नीलादिः केवलं प्रतीयमानः कस्यचिद्धर्मो धर्मी वा; यदापि प्रत्यक्षे द्वयं प्रतिभाति तदाऽपि भेदप्रतिभासे सति न धर्मधर्मिभावः, सर्वत्र तथाभावप्रसङ्गात्। अथ प्रत्यक्षे ताद्रूप्यं प्रतिभाति जाति-व्यक्त्योः तेनायमदोष इति चेत्, अत्रोच्यते—ताद्रूप्येण विज्ञानमिति किं व्यक्तिरूपतया जातेरधिगतिः, अथ जातिरूपतया व्यक्तेरिति? तत्र यद्याद्यः पक्षः तथा सति व्यक्तिरेव गृहीता न जातिः। द्वितीयेऽपि जातिरूपाधिगतिरेव न व्यक्तिरिति न सर्वथा धर्मिधर्मभावः। तन्न जातिः शब्द-लिङ्गयोर्विषयः।

---

१ तस्य अयोगा-आ०। तस्या योगा-भा० मां०। २ लक्षिते लक्षणाया प्र-वा० वा०। लक्षितलक्षणयोः प्र-आ० हा० वि०। ३-मुद्भवति वा० वा०। ४-भासवि-वा० वा०। ५-सा व्यन-भा० मा० विना। ६ न भवेत् तदा आ०। न सावेत् तदा वि०। न सावच्छदा हा०। न च तदा वा० वा०। ७-दा प्रतिभा-भा० मा०। ८ यदि त व्य-वा० वा०। यदि व्य-आ० हा० वि०। ९ तत्रैव वा० वा०। तदैव वि०। १०-स्परतो भि-भा० मा०। ११-समाधिकरणं विभाते ततस्तद्वारेणैकाधिकरणमेकाधिकरणतां शब्दयोः कर्तुमलम्, घट-वा० वा०। १२-र्थ्यायत-आ० वि०। १३ प्रतीयते भा० मा० विना।

अथाकृतिविशिष्टा व्यक्तिस्तयोरर्थः, तदप्यसत्; तस्याः प्रतिभासाभावात्, न हि शब्द-लिङ्गप्रसवे विज्ञाने व्यक्ति(क्त)रूपतया प्रतिभाति, तदभावेऽपि तस्योदयात् अव्यक्ताकारानुभावाच्च। अथापि व्यक्तेरेवाकारद्वयमेतत्—व्यक्तरूपमव्यक्तरूपं चेति। तत्र व्यक्तरूपमिन्द्रियज्ञानभूमिः, अव्यक्तं च शब्दपथः। ननु रूपद्वयं व्यक्तेः केन गृह्यते? न तावदभिधानजेन ज्ञानेन, तत्र स्पष्टरूपानवभासनात् अस्पष्टरूपं हि तदनुभूयते। नापीन्द्रियज्ञानेन व्यक्तेराकारद्वयं प्रतीयते, तत्र व्यक्ताकारस्यैव प्रतिभासनात्; न हि परिस्फुटप्रतिभासवेलायामविशदरूपाकारो व्यक्तिमारूढः प्रतिभाति; तत् कथं व्यक्तेरसावात्मा? अथ 'श्रुतं पश्यामि' इति व्यवसायाद् दृश्य-श्रुतयोरेकता; ननु किं दृश्यरूपतया श्रुतमवगम्यते, श्रुतरूपतया वा दृश्यम्? तत्राद्ये पक्षे दृश्यरूपावभास एव न श्रुतगतिर्भवेत्। द्वितीयेऽपि पक्षे श्रुतरूपावगतिरेव व्यक्तेः न दृश्यरूपसम्भवः; तस्मात् प्रतिभासरहितमभिमानमात्रमिन्द्रिय-शब्दार्थयोरध्यवसानम् न तत्त्वम्; अन्यथा दर्शनवच्छाब्दमपि स्फुटप्रतिभासं स्यात्। अथ तत्रेन्द्रियसम्बन्धाभावाद् व्यक्तिर्स्वरूपावभासेऽपि प्रतिपत्तिविशेषः स्यात्; नन्वक्षैरपि स्वरूपमुद्भासनीयम्, तत्र यदि शब्द-लिङ्गाभ्यामपि तदेव दर्श्यते तथा सति तस्यैवान्यूनातिरिक्तस्य स्वरूपस्याधिगमे कथं प्रतिपत्तिभेदः? अन्यच्च, प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसम्बन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्योऽसौ तस्यातीन्द्रियत्वात्, किन्तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्या(र्यात्)। तच्च वस्तुस्वरूपं यद्यनुमानेऽपि भाति तथा सति तत एवेन्द्रियसम्बन्धः समुन्नीयताम्। अथ तत्र परिस्फुटप्रतिभासाभावान्नासावनुमीयते; ननु तदभावस्तत्राक्षसङ्गतिविरहात् प्रतिपाद्यते तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः। अथ व्यक्तिरूपमेकमेव नीलादित्वमुभयत्र प्रतीयते व्यक्ताव्यक्ताकारौ तु ज्ञानस्यात्मानौ, तत्रोच्यते–यदि तौ ज्ञानस्याकारौ कथं नीलप्रभृतिरूपतया प्रतिभातः? तद्रूपतया च प्रतिभासनान्नीलाद्याकारावेतौ; नहि व्यक्तरूपतामव्यक्तरूपतां च मुक्त्वा नीलादिकमपरमाभाति; तदनवभासात् तस्याभाव एव। व्यक्ताव्यक्तैकात्मनश्च नीलस्य व्यक्ताकारवद् भेदः। नहि प्रतिभासभेदेऽप्येकता अतिप्रसङ्गात्। तन्नाक्ष-शब्दयोरेको विषयः। किञ्च, यदि व्यक्तिः शब्द-लिङ्गयोरर्थः तथा सति सम्बन्धवेदनं विनैव ताभ्यामर्थप्रतीतिर्भवेत्; नहि तत्र तत् तयोः सम्भवति। व्यक्तिर्हि नियतदेशकालादशा(लदशा)परिगता न देशान्तरादिकमनुवर्तते नियतदेशादिरूपाया एव तस्याः प्रतीतेः; तथा चैकत्रैकदा सम्बन्धानुभवेऽन्यस्यार्थस्य कथं प्रतीतिः? अथ व्यक्तीनामेकजात्युपलक्षिते रूपे सम्बन्धादनन्तरा भविष्यति, तदपि न युक्तम्; यतो जात्युपलक्षितमपि रूपं तासां भिन्नमेव लिङ्गादिगोचरः, तस्याभेदे पूर्वोक्त[13]दोषात्, तथा च सम्बन्धा[14]नुभव एव स्यात्।

किञ्च, व्यक्तौ सम्बन्धवेदनं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा भवेत्? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य पुरःस्थितरूपमात्रप्रतिभासनात् शब्द[15]स्य वचनयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेन गृह्यते। अथेन्द्रियज्ञानारूढे एव रूपे सम्बन्धव्युत्पत्तिर्दृश्यते—'इदमेतच्छब्दवाच्यम्' 'अस्य[16] चेदमभिधानम्' इति, अत्र विचारः—'अस्येदं वाचकम्' इति कोऽर्थः—किं प्रतिपादकम्, यदि वा कार्यम्, कारणं[17] वेति? तत्र यदि प्रतिपादकम्, तत् किमधुनैव, यद्वाऽन्यदा? तत्र यद्यधुनोच्यते शब्दरूपमर्थस्य प्रतिपादकं विशदेनाकारेणेति, तदयुक्तम्; अक्षव्यापारेणाधुना विशदाकारेण नीलादेरवभासनात्, ततश्चाक्षव्यापार एवाधुना प्रकाशकोऽस्तु न शब्दव्यापारः, तस्य तत्र सामर्थ्यानधिगतेः। अथान्यदा लोचनपरिस्पन्दाभावे शब्दोऽर्थानुद्भासयति तदा किं तेनैवाकारेणासौ तानर्थानवभासयति, यद्वा आकारान्तरेणेति विकल्पद्वयम्। यदि विशदेनाकारेण प्रतिपादयतीत्युच्यते, तदसत्; यतस्तदाप्यसौ चक्षुरादिभिरेव विशदेनाकारेणोद्भास्यते न शब्देन, तस्य तत्र सामर्थ्यादर्शनात् दर्शनाकाङ्क्षणाच्च। यदि

१–सन् भा० मा० वा० वा० हा०। २ व्यक्तरूपम–भा० मा०। व्यक्तम–वि०। ३–मव्यक्तं चे–भा० मां०। ४–पथम् आ० कां०। ५ व्यक्ते न भा० मा० वा० वा०। ६–स्वभावाव–वि०। ७ तदाभाव–भा० मां०। ८ व्यक्तिस्वरूप–भां० मा०। ९–पमेव आ० का०। १० व्यक्तिरू–भां० मां०। ११–रूमेदोऽप्ये–वि० विना। १२–कालदेशापरि–आ०।–कालादशापरि वा० वा०। १३ प्र० पृ० पं० २३। १४–न्धानुभव–वा० वा०। १५ शब्दस्य च तयोर्वाच्य–भा० मा०। शब्दस्य च न तयोर्थावाच्य–वा० वा०। १६–स्य चे–भां० मा० आ०। १७–णं चे–भा० मा० वा० वा० विना। १८–रभास–वा० वा० आ० वि०। १९ शब्दार्थानुद्भा–वा० वा०। शब्दानुद्भा–आ०।

तु शब्देनैव सोऽर्थः स्वरूपेणैव प्रतिपाद्यते तदाऽस्य सर्वथा प्रतिपन्नत्वात् किमर्थं प्रवृत्तिः? नहि प्रतिपन्न एव तावन्मात्रप्रयोजना वृत्तिर्युक्ता, वृत्तेरविरामप्रसङ्गात्। अथ किञ्चिदप्रतिपन्नं रूपं तदर्थं प्रवर्तनम्; ननु यदप्रतिपन्नं व्यक्तिरूपं प्रवृत्तिविषयः तत् तर्हि न शब्दार्थः, तदेव च पारमार्थिकम् ततोऽर्थक्रियादर्शनात्, नाव्यक्तम् सर्वार्थक्रियाविरहात्। अथ कालान्तरे स्फुटेतरेणाकारेण व्यक्तीरुद्द्योतयन्ति शब्दाः; नन्वसावाकारस्तदा सम्बन्धव्युत्पत्तिकाले कालान्तरे वा नेन्द्रियगोचरस्तत् कथं तत्र शब्दाः प्रवर्तमाना नयनादिगोचरेऽर्थे वृत्ता भवन्ति? तन्नाध्यक्षतः सम्बन्धवेदनम् । नाप्यनुमानेन, तदभावे तदनवतारात् । अथाप्यर्थापत्त्या सम्बन्धवेदनम् । तथाहि-व्यवहारकाले शब्दार्थौ प्रत्यक्षे प्रतिभातः, श्रोतुश्च शब्दार्थप्रतीतिं चेष्टया प्रतिपद्यन्ते व्यवहारिणः तदन्यथानुपपत्त्या तयोः सम्बन्धं विदन्ति। अत्रोच्यते-सिद्ध्यत्येवं काल्पनिकः सम्बन्धः। तथाहि-श्रोतुः प्रतिपत्तिः सङ्केतानुसारिणी दृश्यते, के(क)लि-मार्यादिशब्देभ्यो हि द्रविडाऽऽर्ययोर्विपरीततत्प्रतिपत्तिदर्शनान्न नियतः सम्बन्धो युक्तः। सर्वगते च तस्मिन् सिद्धेऽपि न नियतार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। प्रकरणादिकमपि नियमहेतुः नियतार्थसिद्धौ सर्वमनुपपन्नम्। तथाहि-प्रकरणादयः शब्दधर्माः, अर्थधर्माः, प्रतिपत्तिधर्मा वा? शब्दधर्मे तस्मिन् शब्दरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुरिष्टं स्यात्, तच्च सर्वार्थान् प्रति तुल्यत्वात् न युक्तम्। अर्थोऽपि न नियतरूपः सिद्ध इति न तद्धर्मोऽपि प्रकरणादिः। प्रतिपत्तिधर्मस्तु यदीष्यतेऽसौ तदा काल्पनिक एवार्थनियमः न तात्त्विकः स्यात्। तस्मात् सर्वं परदर्शनं व्यान्ध्यविजृम्भितम् मनागपि विचाराक्षमत्वात्। तदेवमेवस्थितं विचारात् 'न वस्तु शब्दार्थः' इति, किन्तु शब्देभ्यः कल्पना वहिरर्थासंस्पर्शिन्यः प्रसूयन्ते, ताभ्यश्च शब्दा इति। शब्दानां च कार्यकारणभावमात्रं तत्त्वम् न वाच्यवाचकभावः। तथाहि-न जाति-व्यक्त्योर्वाच्यत्वम्, पूर्वोक्तदोषात्। नापि ज्ञान-तदाकारयोः, तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात् अभिधानकार्यत्वाच्च। शब्दाद् विज्ञानमुत्पद्यते न तु तत् तेन प्रतीयते, बहिरर्थाध्यवसायात्। कथं तर्ह्यन्यापोहः शब्दवाच्यः कल्प्यते? लोकाभिमानमात्रेण शब्दार्थोऽन्यापोह इष्यते, लौकिकानां हि शब्दश्रवणात् प्रतीतिः, प्रवृत्तिः, प्राप्तिश्च बहिरर्थे दृश्यते। यदि लोकाभिप्रायोऽनुवर्त्यते बहिरर्थस्तर्हि शब्दार्थोऽस्तु तदभिमानात् नान्यापोहः तदभावात्। अत्रोच्यते-बहिरर्थ एवान्यापोहः तथा चाह-"य एव व्यावृत्तः सैव व्यावृत्तिः" [ ] नन्वेवं सति स्वलक्षणं शब्दार्थः स्यात्, तदेव विजातीयव्यावृत्तेन रूपेण शब्दभूमिरिष्यते—सजातीयव्यावृत्तस्य रूपस्य शाब्दे प्रतिभासाभावात्—यदि तर्हि विजातीयव्यावृत्तं शब्दैर्विकल्पैश्चोल्लिख्यते तथा सति तदव्यतिरेकात् सजातीयव्यावृत्तमपि रूपमधिगतं भवेत्, न; विकल्पानामविद्यास्वभावत्वान्न हि ते स्वलक्षणसंस्पर्शभाजः, यतस्ते (?) सर्वाकारप्रतीति-

---

१ प्रतिपद्य-वा० बा० । २-जनतावृत्ति-भा० मा० ।-जन्यावृत्ति-हा० । ३ यदि प्रति-भां० मा० । ४-पन्नव्यक्ति-वा० बा० । ५ स्फुटतरे-का० । ६-नम् । न ह्यनु-आ० हा० वि० । ७-प्रतीतिचेष्टया प्रतिपाद्य-वि० । ८-न्धं वद्-भा० मा० । ९ केवलि-नार्यादिशब्देभ्यो हि द्राविः-भा० मां० विना ।

"समर्थान्तरभावे च कलि-मार्यादिशब्दवत् । नान्यार्थबोधकत्व स्याद् ध्वनेर्नियतशक्तित." ॥

"यथा कलि-मार्यादिशब्दाना द्रविडा(डा)र्यदेशयोर्यथाक्रममन्तकालवर्षोपसर्गाद्यभिधायिनाम्"-तत्त्वसं० का० २६५४ पृ० ७०९, पञ्जि० पृ० ७१० पं० १२ । १० सर्वे ग-वा० । सर्वे ग-वा० बा० ।

११ प्रकरणादयस्त्विमे—

"संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः" ॥

वाक्यप० का० २ श्लो० ३१७ पृ० २१४ ।

१२-पञ्चध-वा० बा० विना । १३-पि नियत-हा० वि० ।-पि नियतः सि-आ० । १४-ति नातद्धर्मो-भा० मां० विना । १५-णादि । प्रति-भां० मा० । १६-पत्तुं ध-वा० बा० । १७-मनवस्थितं वा० बा० आ० । १८ प्रसूयन्ते भा० मा० विना । १९-चकामा-भा० मां० विना । २०-रूपेणास्व-वा० बा० । २१ तत्त्वेन भा० मा० हा० विना । २२ कल्पते भा० मा० विना । २३-मात्रेणाश-भा० मा० विना । २४-वर्तते वा० बा० । २५-था शब्दः य एव वा० बा० । २६ नत्वेवं भा० । २७-स्य शाब्दे भा० मा० विना । २८-शब्दे वा० बा० । २९-तस्तैः भा० मा० ।-तस्तेः वा० बा० ।

दोषाः। केवलमभिमानमात्रं बहिरर्थाध्यवसायस्तदभिप्रायेण वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोरित्यन्यापोहः शब्दभूमिरिष्टः। परमार्थतस्तु शब्द-लिङ्गाभ्यां बहिरर्थसंस्पर्शव्यतीतः प्रत्ययः केवलं क्रियत इति तत्संस्पर्श(र्शा)भावेऽपि च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धादविसंवादः। तथाहि-पदार्थस्यास्तित्वात् प्राप्तिः न दर्शनात्, केशोन्दुकादेर्दर्शनेऽपि प्राप्त्यभावात्। अथ प्रतिभासमन्तरेण कथं प्रवृत्तिः? ननु प्रतिभासेऽपि कथं प्रवृत्तिः? तस्मिन्नप्यनर्थित्वे तदभावात् अर्थित्वे च सति दर्शनविरहेऽपि भ्रान्तेः सद्भावात्; प्रतिबन्धाभावात् तु तत्र विसंवादः। यदा तु विकल्पानां स्वरूपनिष्ठत्वान्नान्यत्र प्रतिबन्धसिद्धिस्तदा स्वसंवेदनमात्रं परमार्थसतत्त्वम्, तथापि कथं 'समयपरमार्थविस्तरः' इति सत्यम्?

['सामान्य-विशेषात्मक एव शब्दार्थः' इति प्रतिपादनपरः सविस्तरं स्याद्वादिसिद्धान्तोपन्यासः]

अत्र प्रतिविधीयते—यदुक्तम्-'यः 'अतस्मिंस्तत्' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः, यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः, तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाध्यवसायी शाब्दः प्रत्ययः' इति, तत्र भिन्नेष्वभेदाध्यवसायित्वलक्षणो हेतुरसिद्धः "भेदेस्व(ष्व)भेदाध्यवसायित्वस्य तत्रानुपपत्तेः। न च सामान्यस्याभिन्नस्य वस्तुरूपस्याभावाद्यासिद्धता हेतोः, 'गौर्गौः' इत्यबाधितप्रत्ययविषयत्वेन तस्याभावासिद्धेः। अथाबाधितप्रत्ययविषयस्यापि तस्याभावस्तर्हि विशेषस्याप्यभावप्रसक्तिः, तथाभूतप्रत्ययविषयत्वव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्य तत्राप्यभावात्। यथा हि पुरोव्यवस्थितगोवर्गे व्यावृत्ताकारा बुद्धिरुपजायमाना संलक्ष्यते तथा 'गौर्गौः' इत्यनुगताकारेणाप्युपजायमाना सैव लक्ष्यते। न चानुगतव्यावृत्ताकारा बुद्धिर्द्व्यात्मकवस्तुव्यतिरेकेण घटते, अबाधितप्रत्ययस्य विषयव्यतिरेकेणापि सद्भावाभ्युपगमे ततो वस्तुव्यवस्थाऽभावप्रसक्तेः। न चानुगताकारत्वं बुद्धेर्बाध्यत इति वक्तुं युक्तम्, सर्वत्र देशादावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूताकारव्यवहारहेतोर्दर्शनात्। अतो व्यावृत्ताकारानुभवांशाऽनधिगतमनुगतमाकारमवभासयन्त्यक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यबाधितरूपा बुद्धिरनुभूयमानाऽनुगताकारं वस्तुभूतं सामान्यं व्यवस्थापयति।

न च शावलेयादिप्रतिनियतव्यक्तिरूपविवेकेन साधारणरूपस्यापरस्य भेदेनाप्रतिभासनाद् व्यक्तिरूपाद् भिन्नमभिन्नं वा सामान्यं नाभ्युपगन्तुं युक्तमिति शक्यं वक्तुम्, यतः समानदेशसमानेन्द्रियग्राह्याणामपि वाताऽऽतप-घट-पटादीनां प्रतिभासभेदोऽनापरं भेदव्यवस्थापकम्; स च शावलेयादिव्यक्ति-जात्योरपि समस्ति, शावलेयादिव्यक्तिप्रतिभासाभावेऽपि बाहुलेयादिव्यक्तिप्रतिभासे 'गौर्गौः' इति साधारणावभासस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्य संवेदनात्। एकान्ततो व्यक्त्यभेदे तु सामान्यस्य शावलेयादिव्यक्तिस्वरूपस्येव तदभिन्नसाधारणरूपस्यापि बाहुलेयादिव्यक्त्यन्तरे प्रतिभासो न स्यात्, अस्ति च व्यक्त्यन्तरेऽपि 'गौर्गौः' इति साधारणरूपानुभा(भ)वः अतः कथं न भिन्नसामान्यसद्भावः?

---

१–र्थाव्यव–वा० बा०। २–त्यन्योपो–वि०। ३–मार्थस्तु भा० मां०। ४ तत्सत्संस्प–आ०। ५–स्पर्शतोवे–वा० बा०। ६–णा–वा० बा०। ७–दपि सं–वा० बा०। ८–स्यास्थित्वात् प्रा–भां० मां०। स्यार्थत्वा प्रा–वा० बा०। ९ केशान्दुकादे–वा० बा० हा०। केशादुकादे–आ०। केशाण्डकादे–भां० मां०। १०–न्यर्थित्वे–भा० मां० वा० बा० विना। ११ भ्रान्तेः भां० मा० विना। १२–त्वान्नान्यथा प्रति–वा० बा०। –त्वान्न प्रति–वि०। १३–स्तथा वा० बा०। १४ पृ० १७३ पं० १३। १५ पृ० १७४ पं० ९। १६ 'भिन्नेष्व' वि० सं०। १७ न वा सा–हा०। न चासा–वि०। १८–स्यापि सि–वि०। १९–स्याभा–भां० मां० वा० बा० विना। "विशेषस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः"–प्रमेयक० पृ० १३६ द्वि० पं० १०। २०–स्थिते गो–भां० मां०। २१ वृत्त्याका–वा० बा०। २२–भूतस्य व्यव–भां० मां०। "सर्वत्र देशाद्यावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूतव्यवहारहेतोरुपलम्भात्"– प्रमेयक० पृ० १३६ द्वि० प० ११। २३–भूतसा–वि०। "वस्तुभूतं सामान्यं"–प्रमेयक० पृ० १३६ द्वि० पं० १२। २४ सामान्यदे–वा० बा०। २५–दोनापरभेद–हा० वि०। २६–क्ति–जात्यो–मां०। "स च सामान्य–विशेषयोरप्यस्ति"–प्रमेयक० पृ० १३७ प्र० पं० २। २७–वे बाहु–वि०। २८–स्य साध–भां० मां०। २९–न्तरे गौ–हा०।

न च व्यक्तिदर्शनवेलायां स्वेन वपुषा बुद्धिग्राह्याकारतया प्रतिपदमवतरन्ती जातिर्नाभाति व्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्य बहिर्ग्राह्यावभासस्याभावादिति वक्तुं शक्यम्, व्यक्त्याकारेऽप्यस्य समानत्वात्। न च बुद्धिरेव 'गौर्गौः' इति समानाकारा बहिः साधारणनिमित्तनिरपेक्षा प्रतिभाति, तथाभ्युपगमे प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्याः प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। न चासाधारणा व्यक्तय एव तद्बुद्धिनिमित्तम्, व्यक्तीनां भेदरूपतयाऽविशिष्टत्वात् कर्कादिव्यक्तीनामपि 'गौर्गौः' इति बुद्धिनिमित्तत्वापत्तेः। न च व्यक्तीनां भेदाऽविशेषेऽपि यास्वेव 'गौर्गौः' इति बुद्धिरुपजायमाना समुपलभ्यते ता एव तामुपजनयितुं प्रभवन्ति, यथा यास्वेवं गुडूच्यादिष्वोषधिषु भेदाविशेषेऽपि ज्वरादिशमनलक्षणं कार्यमुपलभ्यते ता एव तन्निमित्तं नान्या इति वक्तुं युक्तम्, साधारणनिमित्तव्यतिरेकेणापि देशकालादिनियतसाधारणप्रत्ययस्य तत्रोत्पत्त्यभ्युपगमेऽसाधारणप्रत्ययस्यापि तन्निमित्तमन्तरेणापि तासूत्पत्तिप्रसक्तेर्न स्वलक्षणस्यापि व्यवस्था स्यात्। तथाहि—परेणाप्येवं वक्तुं शक्यम्–अभेदाविशेषेऽप्येकमेव ब्रह्मादिस्वरूपं प्रतिनियतानेकनीलाद्याभासनिबन्धनं भविष्यतीति किमपररूपादिस्वलक्षणपरिकल्पनया? अथ रूप-रसाद्याभासज्ञानस्य तद्रूपस्वलक्षणमन्तरेणापि सम्भवेऽपरस्यार्थक्रियानिबन्धनार्थव्यवस्थापकस्याभावान्न प्रवृत्त्यादिलक्षणो व्यवहार इति स्वलक्षणाकारज्ञानस्य तन्निमित्तत्वेन तद्व्यवस्थापकत्वम्, एतत् सदृशाकारज्ञानेऽपि समानम्। नहि सामान्यमन्तरेणापि भिन्नानामेककार्यकर्तृत्वं न सम्भवतीति तत् परिकल्प्यते किन्तु समानाकारप्रत्ययोऽबाधितरूपः तथाभूतविषयव्यतिरेकेणोपजायमानो मिथ्यारूपः प्राप्नोतीति विशेषप्रत्ययस्येवाऽबाधितरूपस्य समानप्रत्ययस्यापि सामान्यमालम्बनभूतं निमित्तमभ्युपगन्तव्यमित्यस्ति वस्तुभूतं सामान्यम्; अन्यथा समानप्रतिभासायोगात्। एककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायादेकप्रतिभास इति चेत्, वाह-दोहादिकार्यस्य प्रतिव्यक्तिभेदात् कथमभेदः कार्याणाम्? इति तत्राप्यपरैककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायेऽनवस्थाप्रसक्तेः, एककार्यतया भावानामप्रतीतेः कथमभेदाध्यवसायादेकः प्रतिभासः येनैककार्यकारित्वम् अतत्कारिपदार्थविवेको वा सामान्यं तद्व्यवहारनिबन्धनं स्यात्? एकसाधनतयोऽभेदोऽप्यत एव न सामान्यम्, वाह-दोहादेरेकार्थत्वाभावेऽप्येकविज्ञानजनकत्वेनाभेदाध्यवसाये तद्विज्ञानस्यापि प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वात्। एकाकारपरामर्शज्ञानजनकत्वेनाभेदाध्यवसाये तत्परामर्शस्यापि प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वात् अपरपरामर्शजनकत्वेनाभेदाध्यवसायेऽनवस्था। अथैकाकारपरामर्शज्ञानस्य स्वत एवाभेदाध्यवसायरूपत्वादेकत्वमिति नानवस्था, तज्जनकानुभवानां त्वेकाकारपरामर्शज्ञानहेतुत्वादेकत्वम् अनुभवनिमित्तव्यक्तीनां च तथाभूतानुभवजनकत्वेनोपचरितं तत्। नन्वेवं व्यक्तीनामेवाव्यवहितैकाकारपरामर्शहेतुत्वं वस्तुभूतं सामान्यमभ्युपगन्तव्यम् किं पारम्पर्यपरिश्रमेण? यथा हि प्रत्यासत्त्या प्रतिव्यक्ति भिन्नानुभवा एकं परामर्शज्ञानं जनयन्ति तथैव प्रतिनियता व्यक्तयः स्वगतसमानाकारार्थकत्वेन तद् जनयिष्यन्तीति न कश्चिद् दोषः। यथा ह्यनुभवज्ञानं भिन्नमपि परामर्शज्ञानं प्रतिनियतैकाकारतया

1 व्यक्तिदर्शनवपुषा वि०। २–लायां स्वेन वा० वा०।–लायास्तेन आ० हा०। ३ बुद्धिग्रा– वा० बा० विना। ४ "न चानुगतप्रतिभासो बहि साधारणनिमित्तनिरपेक्षो घटते प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्य प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्"–प्रमेयक० पृ० १३७ प्र० प० ८। ५ "न चाऽसाधारणा व्यक्तय एव तन्निमित्तम्, तासां भेदरूपतयाऽविशिष्टत्वात्"–प्रमेयक० पृ० १३७ प्र० पं० ९। ६ "कर्क श्वेताश्व"–प्रमेयक० टि० पृ० १३७ प्र० प० १४। ७ न व्य–आ० हा०। ८–दादिवि–आ० हा०। ९–च गडूच्या–हा० वि०। १०–च्याद्यौष– आ०। ११ तास्वत्प–वा० बा०। १२–च बुद्ध्यादि–मा० मा० वा० बा० विना। "अभेदाविशेषेऽप्येकमेव ब्रह्मादिरूपं प्रतिनियतानेकनीलाद्याभासनिबन्धनम्"–प्रमेयक० पृ० १३७ द्वि० पं० ३। १३–म्भवे पर–आ० हा० वि०। १४–नाधिकार–आ० हा० वि०। १५–यो बाधि–आ० मा०। १६–रूपतथा–हा० वि०। १७–भूत-निमि–मा०। १८–स्यतिवस्तु–वा० बा०। १९–तत्कापि प–आ० वि० वा० बा०। तत्कापि प–हा०। तत्कोपि प–कां०। २०–या भेदो–हा० वि०। २१–कात्वा–वि०। २२–पि परिव्य–भा० मा०। २३–नुभावानां वा० बा० विना। २४ यथा हि मा०। २५–त्यासत्या प्र–आ० हा० वि०। २६–ज्ञा एव भवा– वा० बा०। २७ स्वगतं समानाकारार्थकत्वेन भा० मा० विना। २८–नाधिकारा–वा० बा०। २९–ष्य-तीति भा० मा०। ३० कारविल–भा० मा० वा० हा० विना।

विलक्षणं चिद्रूपतया तु समानं जनयदपि[1] समानासमानजनकाकारद्वयाध्यासितमप्येकम् तथा व्यक्तयोऽपि समानासमानाकारा[2]ध्यवसायिप्रत्ययजनकं रूपद्वयं बिभ्राणा नैकरूपतया विरोत्स्यन्त इति।

{अथ सामान्यस्यानुगताकारज्ञानजनकत्वैकस्वभावत्वात् सर्वदा तज्ज्ञानप्रसक्तिः अनपेक्ष[3]स्यापेक्षाऽयोगात्, सहकार्यपेक्षजनकत्वे वा सहकारिकृतोपकारस्य ततोऽभेदे[4] तद्वत् कार्यत्वेनाऽनित्यताप्रसक्तिः, भेदे वा[5] सम्बन्धासिद्धिः। एककार्यकर्तृत्वलक्षणमपि सहकारित्वं नित्यानामसम्भवि तदवस्थाभाविनः स्वभावस्य प्राग् ऊर्ध्वं च तदवस्थानसद्भावात्, अभावे वाऽनित्यत्वम्[6] स्वभावभेदलक्षणत्वात् तस्य। अजनकस्वभावत्वेन[7] न कदाचिदपि तज्ज्ञानम्, यो ह्यजनकस्वभावः सोऽन्यसहितोऽपि[8] न तद् जनयति, यथा शालिबीजं क्षित्याद्यविकलसामग्रीयुक्तमपि कोद्रवाङ्कुरम्, अजनकस्वभावं[9] चेत् सामान्यम् परामर्शज्ञाने न प्रतिभासेत जनकाकारार्पकस्यैव ज्ञानविषयत्वात्, ज्ञानलक्षणमपि कार्यमनुपजनयदवस्तु स्यात् अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वाद्[10] वस्तुनः। तदेवं सामान्यस्य नित्यत्वेन[11] तद्विषयस्य ज्ञानस्य[12] बाध्यमानतयाऽबाधित[13]ज्ञानविषयत्वमसिद्धम्।

यथा[14], यदि तत् सर्वसर्वगतमभ्युपगम्यते तदा व्यक्त्यन्तरालेऽप्युपलम्भप्रसक्तिः[15], न चाभिव्यक्तिहेतुव्यक्त्यभावात् तत्रानुपलम्भः प्रथमव्यक्तिप्रतिभासवेलायां तदभिव्यक्तस्य सामान्यस्य ग्रहणेऽभेदात् तस्य सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तत्वात्; अन्यथाऽभिव्यक्तानभिव्यक्तस्वभावभेदादनेकत्वप्रसक्तेरसामान्यरूपत्वापत्तितः तदन्तरालेऽवश्यंभाव्युपलम्भ इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेनाभ्युपगतस्य तत्रानुपलम्भादसत्त्वमिति न सर्वसर्वगतं[16] तत्। अथ[17] स्वव्यक्तिसर्वगतं तदिति नायं दोषः, नन्वेवं प्रतिव्यक्ति तस्य परिसमाप्तत्वाद् व्यक्तिस्वरूपवत् तस्य भेद एव, अभेदे एकव्यक्तावभिव्यक्तस्य ग्रहणेऽन्यव्यक्तिस्थस्यापि तस्य तत्स्वरूपत्वात् प्रतिभासे[18]—तदाधारप्रतिभासमन्तरेण तदाधेयताप्रतिभासस्यानुपपत्तेः—सर्वव्यक्तीनां युगपत् प्रतिभासप्रसक्तिः।

कृत्स्नैकदेशवृत्तिविकल्पानुपपत्तेश्चासत्त्वम्[19]। किञ्च, (१) एकव्यक्तिसमवेतं[20] तद् अभिनवोत्पन्नव्यक्तौ निष्क्रियत्वान्न याति (२) न च तद् व्यक्त्युत्पत्तेः प्राक् तत्रासीत् व्यक्तिरहितस्य तस्यावस्थानानभ्युपगमात् व्यक्त्युत्पत्त्युत्तरकालं[21] तु व्यक्त्यन्तरादनागतस्यापि[22] तस्य तत्र सद्भावः सामान्य-

---

१-पि समानजन–आ० हा०। २-कारव्यव–वा० बा०। ३-नपेक्ष्यस्या–आ० वि०। ४ ततोऽभेदो तत्कार्य–वा० बा०। ततोऽभेदो तद्वत् कार्य–आ० हा० वि०। 'ततोऽभेदो तदभेदात् कार्य'–वि० सं०। ५ वा असम्बन्धा-वा० बा०। वा ससम्बन्धा–आ०। ६ "अभावे चाऽनित्यत्वम्"–प्रमेयक० पृ० १३८ प्र० पं० ७। ७ "कार्याजननस्वभावत्वे वाऽस्य सर्वदा कार्याजनकत्वप्रसङ्ग–" प्रमेयक० पृ० १३८ प्र० पं० ८। ८–न्यऽहितो–आ० हा० वि०।–'न्यसंनिहितो'–वि० स०। ९–भाव चेत् सा–भां०। भाववत् सा–आ० हा० वि० बा० वा०। १०–कारिलक्ष–भां० मा० विना। "अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वाद् वस्तुन"–प्रमेयक० पृ० १३८ प्र० पं० ९। ११–त्यत्वे तद्वि–भा० मा०। १२–स्य वाधमान–आ० हा० वि०।–स्य वाच्यमान–वा० बा०। १३–याऽव्यधित–वा० वा०।–याऽव्यथित–आ० वि०।–या व्यपि ज्ञा–हा०।

१४ "सर्वत्र वृत्तिभाजो वा भवेयुः परजातिवत्" ॥ तत्त्वस० का० ८०५ पृ० २६०।

"तथा तत् सर्वसर्वगतं स्वव्यक्तिसर्वगतं वा"–प्रमेयक० पृ० १३८ प्र० पं० ९।

१५ "स्वाश्रयेन्द्रिययोगादेरेकस्मिंस्तद्ग्रहे सति। सर्वत्रैवोपलभ्येरन्नतत्स्वरूपाविभागतः" ॥

ज्ञातादव्यतिरिक्तं चेत् तस्यापि ग्रहणं भवेत्। तद्वदेव न वा तस्य ग्रहणं भेद एव वा" ॥

तत्त्वस० का० ८०८–८०९ पृ० २६१।

१६–त्तं सर्व तत् भा० मा०।

१७ "घटादिजातिभेदाश्च स्वाश्रयेष्वेव भाविनः"। तत्त्वसं० का० ८०५ पृ० २६०।

१८–भासत–आ०।

१९ "संयोगदूषणे सर्वं यदेवोक्तं प्रबाधकम्" ॥ तत्त्वसं० का० ८११ पृ० २६२।

"एकस्यानेकवृत्तिश्च न युक्तेति प्रबाधकम्" ॥ तत्त्वस० का० ६७४ पृ० २२३।

२० "तत्र देशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथं नु ते। दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते" ॥

"न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिता। तत्र प्रागविभुत्वेन न चाऽऽयान्त्यन्यतोऽक्रिया" ॥

तत्त्वसं० का० ८०६–८०७ पृ० २६०–२६१

२१ व्यक्त्युत्तरका–हा०। २२–पि तत्र तत्र स–वि०।

शून्याया व्यक्तेरसत्त्वाभ्युपगमात् (३) न चांशवत् तत् एकेनांशेन प्रागुत्पन्नव्यक्तिव्यवस्थितमन्य-परेणांशेनोत्पद्यमानव्यक्तिसम्बन्धमनुभवति (४) न च निरंशत्वेऽपि प्राक्तनाधारपरित्यागेनाधारान्तरे वृत्तिमत् तत्परित्यक्तव्यक्तेरसत्त्वप्रसङ्गात् (५) न च यत्र प्रदेशे व्यक्तिर्व्यवस्थिता तद्देशेन तस्य सम्बन्धस्तद्व्यक्त्यानुसम्बन्ध्यते इत्याद्यनेकबाधकसद्भावा(वाद्) व्यक्तिभिन्नसामान्यपक्षे कथमबाधितप्रत्ययविषयत्वात् तत्सत्त्वम् ।

यैरपि—

"कस्मात् सास्नादिमत्त्वेवं गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यमस्य कस्मात् चेत् स्वभावादिति गम्यताम्" ॥ [श्लो०वा०आकृ०श्लो०४७]

इति वचनाद् व्यक्तिस्वभावं सामान्यमभ्युपगतं तेषामपि व्यक्तिवत् तस्याऽसाधारणरूपत्वं व्यक्त्युदय-विनाशयोश्च तद्योगित्वं प्रसक्तम् इति न सामान्यरूपता । अथाऽसाधारणत्वमुत्पादविनाशयोर्गित्वं च तस्य नाभ्युपगम्यते तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो व्यक्तिर्भ्यस्तस्य भेदप्रसक्तिः । आह च—

"तादात्म्यं चेद् मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता ।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वत्त्वान न्वयो न किम्" (?) ॥
"व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीद् न च तद्देशे सा तया सङ्गता कथम्" ॥
"व्यक्तिनाशेन चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।
तत् शून्ये न स्थिता देशे सा जातिः केति कथ्यताम्" ॥
"व्यक्ति(क्ते)र्जात्यादियोगेऽपि यदि जातेः स नेष्यते ।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम्" ॥ [ ]

अत एव—

"सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् तस्य वृत्तेर्नियामकम् ।
गोत्वेनापि विना कस्माद् गोबुद्धिर्न नियम्यते" ॥
"यथा तुल्येऽपि भिन्नत्वे केषुचिद् वृत्त्यवृत्तिता ।
गोत्वादेरनिमित्तोऽपि तथा बुद्धेर्भविष्यति" ॥ [श्लो० वा० आकृ० श्लो० ३५-३६]

इति पूर्वपक्षयित्वा यदुक्तं कुमारिलेन—

"विषयेण हि बुद्धीनां विना नोत्पत्तिरिष्यते ।
विशेषादन्यदिच्छन्ति सामान्यं तेन तद् ध्रुवम्" ॥
"ता हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषयादृते ।
न त्वन्येन विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति" ॥ [श्लो०वा०आकृ०श्लो०३७-३८] इति,

---

१ नवांश-वा० बा० । २-किसंचरम-वा० बा० । ३-धाराप-भा० मा० विना । "किन्न पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत् तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा? न तावत् परित्यागेन प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात् । नाप्यपरित्यागेन अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात् । न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसङ्क्रान्तिर्दृष्टा"-प्रमेयक० पृ० १३८ द्वि० पं० ६ । ४ यत्र-भा० मा० । यत्र यत्र प्र-वा० बा० । ५-नुसंबध्य-आ० भा० ।-नुबन्ध्य-वा० बा० । ६ "च"-श्लो० वा० । ७-स्वभावसा-हा० । ८-त्वं तस्य आ० । ९-भ्यस्तद्भेद-आ० । १०-ष्टस्तद्वत्वान न्वयो न किम् वा० बा० ।-ष्टस्तद्वत्वानन्वयो न किम् आ० । -ष्टस्तद्वत्वात्तन्वयो न किम् हा० ।-"ष्टस्तद्वत्वानन्वयो न किम्"-प्रमेयक० पृ० १३८ द्वि० प० १४ । 'तद्वत्' "व्यक्तिवत्" 'अनन्वय' "असाधारणता" न "किन्तु स्यादेव"-प्रमेयक० टि० पृ० १३८ द्वि० प० १९ । ११-ताद्याश्च-हा० वि० । १२ नवा वि० । १३ "व्यक्तेर्जात्यादियोगेऽपि"-प्रमेयक० पृ० १३९ प्र० पं० २ । "जातिः जन्म" "आदिना विनाशग्रहणम्" स "जात्यादियोग" नेष्यते "तर्हीति शेष" तादात्म्य "जातिव्यक्त्यो" अनुपप्लुतचेतसाम् "अभ्रान्तचेतसाम्"-प्रमेयक० टि० पृ० १३९ प्र० पं० १३ । १४ यद्यजा-भा० मा० विना । १५ वृत्तिर्नि-भा० मा० । १६-बुद्धि न यिम्यते वा० बा० ।-बुद्धिनय गम्यते आ० हा० वि० ।-'बुद्धिर्न च गम्यते' वि० स० । १७ "वृत्त्यपेक्षिता"-श्लो० वा० । "वृत्त्यवृत्तिता" इति तु तत्र पाठान्तरत्वेन गृहीतम् । १८-"तेऽपि" -श्लो० वा० । १९ बुद्धेर्भविष्यति हा० वि० । बुद्धि भविष्यति वा० बा० । २०-ति निर-आ० हा० वि० ।

तन्निरस्तम् बाधकप्रत्ययनिबन्धनस्य मिथ्यात्वस्य सामान्यबुद्धौ प्रतिपादितत्वात् । असदेतत्; यतो यदि नित्यम् व्यापकं च व्यक्तिभ्य एकान्ततो भिन्नमभिन्नं वा सामान्यमभ्युपगम्येत तदा स्याद् यथोक्तबा[1]धकावकाशः यदा तु सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यम्, विसदृ[2]शपरिणतिलक्षणस्तु विशेषः तदात्मकं चैकं वस्तु तदाऽत्यन्तभेदाभेदपक्षभाविदोषानुषङ्गोऽनास्पद एव ।

अथ[3] साधारणासाधारणरूपस्यैकत्वविरोधोऽत्रापि बाधकम् । तथाहि—यद् यदाकारपरिहारा[4]वस्थितस्वरूपं तत् ततो भिन्नम्, यथा घटरूपपरिहारावस्थितस्वरू[5]पः पटः, असाधारणरूपपरिहारावस्थितं च साधार[6]णं रूपमिति कुतस्तयोरभेदः ? तथाप्यभेदे न किञ्चिदपि भिन्नं स्यात् अन्यस्य भेदव्यवस्थाहेतोरभावात् । क[7]थञ्चिद्भेदाभेदाभ्युपगमेऽपि तयोर्येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव ये[8]न चाभेदस्तेनाप्यभेद एव, नैकं साधारणासाधारणधर्मद्वयात्मकं वस्तु, विरोधात् । अथ येन रूपेण भेदस्तेनापि नैकान्तेन भेद एव किं तर्हि ? भेदा[9]भेदः । ननु तत्रापि 'येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव' इत्यादिवचनादनवस्थाप्रसक्तिरित्यादि[10] न कथं बाधकम् ? असदेतत्; समानासमानाकारतया बहिः शाबलेया[11]देः परिस्फुटप्रतिपत्तौ प्रतिभासमानस्यैकत्वेन विरोधासिद्धेः; अन्यथा ग्राह्य-ग्राहक-संवि[12]त्त्रितयाध्यासितं कथमेकं संवेदनं स्या[13]त्, चित्रज्ञानं वा परस्परविरुद्धनीलाद्यनेकाकारं कथमेकमभ्युपगम्येत येनेदं वचः शोभेत-"चित्रप्रतिभासाऽप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्" [ ] इति ? अथ—"किं स्यात् सा चित्रतै[14]कस्यां न स्यात् तस्यां मतावपि" [ ] इति वचनात् साप्यनेकाकारैका नेष्यते इति नायं दोषः । नन्वेवमभ्युपगच्छता ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ता साऽभ्युपगता भवति; स्वसंवेदने च सा यदि तथैवावभाति तदा ग्राह्यग्राहकाकारप्रतिभासः क्वचिदपि ज्ञाने न प्रतिभासते इत्यप्रवृत्तिकं जगत् स्यात् । अथ ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तमात्मानं प्रच्छाद्य [15]संवित्तिरियं स्वसंवेदने चैतन्यलक्षणं स्वभावमादर्शयति कथं तर्ह्यनेकान्तं सा प्रतिक्षिपेत्[16] ? प्रतिभासमानाप्रतिभासमानयोश्च चैतन्य-ग्राह्यग्राहकाकारविवेकलक्षणयोर्धर्मयोरविरोधं च कथं न प्रकाशयेत् ? अपि च, द्विविधो वो विरोधः-सहानवस्थानलक्षणः, परस्परं परिहारस्थितिलक्षणश्च । स च द्विविधोऽप्येकोपलम्भेऽपरानुपलम्भा[17]द् व्यवस्थाप्यते, साधारणासाधारणाकारयोस्त्वध्यक्षेण भेदाभेदात्मतया प्रतीतेः कथं विरोधः ? तद्रूपाऽतद्रूपाकारते हि तयोर्भेदाभेदौ, तथावभासनमेव च तयोर्भेदाभेदग्रहणमिति कथं विरोधाऽनवस्थानादिदूषणावका[18]शः ? न च तयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणता सम्भवति अव्यवच्छेदरूपतया प्रत्यक्षे प्रति[19]भासनात् । न च सामान्य-विशेषयोराकारनाना[20]त्वेऽप्यनानात्वेऽन्यत्राप्यन्यतोऽन्यस्यान्यत्वं न स्यात् इति वक्तुं युक्तम्, सामान्य-विशेषवत् तादात्म्येना[21]न्यत्र प्रत्यक्षतोऽग्रहणात् ग्रहणे वा भवत्येवाकारनानात्वेऽपि नानात्वाभावः । न चाकारनानात्वेऽपि सामान्य-विशेषयोरभेदप्रतिपत्तिर्मिथ्या, बाधकाभावात् । न च 'स्वभावभेदात् सामान्य-विशेषयोर्घट-पटादिवद् भेद एव' इत्यनुमानं बाधकं[22] प्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्षेण बाधितत्वादत्रानुमानाप्रवृत्तेः । अथानुमानविषये न प्रमाणान्तरबाधा; नन्वेवं ध्वनेरश्रावणत्वेऽपि साध्ये सत्त्वादेर्यथोक्तलक्षणतया प्रमाणान्तराबाधितत्वेन [23]प्रतिपत्तिः स्यात्, सपक्षे घटादौ सत्त्वाऽश्रावणत्वयो[24]स्तादात्म्यस्याध्यक्षेणाधिगमात् । अथान्तर्व्याप्त्यभावान्नानयोर्व्याप्यव्याप[25]कभावः तत् प्रकृतानुमानेऽपि तुल्यम् । पक्षस्याध्यक्षविरुद्धत्वादश्रावणत्वानुमानाप्रवृत्तिरिति [26]चेत्, न तर्हि स्वभावभेदानुमानेऽपि

---

१-धकावशो य-हा० वि० ।-धकवशो य-वा० बा० । २-सदृशप-मा० वा० बा० । ३ अथ साधारणरूपस्यैक-मा० मां० विना । ४-रावस्थित-मां० मा० । ५-रूपप-हा० वि० । ६-रणरूप-आ० हा० वि० । ७ कथञ्चिद्भेदाभ्युप-मा० मां० हा० विना । ८-न चाऽभे-आ० । ९-दाभेदौ हा० वि० । १०-दि कथं न बाध-मां० मां० ।-दि न कथं तर्हि बाध-वि० । ११-यादिपरि-मा० मां० । १२-त्तितृतया-हा० वि० । -त्तित्वतया-भां० ।-त्तित्वंतया-भा० । १३-स्याच्चित्तज्ञा-वा० बा० । स्या त्रिज्ञा-हा० वि० । १४-कस्या न भां० । १५ संवृत्ति-मा० मा० । संवंत्ति-वा० बा० । १६-त् प्रतिभासमानयोश्च आ० हा० वि० । १७-म्भाद् वावस्थाप्यते मां० ।-म्भाद्व्यवस्थाप्यते हा० वि० ।-म्भाद्व्यवस्थाप्यते आ० । १८-शः क च हा० ।-शः क्व च वि० । १९-भासन्न सामा-हा० वि० ।-भासन्न च सामा-आ० ।-भासन्ना य, सामा—वा० बा० । २०-त्वेऽन्यत्राऽप्यन्यतो-आ० हा० ।-त्वे नानात्वेऽन्यत्रा—वि० । २१-नात्र,मा०, मा० विना । २२ कं पक्षस्य मा० मा० विना । २३ प्रवृत्तिः स्यात् मा० मा० । २४-त्वयोस्तयोस्तदा-स्म्य-आ० । २५-पकाभावः मां० मा० विना । २६ चे त्तर्हि मां० मा० विना ।

प्रमाणान्तरबाधाविरहः, लक्षणयुक्ते बाधासम्भवेऽन्यत्रापि तत्सम्भवाद्धेतोरसाध्येन श्रावणत्वेन विरोधाभावात् संशयितव्यतिरेकस्यायथोक्तत्वेऽन्यत्रापि कथञ्चित् स्वभावभेदस्याभेदेन(ना)विरोधात् समानमुत्पश्यामः। सर्वथा[1] स्वभावभेदश्च[2] चाभेदविरोधिनो दृष्टान्तेऽप्यभावाद् घटादेरपि केनचिदाकारेण सदृशत्वेनाभेदात्। यदि पुनः 'तादात्म्यरहिताऽत्यन्तस्वभावभेदात्' इति हेत्वर्थो विवक्षितस्तदाऽसिद्धो हेतुः, सामान्य-विशेषयोस्तादात्म्येनापि प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। न च प्रकृतानुमानबाधनात् तत्तादात्म्यप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति[4] नासिद्धो हेतुः इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि–प्रकृतानुमानस्य प्रवृत्तौ तन्मिथ्यात्वेन पक्षधर्मतानिश्चयः[5], तन्निश्चये चानुमानस्य प्रवृत्तिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। प्रमाणान्तरेण तद्बाधने[6] प्रकृतसाधनवैफल्यम्, तत एव तद्भेदसिद्धेः[7]। 'सामान्य-विशेषयोर्भेद एव, भिन्नयोगक्षेमत्वात्, हिमवद्-विन्ध्ययोरिति(रिव)'[8] इत्येतदपि साधनं प्राक्प्रदर्शितसाधनदोषं[9] नातिवर्तते इत्ययुक्तमेव, भिन्नयोगक्षेमत्वस्य[10] विपक्षेण साक्षादविरोधिनोऽनिश्चितव्यतिरेकस्य भेदेन व्याप्त्यसिद्धेश्च[11]। अथाऽसाध्यस्य साधनविरुद्धैकयोगक्षेमत्वेव्याप्तत्वाद्[12] विरोधः पारम्पर्येण सिद्ध एव, भवेदेतत्[13] यदि तत्रापि व्याप्यस्य व्यापकविरोधिना विरोधः सिद्ध्येत्[14]; स चासिद्धः, विरोधद्वयस्याप्यसिद्धेः। भिन्नयोगक्षेमस्याप्यभेदाभ्युपगमे भेदः क्वचिदपि न सिद्ध्येदिति विश्वमेकं स्यादिति चेत्, स्यादेतत् यद्याभ्यां भेदाभेदव्यवहारव्यवस्था भवेत्; सा तु भेदाभेदप्रतिभासवशादिति सामान्य-विशेषयोरसहोत्पादविनाशेऽप्यभेदप्रतिभासादभेदो न[15] विरुद्ध[16] इति कथं न वस्तुभूतसामान्यसद्भावः? न च यदेव शावलेयव्यक्तौ सदृशपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदेव बाहुलेयव्यक्तावपि[17], व्यापकस्यैकस्य सर्वगोव्यक्त्यनुयायिनस्तस्यानभ्युपगमात्, तदनभ्युपगमश्च शावलेयादिव्यक्तीनां बाहुलेयादिव्यक्तिसदृशतया[18] प्रतिभासेऽप्येकानुगतसामान्यक्रोडीकृतत्वेनाप्रतिभासनात्[19]। परेणापि हि–

"समाना[20] इति तद्ग्रहात्" [ ]

इति ब्रुवता स्वहेतुभ्य एव केचिच्छावलेयादिव्यक्तिविशेषाः सदृशा उत्पन्ना इत्यभ्युपगतमेव[22]। केवलं[23] सदृशपरिणतिलक्षणस्तासां धर्मः कथञ्चिदभिन्नो वस्तुभूतोऽभ्युपगन्तव्यः[24]। अन्यथाऽपारमार्थिकविजातीयव्यावृत्तिनिबन्धनत्वे[25][26] सादृश्यपरिणतेः सजातीयव्यावृत्तिनिबन्धनस्याप्यत्यन्तभिन्नरूपस्यापारमार्थिकत्वात् तत्परिणतिव्यतिरेकेण[27] चापरस्य[28] स्वलक्षणस्यासम्भवात् तदाकारज्ञानस्वलक्षणस्याप्यभाव[29] इति[30] सर्वशून्यताप्रसक्तिः। न च 'सैवास्तु' इति वक्तुं युक्तम्, अप्रमाणिकायास्तस्या[31] अप्यनभ्युपगमनीयत्वात्। तस्मात् समानासमानपरिणामात्मनः शावलेयादिवस्तुनोऽबाधिताकारप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनाद्[32] विशेषवन्न सामान्याभावः। एतेन–

"सर्वस्योभयरूपत्वे[33] तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति"॥
"अथास्त्यतिशयः कश्चिद् येन भेदेन वर्तते।
स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं[34] परम्"॥ [ ]

इत्यादि यदुक्तं धर्मकीर्तिना तदपि पराकृतं द्रष्टव्यम्। न ह्यस्माभिर्दध्युष्ट्रयोरेकं तिर्यक् सामान्यं वस्तुत्वादिकं व्यक्त्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते[35], यादृग्भूतं तु प्रतिव्यक्ति

१–व भेदस्याऽभेदेनावरोधात् भा० वा०।–व भेदेन वि–आ० हा० वि०। २–वस्वभा–हा० वि०। ३–स्य चाभे–हा० वा० बा०। ४–तीतिभ्रा–भा० मा० विना। ५ पक्षध–भा० मा०। पक्षे ध–आ०। ६–द्बाधके प्र–भा० मा० विना। ७ एतद्भेद–आ० हा० वि०। एवद्भेद–वा० बा०। ८–रित्येतद–भां० मा०। 'रिवेत्येतद'–वि० स०। ९–धनं दोषं भा० मा०। १०–मस्य भा० मा०। ११ व्याप्यसि–भा० मां०। १२–त्वव्यापत्वा–भा०। १३–त य–भां०। १४ सिद्ध्येत स भा० मा० विना। १५–नाशोप्य–आ० हा० वि०। १६ विद्धः मां०। १७–हुवलेय–मां०। १८–हुवलेया–मां०। १९–तत्वेन प्रति–भां० मा० विना। २० समान इति भा० मा०। २१–याः परादृशा–आ० हा० वि०। २२–गत के–भा० मा० विना। २३–व–लस–वि०। २४ वस्तूभू–भा०। २५–थापर–भां० मा० विना। २६–व्यावृत्तनि–आ०। २७–त्वे सदृशप–भा० मा०। २८–पस्य पा–वा० बा०। २९–ण वा–वा० बा०। ३०–ति शून्य–भा० मा० विना। ३१ अप्रमाणकाया–वा० बा०। अप्रामाणिकाया–वि०। ३२–भासाद् वि–आ० हा० वि०।–भानाद् वि–वा० बा०। ३३ श्लोक० पृ० १८ प० ६। ३४–भयप–हा० वि०। ३५–भूताभ–वा० बा०।

भिन्नं 'समानाः' इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यन्यत्र प्रेरितोऽन्यत्र खादनाय धावेत यद्युन्मत्तो न स्यात्। अत एव—

"वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि गीयते"। [ ]

न च निर्विकल्पकेऽक्षप्रभवे प्रत्यक्षे पुरोऽवस्थिततद्व्यक्तिद्वयप्रतिभासव्यतिरेकेण परो यथाव्यावर्णितस्वरूपः सामान्याकारः प्रतिभाति, नापि सविकल्पके 'गौर्गौः' इत्युल्लेखवति व्यक्तिस्वरूपं परिहृत्यान्यद्वासमानमन्तथाभिजल्पाकारमपहायान्यः सामान्यात्मा यथाव्याचर्णितस्वरूपः प्रतिभाति, न चान्यावभासमन्याकारार्थव्यवस्थापकं ज्ञानं तद् भवति अतिप्रसङ्गात्' इत्येतदपि निरस्तम्, अवर्णाकृत्याद्याकारव्यतिरेकेण सादृश्यपरिणामात्मनः सामान्यस्याक्षजप्रतिपत्तिविषयस्य व्यक्त्यात्मतया दाहाद्यर्थक्रियाकारिणोऽभ्युपगमात्। न च शाबलेयादेः सादृश्यं बाहुलेयाद्यपेक्षमिति तदप्रतीतौ तदपेक्षस्य तस्याप्यप्रतिपत्तिरिति वक्तुं शक्यम्, अशेषपदार्थवैलक्षण्यप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्। न च सर्वतो व्यावृत्तिः व्यावृत्तपदार्थस्वरूपमेवेति तत्प्रतिपत्तौ साऽपि प्रतीयते व्यावृत्त्या(वर्त्या)र्थप्रतिपत्तिमन्तरेणापीति वक्तव्यम्, सादृश्यप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्। अथ सजातीयविजातीयव्यावृत्तं निरंशं वस्तु तत्सामर्थ्या(र्थ्य)भाविनि च प्रत्यक्षे तत् तथैव प्रतिभाति, तदुत्तरकालभाविनस्त्ववस्तुसंस्पर्शिनो विकल्पाः व्यावर्त्यवस्तुवशविभिन्नव्यावृत्तिनिबन्धनात्(नान्) सामान्यभेदान् व्यावृत्ते वस्तुन्युपकल्पयन्तः समुपजायन्ते न तद्वशात् तद्व्यवस्था युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"सर्वेभावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः।
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः"॥
"तस्माद् यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः।
"जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः"॥ [ ] इत्यादि।

ननु 'स्वस्वभावव्यवस्थितेः' इत्येतस्य हेतोः स्वसाध्येन व्याप्तिः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, आहोस्विदनुमानेन? न तावदनुमानेन, प्रत्यक्षाविषयत्वेन सर्वभावानां धर्मिणोऽसिद्धेस्तदनुत्थानात्, व्याप्तिप्रसिद्धौ चानुमानं प्रवर्तते। न च साध्य-साधनयोः सर्वोपसंहारेण व्याप्तिरन्यतोऽनुमानात् सिद्ध्यति, तत्राप्यनुमानान्तरापेक्षणेनानवस्थाप्रसक्तेः। नापि प्रत्यक्षेण, तस्य सन्निहितविषयग्राहकत्वेन देशादिविप्रकृष्टाशेषपदार्थालम्बनत्वानुपपत्तेः। अथ पुरोऽवस्थितेषु भावेष्वक्षजप्रत्ययेन 'स्वस्वभा-

---

१ धावते-भा० मा०।
२ "वर्णाकृत्यक्षराकारशून्या जातिस्तु वर्ण्यते"-तत्त्वस० का० ७३९ पृ० २४३।
"वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि कथ्यते"-अपोहसि० पृ० १२ पं० ५।
३-ण पुरो भा० मां०। ४-रूपसा-वा० बा०। ५-था वर्णित-हा० वि०। ६-पः सामान्याकारः प्रति-भा० मा०। ७ इति यतदपि भा० मा०। ८-ण सदृशप-भा० मां० वा० मा० विना। ९ व्यक्तात्म-भा० मां० वा० बा०। १० तदप्रतिपत्तौ भां० मां०। तदप्रतीतौ तदापेक्षस्य तस्याप्यप्रतिपत्तौ तदापेक्षस्य वा० बा०। तत्प्रतीतौ आ०। ११ व्यावृत्तार्थ-वि०। व्यावगार्थ-वा० बा०। १२-रंशव-आ०। १३-स्त्वसंस्पर्शि-वा० बा० विना। १४-कल्प्याः भा० मां०। १५-वर्तिवस्तु-आ०। १६-दा व्या-भा० हा०। १७-वृत्तिव-आ०। १८-यतः स-आ० हा०। १९ न तत्तद्दशा-आ०। २० सर्वे भावे०। इदं पद्यद्वयम् अनेकान्तजयपताकाटीकायाम् "आह च" इत्युक्त्वा उद्धृतम्-पृ० ५२ पं० १४। अष्टसह० पृ० १७३ पं० ५। प्रमेयक० पृ० १४१ प्र० पं० ३। श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ५७८ प०१९। २१ उत्तरार्धमिदं "यदधिकृत्याह न्यायवादी" इत्युल्लिख्य व्याख्यातमनेकान्तजयपताकाटीकायाम् पृ० ३१५ प० ५। "न्यायवादी धर्मकीर्तिः" इत्यपि व्याख्यातं तत्रैव पृ० ३१५ पं० १५। २२-भावापर-भा० मा०। २३-न्धना जा-भां० मां०। "व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना। जातिभेदाः" इति श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० ५७८ प० १९। अस्य व्याख्या प्रमेयक० टिप्पण्यामित्थम्-"व्यावृत्तिर्निबन्धनम् येषा ते" "सामान्यभेदाः"-पृ० १४१ प्र० पं० १५। २४-दात् प्र-वा० बा०। २५-होस्विद्-भा० मा० वा० बा०। २६-मानेन तावदनुमानेन प्रत्यक्ष-भां० मां०।-मानेन प्रत्यक्ष-आ० हा० वि०। २७-त्यक्षवि-वा० बा० विना।

वेव्यवस्थितेः' इत्यस्य हेतोः सर्वोपसंहारेण भेदेन व्याप्तिं प्रतिपद्यत इति प्रत्यक्षव्यापार एवायम्; असदेतत्; यतो यत्रैव स्वव्यापारानुसारिणमनन्तरं विकल्पमाविर्भावयत्यध्यक्षं तत्रैवास्य प्रामाण्यं भवद्भिरभ्युपगम्यते, सर्वतो व्यावृत्तात्मनि त न द्ब(न तद्ब)लात् तदुत्पत्तिः, सर्वदा अनुवृत्तव्यावृत्ताकारावसायिन एव तस्योत्पत्तेः; अन्यथा 'सजातीयाद् भेदः' इत्यभिधानानर्थक्यापत्तेः, क्षणक्षयानुमानस्य च वैयर्थ्यम् अक्षणिकादिव्यावृत्तेः स्वलक्षणानुभवप्रभवविकल्पेनाध्यवसायात्, स्वलक्षणविषयत्वं च विकल्पानां सर्वतो व्यावृत्ताकाराध्यवसायिनां प्रसज्येत। तथाहि-इदमेव स्वलक्षणगोचरत्वमध्यक्षस्य यत् तस्य नियतरूपानुकरणम्, सर्वतो व्यावृत्ताकारग्राहिणां विकल्पानामपि चेद् इदमस्ति कथं न स्वलक्षणविषयत्वम्? अथाविशदावभासित्वादस्यास्वलक्षणविषयत्वम्, ननु दूरव्यवस्थितपादपादिस्वरूपग्राह्यध्यक्षमप्यविशदावभासमिति स्वलक्षणविषयत्वं तस्यापि न स्यात्। अथाऽयथार्थाकारग्राहिणस्तस्य भ्रान्तत्वादिष्टमेवास्वलक्षणविषयत्वम्, न; तस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तेः। तथाहि-अनधिगतार्थाधिगमाऽविसंवादाभ्यां तस्य प्रामाण्यम्, न च प्रत्यक्षत्वम्, भ्रान्तत्वाभ्युपगमात्। नाप्यनुमानत्वम्, अलिङ्गजत्वात्। प्रत्यक्षाऽनुमानव्यतिरिक्तस्य चापरस्य प्रमाणस्यानिष्टेः कथं नास्य प्रमाणान्तरत्वम्? न च विकल्पः-येनाधिगतार्थाधिगमादप्रमाणम् कारणमन्तरेणापि बाह्यार्थसन्निधिबलेनोपजायमानत्वात्। न चाध्यक्षविषयीकृतस्वलक्षणाध्यवसायित्वादस्याप्रामाण्यम्, तथाऽभ्युपगमेऽध्यक्षेक्षितशब्दविषये क्षणक्षयानुमानस्याप्यप्रामाण्यप्रसक्तेः। अथानिश्चितार्थाध्यवसायादनुमानस्यानधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्, निश्चितो ह्यध्यक्षविषयः, क्षणक्षयस्य चानिश्चयादध्यक्षतो न तद्विषयत्वम्। नन्वेवमध्यक्षानुसारिविकल्पस्याप्यनिश्चितार्थाध्यवसायित्वात् क्षणक्षयानुमानवत् प्रामाण्यप्रसक्तिः। अपि च, विकल्पाऽनुमानविषयार्थयोः सम विषमो वा प्रतिभासोऽभ्युपगम्येत? यदि विषमः, कथमसदृशप्रतिभासयोस्तयोरभेदः? भिन्नाकारावभासि च कथं शब्दस्य रूपम्? अथ समः, विकल्पेषु को विद्वेषस्तानविषयीकुर्वतः। अथ यत्रांशे निश्चयोत्पादनसमर्थं प्रत्यक्षं तत्र प्रतिभासाविशेषेऽपि प्रत्यक्षगृहीतांशग्राहितया विकल्पो न प्रमाणम्, अनुमानं त्वगृहीतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रमाणम्, तद्विषयेऽर्थेऽध्यक्षस्य निश्चयोत्पादनासामर्थ्यात्, ननु कथमेकमनुभवमात्रं स्वार्थे निश्चयोत्पत्तौ समर्थमसमर्थं चोपपद्यते विरोधात् एकार्थाकाराविशेषाच्च? न चाविशेषेऽपि तस्यैकत्र सामर्थ्यमेवापरत्राऽसामर्थ्यम्, परेण सन्निकर्षेऽप्येवं वक्तुं शक्यत्वात्। तथाहि-सर्वात्मनेन्द्रियार्थसन्निकर्षवादिनापि शक्यमेवं वक्तुम्-सन्निकर्षस्याविशेषेऽपि सर्वात्मना न भावस्य ग्रहणम् क्वचिदेवांशे सामर्थ्यात् एकत्र सामर्थ्यमेवान्यत्रासामर्थ्यमिति। न च समारोपव्यवच्छेदकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्यम् न पुनः प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्येति वक्तुं युक्तम्, तस्य तद्व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। तथाहि-क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः, तच्चानुमानप्रवृत्तेः प्रागिव पश्चादप्यविकलमिति कथं तथापि तस्य प्रामाण्यम्? पश्चादस्खलत्प्रवृत्तेः समारोपस्याप्रवृत्तेरस्त्येव तद्विकल्पमिति चेत्, न, तदा स्खलद्वृत्तेरक्षणिकप्रत्ययात् स्वपुत्रादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। समारोपप्रतिषेधश्चाभावत्वेनाहेतुकः, स कथमनुमानेनान्येन वा क्रियते ज्ञाप्यते वा अभावेन सह कस्यचित्

१-वव्यवस्थितेः बा० वा०।-वस्य व्यवस्थितेः आ० हा० वि०। २-नन्तरवि-भां० मां०। ३- च तद्बला-बा० वा० विना। ४-वृत्त्याका-बा० वा०। ५-राध्यवसा-भा० मा०। ६-स्य वै-भां० मां० बा० वा० विना। ७-भवप्रभवे विक-बा० वा०।-भवविक-आ० हा० वि०। ८-सायानां बा० वा०। ९ त्वनियतरूपानुकारणं बा० वा०। १०-शब्दाव-बा० वा०। ११ न प्र-बा० वा०। १२ अलिङ्गत्वात् बा० वा०। १३ बाह्यार्थसन्निधिब-बा० वा०। बाह्यार्थसन्निधाधिब-आ० हा० वि०। १४ न चा-बा -वा०। १५-नस्याधिग-बा० वा० विना। १६-स्य वा-बा० वा० आ० हा०। १७-सो नाभ्यु-बा० वा० -सो नभ्यु-आ० हा० वि०। १८-त नु यदि बा० वा०। १९-स्तावबि-बा० वा०।-स्ताऽनवि-आ० हा० वि०। २०-क्षतागृ-बा० वा०। २१-तया विषया विक-आ०। २२-नात् सा-बा० वा०। २३-नुभवद्वा-आ०। २४-मर्थं चोप-बा० वा०। २५-र्थाविशे-बा० वा०। २६ न चा-आ० हा०। न त्वा-बा० वा०। २७-वांशेऽसा-आ०।-वांशे सा-हा०।-वांशेत् सा-बा० वा०। २८-न्यत्र सा-बा० वा० आ० हा० वि०। २९-नस्याप्रा-आ०। ३०-तस्य व्यव-बा० वा०। तस्य द्व्यव-भा० मा०। ३१-क्षानसमा-भा० मा० विना। ३२-स्खलद्वृत्तेः भा० मा०।-स्खलितप्रवृत्तेः आ०।-स्खलतप्रवृत्तेः वि०। ३३-मारोप्य स्या-भा० मा। ३४-तद्विकल्पमि-आ० हा० वि० बा० वा०। ३५-नाहेतुः स भा० मा० बा० वा० विना। ३६ कस्यचित् तस्य सत्त्व-भा० मा० बा० वा० विना।

सम्बन्धाभावात् तस्य तथाऽप्रतिपत्तेश्च? अथ प्रवृत्तसमारोपस्य स्वत एवाभावात् अनुमानात्[1] क्षणिकत्वनिश्चये भाविनश्चा[2]क्षणिकसमारोपस्यानुत्पत्तेः[3] समारोपव्यवच्छेदकत्वं क्षणिकानुमानस्यो[4]च्यते, न; साक्षाद्भूतसमारोप[5]निषेधात् कथमविकले समारोपे प्रबन्धेनो[6]पजायमाने क्षणविवेक[7]निश्चयः येन ततोऽक्षणिकसमारोपस्य[8] भाविनोऽनुत्पत्तिः स्यात्? निश्चयाऽऽरोपमनसोर्विरोधाभ्यु[9]पगमात्; अन्यथा प्रत्यक्षपृष्ठभाविनः क्षणिकनिश्चयस्याप्युत्पत्तिप्रसङ्गः। तथा, परस्यापि निश्चयात्मना प्रत्ययेन सर्वात्मनाऽर्थस्वरूपनिश्चयेऽपि समारोपप्रवृत्तौ तद्व्यवच्छेदाय प्रवर्त्तमानं प्रमाणान्तरमनर्थकं न स्यात्। तन्न क्षणविवेकनिश्चयः, निश्चये वा विरोधादेव नाक्षणिकसमारोपः। दृढरूपस्याक्षणिकसमारोपस्यास्त्येव व्यावृत्तिः, सादृश्यनिमित्तस्तु स्खलद्रूपारोपः[10] स्थायीति चेत्, असदेतत्। [11]अवधारितविशेषस्यानवधारितविशेषलक्षणसादृश्यासम्भवात् कथं समारोपः तन्निबन्धनोऽपि स्थायी युक्तः? समारोपनिमित्तसादृश्यविरोधिविवेकावधारणसद्भावात्[12] वह्निसन्निधानाद् रोमहर्षादिविशेषवद् यथार्थनिश्चये विपर्यासानुपलब्धेश्च। अथ यथा निश्चितैकत्वस्यापि पुंसो द्विचन्द्रादिभ्रान्तिरक्षजत्वान्न निवर्त्तते तथा(थाऽ)क्षणिकभ्रान्तिरपि। नन्वेवमक्षणिकभ्रान्तेरक्षजत्वे न किञ्चिदपि[13] प्रत्यक्षमभ्रान्तं स्यात्।

"पश्यन्नपि न पश्यति" [ ]

इति च धर्मकीर्तिवचनं विरुद्ध्येत। अथाऽक्षणिकत्वभ्रान्तिर्मानसी मरीचिकाचक्रे तोयादिभ्रान्तिवत् तथापि नावधारितविशेषस्योत्पद्येत, अनवधारितविशेषस्यैव तदुत्पत्तेः। अक्षणिकावभासस्य मानसत्वे वस्त्वन्तरस्मरणसमये उत्पत्तिश्च न स्यात्; विकल्पद्वयस्य युगपदनुत्पत्तेः उत्पत्तौ वाऽश्वं विकल्पयतोऽपि [14]गोदर्शनाद् दर्शने कल्पनाविरहसिद्धिरयुक्ता स्यादिति क्षणविवेकनिश्चयेऽवश्यंभाव्यक्षणिकसमारोपाभावः[15]। तत्सद्भावे च न कश्चिदनुमाना[16]न्निश्चितनानात्वस्यात्माऽऽत्मीयभावयोः प्रवृत्तिर्युक्ता। न ह्यात्मनाऽनुमानान्नानात्वनिश्चयलक्षणे[17] नैरात्म्यदर्शने सति एकप्रत्ययलक्षणमात्मदर्शनं सम्भवति विवेकाविवेकग्रहणयोरेकत्वविरोधात्; तदभावान्नात्मीयग्रहः; तदभावे च तत्पूर्वकस्य रागादेरनुत्पत्तेः कथमभिलषिताऽनभिलषितसाधनयोस्तदध्यवसायेन प्राप्ति-परिहाराय प्रवृत्तिरुपपद्येत[18]? अनाश्रवचित्तोत्पत्तिप्रबन्धलक्षणमुक्तिहेतौ[19] च मुमुक्षोर्यत्नो विफलः स्यात् नैरात्म्या[20]द्यभ्यासमन्तरेणाप्यनुमानात्[21] क्षणिकत्वनिश्चयमात्रेणैव मुक्तिसिद्धेः। आत्मदर्शनस्य सहजस्याहानेस्तन्निमित्ता[22]ऽऽत्माऽऽत्मीय[23]स्नेहपूर्वक[24]सुखाभिलापवतः सुख-दुःखसाधने[25]ष्वादान-परिहारार्था[26] प्रवृत्तिः अविरुद्धेति चेत्, स्यादेतत् यदि तत्सहजमात्मदर्शनमेकप्रत्ययलक्षणं न स्यात् तद्रूपत्वे त्वात्मनो[27]ऽनुमानात् क्षणविवेकनिश्चयमात्रेणैव तस्य[28] निरुद्धत्वान्न तन्निमित्ता संसारकारणेषु प्रवृत्तिः[29]। अथैकप्रत्ययलक्षणं सहजमात्मदर्शनं न भवति न तर्हि, नैरात्म्याभ्यासादप्यविरोधात् तन्निवृत्तिरिति व्यर्थो नैरात्म्याभ्यासः स्यात्। अतो न साक्षात् पारम्पर्येण वाऽक्षणिकसमारोपव्यवच्छेदकत्वात् क्षणिकानुमानस्य प्रामाण्यम्, अध्यक्षप्रभवविकल्पेऽपि चैतत् समानम् निश्चिते तत्रापि समारोपाभावात्। न च प्रवृत्तसमारोपाव्यवच्छेदकत्वाद् विकल्पस्याप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तम्, प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन प्रामाण्य(ण्ये) विशेषतो दृष्टानुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसक्तिः तस्यापि तद्रूपत्वात्। न च प्रवृत्तः[30] समारोपो व्यवच्छेत्तुं शक्यः अभावस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमात्। न च प्रत्यक्षपृष्ठ[31]भाविविकल्प-

---

१-ना क्ष-भा० मां० विना। २-नश्च क्ष-भां० मां० विना। ३-नुपपत्तेः भां० मां० वि०। ४-क्षणिकस्यानु-भां० मा०। ५-मारोपनि-वा० बा०। ६ प्रतिबन्धेनो-भां० मा० वा० बा० विना। ७ क्षणे विवेक-वि०। ८-करोपस्य आ०। ९-थापि पर-वा० बा०। १०-पारोपस्था-वा० बा० हा० वि०। ११ अवधारितविशेषलक्षणसाह-आ० हा० वि०। १२-द्भावद्वह्नि-भां० मा० विना। १३-दपि भ्रान्तं आ० हा० वि०। १४ गोदर्शनात् दर्शनादर्शने आ०। गोदर्शने वा० बा०। १५-मारोप्याभा-भां० मा०। १६-नानि-वा० बा०। १७-क्षणनै-भा० मां० वा० बा०। १८-पद्यते आ०। १९-त नाश्रव-भां०। २०-रात्म्याद्यत्यास-भां० मा०।-रात्म्याभ्यास-वि०।-रात्माभ्यास-हा०। २१-ना क्षणिकत्वानिश्च-हा० वि०। २२-त्तात्मीय-भां०। २३-त्मीयं स्नेह-मा० मां० विना। २४-पूर्वसु-आ० हा० वि०। २५-धनेष्वादा-भां० मा०। २६-रार्थप्र-वा० बा०। २७-त्मन्यनुमा-भां० मां० विना। २८-स्य विरु-भां० मां० विना। २९-वृत्तेः भा० मा० वा० बा०। ३०-वृत्तेः आ०। ३१-क्षपृष्ठिभावि-आ० हा० वि०।-क्षपृष्ठिकाभावि-हा० बा०।

[1]मपहायाऽनुमानस्यैव प्रामाण्यम् तस्य लिङ्गजत्वात् इतरस्य च तद्विपर्ययादिति वाच्यम्, विशेषतो दृष्टानुमानस्य लिङ्गजत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तेः। न चानुभवविषयमात्राध्यवसायित्वेऽध्यक्षपृष्ठभाविविकल्पानामभ्युपगम्यमाने व्याप्तिसिद्धिरपि परस्योपपद्यते, सन्निहितमात्र[4]प्रतिग्राहित्वेनाध्यक्षस्य तद्व्यापारानुसारिणो विकल्पस्यापि सर्वाक्षेपेण साध्य-साधनयोर्व्याप्तिग्राहकत्वासम्भवात्। तथा च देशान्तरादावुपलभ्यमानं साधनमनिश्चितसाध्य[5]प्रतिबन्धं तत्र साध्यं न गमयेत्। अथ कार्ये धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितो निश्चितः स देशान्तरादावप्यनलाभावे भवंस्तत्कार्यतामेवातिक्रामेदित्याकस्मिकोऽग्निनिवृत्तौ न क्वचिदपि निर्व[6]र्त्तेत, नाप्यवश्यंतयाऽग्निसद्भाव एव तस्य भाव उपलभ्येत। तथा, व्यापकाभावेऽपि तदात्म[7]नो व्याप्यस्या(स्य)भावे न कदाचित् साधनं तत्स्वभावतया प्रतीयेतेति। नन्वेवं व्याप्तिसिद्धावपि[8] तन्निश्चयकालोपलब्धेनैव स्यात् व्यापकेनास्य व्याप्तिः तस्यैव तथानिश्चयात्, न; तादृशस्यापि साध्यव्याप्तग्रहणे तद्[10]ग्राहिणो विकल्पस्यागृहीतग्राहित्वं कथं न स्यात्? यदेव हि प्रत्यक्षेण तद्व्याप्तत्वेनोपलब्धं ततस्तस्यैवानुमानं विशेषतो दृ[11]ष्टम् तच्चानुमानं स्यात्, अन्यदेशादिस्थेनाव्याप्तेः[12] पारिशेष्यात् ता[13]दृशव्यापकेनान्य[14]त्र तादृश[15]स्य व्याप्तिसिद्धिरिति न वक्तव्यम्, पारिशेष्यासिद्धेः। तथाहि–तत् पारिशेष्यं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम्? न तावत् प्रत्यक्षम्, देशान्तरस्थस्यानुमेयस्य प्रत्यक्षेणाप्रतिपत्तेः प्रतिप[16]त्तौ वाऽनुमानवैयर्थ्यप्रसक्तिः। अथानुमानम्, ननु तत्रापि कथं साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धसिद्धिः? न प्रत्यक्षेण, तस्य व्याप्तिग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेः। नानुमानान्तरेण, अनवस्थाप्रसक्तेः। न तेनैवानुमानेन, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। तस्मादनुमानप्रामाण्यवादिना सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राही प्रत्यक्षजन्मा स्वविषयाविसंवादी वि[17]कल्पः प्रमाणयितव्यः। स[18] चाभिनिबोधिकं ज्ञानमसद्द[19]र्शने प्रसिद्धमस्पष्टतया श्रुतं वा ऊहशब्दविशेषवाच्यतया न प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं तत् प्रमाणान्तरम्। प्रत्यक्षानुमानवादिनां तु व्याप्तिग्राहकं प्रमाणान्तरं प्र[20]सक्तम् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहणासम्भवात्। न च प्रतिबन्धग्राहकस्य प्रमाणस्य स्वार्थे व्यभिचारः प्रतिबन्धाभावात् इति वक्तव्यम्, तत्र योग्यतालक्षणप्रतिबन्धसद्भावात्। प्रत्यक्षेऽपि हि स्वार्थपरिच्छेदो योग्यता[21]त एव न पुनस्तदुत्पत्त्यादेः। तदुत्पत्तिप्रतिबन्धात् प्रत्यक्षस्य स्वार्थपरिच्छेदकत्वे इन्द्रियस्यापि तत्परिच्छेद्यत्वप्रसक्तिः। तत्सारूप्यात् त[22]स्य तत्परिच्छेदकत्वे नीलक्षणोऽपरनीलक्षणस्य परिच्छेदकः स्यात् परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात्, अप्रसङ्गे नीलज्ञा[23]नमपरनीलज्ञा[24]नपरिच्छेदकं स्यात्। तदुत्पत्ति-सारूप्याभ्यां समुदिताभ्यां प्रत्यक्षस्य स्वार्थपरिच्छेदकत्वे नीलज्ञानं समनन्तरनीलज्ञानस्य परिच्छेदकं स्यात्। तदुत्पत्ति-सारूप्यसद्भावेऽपि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य न तद्ग्राहकं व्यवस्थाप्यते तदध्यवसायाभावादिति चेत्, ननु 'तदुत्पत्त्यादिके प्रतिबन्धे समानेऽप्यर्थे एव तस्य तदध्यवसायो न पुनः समनन्तरप्रत्यये' इति पृष्टेन भवता[25] सैव योग्यता नियामिका वक्तव्या। अपि च, 'विषयेन्द्रि[26]यमनस्कारेषु विज्ञानकारणत्वेनाविशिष्टेषु विषयस्यैवाकारं बिभर्ति विज्ञानं नेन्द्रियादेः' तथा, 'नीलाद्यर्थसारूप्याविशेषेऽपि नीलज्ञा[28]नं '[29]योग्यतादेशस्थमेव नीलाद्यर्थं विषयीकरोति नान्यम्' इत्यत्रापि योग्यतैव शरणम्। अतोऽस्या एव तत्सारूप्या[30]दिविशेषेऽप्यवश्यमभ्युपगमनीयत्वात् अर्थप्रतिनियमः स[31]र्वत्राभ्युपगमनीय इति प्रत्यक्षवदूहोऽपि योग्यता[32]याः प्र[33]तिबन्धसाधकोऽभ्युपगन्तव्यः; अन्यथा अनु-

१–मवहा–भा० मा० विना। २–माण्याप्र–भा० मां०। ३–त्राध्यव–भा० मा० विना। ४–मात्रे प्रति–वा० बा०। ५–प्रतिबिम्बं त–भा० मा० विना। ६–वर्तेते ना–भा० मा० विना। ७–नोप्यस्य भा–वा० बा०। ८–पि निश्च–वा० वा०। ९–स्यातादृशस्यापि भा०। १०–द्ग्राहिणा वा० बा०। ११–ष्टं न चानुबा० बा०।–ष्टं न त्वानु–हा० वि०। १२–प्तेः परिशेष्यात् वा० वा०।–प्तेः पारिशेषात् आ० हा०।–प्तेः परिशेषात् वि०। १३ तादृशाव्या–भा० वा० वा०। तादृशांःव्या–भा०। १४–न्यत्रातादृ–वा० बा० हा० वि०। १५–शस्याव्या–बा० वा०। १६–पत्तौ चानु–आ०। १७–कल्पवृप्रमा–हा०।–कल्पवृक्षप्रमा–वि०। १८ स त्वाभि–वा० बा०। १९–दर्शनप्रसि–भां० मा० विना। २०–प्रशक्तम् हा०। प्रशस्तम् आ०। २१ –ताऽत एव आ० हा० वि०।–ता एव वा० वा०। २२ तस्यातत्य–वा० वा०। २३–ज्ञानपरि–आ० हा० वि०। २४–ज्ञानामपरि–वा० वा०। २५–तास्यैव भां० बा० वा०।

२६ रूपाऽऽलोक–मनस्कार–चक्षुर्भ्यः संप्रवर्तते। विज्ञानं मणि–सूर्यांऽशु–गोशकृद्भ्य इवाऽनलः॥"

अनेका० टी० पृ० २०६ पं० १९।

२७–यनमस्का–वा० वा०। २८–ज्ञानयो–आ० हा०। २९ 'योग्यदेश'–वि० स०। ३०–प्याविशे–आ०। ३१ सत्राभ्यु–भा० हा० वि०। 'सत्राभ्यु–' वि० स०। ३२–ताया प्रति–वा० वा०। ३३ प्रतिबिम्बसा–वा० बा०।

मानादिव्यवहारोच्छेद एव।[1] न चात्राप्यनवस्था, न हि प्रतिबन्धनिश्चयापेक्षो लिङ्गवदयं गमकः, प्रत्यक्षवद् योग्यतयैव स्वार्थप्रकाशनात् स्वहेतोरेव नियतार्थप्रकाशनयोग्यस्यास्योत्पत्तेः । न च स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनो[5] विकल्पस्यास्पष्टावभासितया न सामान्यग्राहकत्वम्, उन्मीलितचक्षुषः पुरोऽवस्थिते समानाकारेऽर्थे स्पष्टतया तस्यावभासनात्। अथ 'सविकल्पाऽविकल्पयोर्युगपद्वृत्तेर्विमूढस्तयोरैक्यमध्यवस्यति' इति स्पष्टतावभासः, असदेतत्; सविकल्पाऽविकल्पयोः किमेकविषयत्वम्, उतान्यतरेणान्यतरस्य विषयीकरणम्, आहोस्विदपरत्रेतरस्याध्यारोपस्तयोरेकत्वाध्यवसाय इति विकल्पैरनुपपत्तेः। तत्र न तावदेकविषयत्वं तयोः सम्भवति, विकल्प(ल्पस्य) पूर्वानन्तरप्रत्ययाग्राहीतत्समानकालवस्तुविषयत्वात् । अन्यतरस्यान्यतरेण विषयीकरणमपि समानकालभाविनोरपारतन्त्र्यादनुपपन्नम्। अविषयीकृतस्यान्यस्यान्यत्राध्यारोपोऽप्यसम्भवी। तदनन्तरभावि ज्ञानं तौ विषयीकृत्यापरमन्यत्राध्यारोपयतीत्यपि वक्तुमशक्यम्, तयोर्विवेकेनोपलम्भप्रसङ्गात् । तथा च नाध्यारोपादप्येकत्वाध्यवसायः। किञ्च, यद्यविकल्पकं विकल्पेऽध्यारोप्य[13] विकल्पकमविकल्पतयाऽध्यवसीयते तदा समानाकारस्य विकल्पविषयतयाऽभ्युपगतस्य न तत्र तद्रूपतयाऽध्यवसायः स्यात्, विकल्पावभासस्य तद्विषयत्वेन व्यवस्थितस्य विकल्पस्वरूपवदविकल्परूपतयाऽध्यवसितत्वात्। अथ विकल्पमविकल्पेऽध्यारोप्याऽविकल्पो विकल्परूपतयाऽध्यवसीयते तदा सुतरामस्पष्टप्रतिभास एव स्यात्, लघुवृत्तेरपि क्रमभाविनोर्विकल्पाऽविकल्पयोर्न विच्छेदानुपलक्षणम् वर्णद्वयादिनाऽ[14]नेकान्तात्। विकल्पात्मनोत्पत्तिरे[15]वेन्द्रियजस्यात्मन्यपरसमारोपश्चेत्, नन्वेवं सर्वेन्द्रियजा बुद्धिर्विकल्पकत्वेनासत्या स्यात् । विकल्पस्यापि नाविकल्परूपेणोत्पत्तिरेकत्वाध्यवसायः[16], विकल्पात्मनो[17] वैशद्याभावात्। युगपद्वृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकस्यापि सहोत्पत्तेरेकत्वाध्यवसायः किं नाभ्युपगम्येत? भिन्नविषयत्वात् तेषां स नेष्यत इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपि स मा भूत्, क्षण-सन्तानविषयत्वेनाविकल्प-सविकल्पकयोर्भिन्नविषयत्वात्। न हि विकल्पे निरंशैकक्षणावभासो लक्ष्यते[21], तल्लक्षणे क्षणक्षयानुमानवैयर्थ्यप्रसक्तेः। क्षणविषयत्वेऽपि वा न तयोरेकविषयत्वम्[22], स्वोपादानविषय-तत्समानसमयक्षणगोचरत्वात् । एकसन्तानसमाश्रयेण द्वयोरप्येकविषयत्वे दर्शन-स्मरणयोरभिन्नसन्ताधिकरणयोरपि स्यात् । वर्तमानार्थतयाऽप्रवृत्तेर्न दर्शन-स्मरणयोरेकत्वाध्यवसाय इति चेत्, न; शब्दादिस्वलक्षणेऽध्यक्षगोचरे क्षणक्षयमनुमानान्निश्चिन्वतोऽनुभव-विकल्पयोर्युगपद्भावेऽप्यभेदाध्यवसायाभावात् मरीचिकायां जलभ्रान्तेः विशदावभासे च निमित्तं वक्तव्यम्, विकल्पाऽविकल्पयोर्युगपद्भावनिमित्तस्य तत्राभावात् तदोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद् दर्शनस्याभावात् तत्सद्भावे वा न जलाकारं दर्शनम् जलभ्रान्तेरक्षजत्वानभ्युपगमात्। नापि मरीचिकाविषयम् भिन्नाधिकरणतया तयोरेकीकरणासम्भवात्, सम्भवे वा घटानुभवस्य पटस्मरणादावपि प्रसङ्गः। प्रत्यक्षासन्नवृत्तित्वाद् वैशद्यभ्रमेऽन्यत्रापि सैवास्तु किं युगपज्ज्ञानोत्पत्तिकल्पनया? प्रकृतिविभ्रमादेवाऽस्य तथाभावे सिद्धं विकल्पात्मकज्ञानस्य वैशद्यम्। न च जलभ्रान्तेरवैशद्यम्, जलभ्रान्त्याधारसमानदेशजलप्रतिभासाविशेषात्।

न च युगपद्वृत्तिर्ज्ञानयोः सिद्धा, सकृद्भावे हि ज्ञानयोर्युगपद्वृत्तिः स्यात्। न चैकस्मात् सामग्रीविशेषादर्थेन्द्रियादिलक्षणाद् युगपत् कार्यद्वयस्य विकल्पाऽविकल्पस्योदयो युक्तः, यतः सामग्रीभेदात् कार्यस्य तत्प्रभवस्य भेदो युक्तः; अन्यथा निर्हेतुकः स स्यात्। अथ कार्यव्यतिरेकात् कारणस्य तत्र

---

१-च्छेदः। न वा० वा०। २ न वा-आ०। ३ प्रसङ्गनि-वा० वा०। ४-क्षत्ववद् मा० विना०। -क्षत्वद् वा० वा०। ५-दर्शनान्तर-वि०। ६-या सा-वा० वा०। ७-काराथें स्प-मा०।-कारेर्थास्प-वा० वा०।-कारेर्थास्पृ-हा०। ८-वृत्तेर्निर्मू-वा० वा०। ९-त्ययग्रा-आ० वि० विना। १०-ह्यवत् स-वा० वा० हा०। ११-प्यसंभवतीति तद-आ० वि०। १२ ज्ञानतो विष-वि०। १३-ध्यारोप्य विकल्पतया-आ० वि०।-ध्यारोपविकल्पतया-वा० वा० हा०। १४-नाऽनैका-भां० मां०। १५-त्पत्तिरेकेन्द्रि-भां० मा०। १६-साये वि-भा० मा० वा० वा० विना। १७-ल्पात्मानो वै-आ० वि०।-ल्पात्मनो वै-वा० वा० हा०। १८-पादिना ज्ञान-वि०। १९ मा भूत क्षण-आ० वि०। २०-णसन्तान-भा० मा०। २१-तेऽतल्ल-वा० वा०। २२ त्वंरष्टोयतः पादान-वा० वा०। २३-त्सद्भावे आ० हा० वि०। २४-तदाभा-भा० मां०।

सामर्थ्यावधारणम् । अर्थादिव्यतिरेका[1]च्च नर्वि(न वि)कल्पव्यतिरेकः एतत्समानजातीयानामतीतादिविकल्पानामर्थाद्यभावेऽपि भावादित्यविकल्पोत्पादन एवार्थेन्द्रियादेः सामर्थ्यमवसीयते इत्यभ्युपगमादस्त्येव सामग्रीभेदः तैतः[2] कार्यभेदोऽपि सङ्गत एव, असदेतत्; तिमिरपरिकरितचक्षुषोऽर्थव्यतिरेकेणाप्यविकल्पकस्य कस्यचिदुत्पत्तिदर्शनादपरस्यापि तज्जातीयतयाऽविकल्पदर्शनस्य विकल्पवदनर्थजन्यत्वप्रसक्तेः । अथ तैमिरिकानुभवादनुपहतेन्द्रियजाध्यक्षस्य[3] भेदान्नानन्तरोक्तप्रसङ्गः, नन्वेतत् सविकल्पकेऽपि समानम् । न चैकत्र विकल्पे[4]ऽवैशद्यदर्शनात् तज्जातीयतया सर्वत्र[5] तथाभावसिद्धिः, अविकल्पस्यापि[6] दूरार्थग्राहिणः कस्यचिदवैशद्योपलब्धेः तदन्यस्यापि तद्भावप्रसक्तेः । तत् स्थितमक्षभाविनो विकल्पस्यार्थसाक्षात्करणलक्षणं वैशद्यम्; तेन 'स्वव्यापारमेवमादर्शयतो विकल्पस्योत्पत्तेः स्वव्यापारमुत्प्रेक्षात्मकं तिरस्कृत्य दर्शनव्यापारानुसरणाद् विकल्पः प्रमाणं[7] न भवति' इत्येतन्निरस्तं द्रष्टव्यम् । विकल्पश्चैक एवार्थग्राह्युपलक्ष्यते नापरं दर्शनम् यद्व्यापारानुसारिणो विकल्पस्याप्रामाण्यं भवद्भिः गृहीतग्राहितया प्रतिपाद्यते[8] । विकल्पाऽविकल्पयोर्लघुवृत्तेर्[9]विकल्प[10]व्यतिरेकेणाविकल्पस्यानुपलक्षणेऽङ्गीक्रियमाणे वर्णयोरपि लघुवृत्तेरितरेतरव्यतिरेकेणानुपलक्षणप्रसक्तिः[11] । न च वर्णयोस्तथाभूतलघुवृत्तेरभावात् परस्पर[12]व्यतिरेकेणोपलक्षणसद्भावः[13], युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिवादिनोऽपि ताभ्यां व्यभिचाराभाव[14]प्रसक्तेः । नापि सादृश्याद्[15] विकल्पाऽविकल्पयोर्भेदेनानुपलक्षणम्, सन्तानेतरविषयत्वेन तयोरेकविषयत्वकृतसादृश्याभावात् । ज्ञानरूपतया सादृश्ये[16] नीलाऽनीलाकारज्ञानयोरपि ज्ञानात्मना सादृश्यान्न स्याद् भेदेनोपलक्षणम् । तत्रा[17]ऽविकल्पकज्ञानसद्भावः । अथ यदि प्रथमाक्षसन्निपात एव सविकल्पकं दर्शनमुदयमासादयति तद्ग्राह्यस्त्वर्थात्मा[18]; तथा सत्यर्थग्रहणाभाव एव प्रसक्तः । तथाहि–अर्थदर्शने[19] सति तत्सन्निधाने दृष्टे[20] तद्वाचके[21] स्मृतिः, तत्स्मृतौ च तेनार्थं योजयति, तद्योजितं चार्थं विकल्पिका[22] बुद्धिरध्यवस्यति । न च सविकल्पकप्रत्यक्षवादी अशब्दकमर्थं[23] पश्यति, तद्दर्शनमन्तरेण च (न) तद्वचःस्मृतिः, तामन्तरेण[24] च न वचनपरिष्वक्तार्थदर्शनम् इत्यर्थदर्शनाभाव एव प्रसक्तः, असदेतत्; यतो यदि 'अशब्दकमर्थं विकल्पो नावगच्छति' इत्यभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः; न चास्माभिः शब्दैः[25]संयोजितार्थग्रहणं विकल्पोऽभ्युपगम्यते किं तर्हि? निरंशक्षणिकानेकपरमाणुविलक्षणस्थिरस्थूरार्थग्रहणम्; तच्च प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामप्यनुभूयते । तथा,

---

१–व्यतिरेकत्वा न वि–हा० वा० बा० ।–व्यतिरेकत्वेन वि–आ० वि० । व्यतिरेकाच्च नर्वि–भा० । अत्र 'अर्थादिव्यतिरेकाच्च न विकल्पव्यतिरेक एव तत्समानजातीयानामतीतादिविकल्पाना–' इति पाठः संभाव्यते । २ तत्कार्य–भां० मा० । ३–क्षजस्य भा० मा० । ४–कल्पे वै–भा० मा० विना० । ५ सर्वत्रात–वा० बा० । ६–पि विदूरा–भा० मा० । ७–णं भवति भा० मा० विना । ८–पाद्यते वि० । ९–त विकल्पयोर्ले–आ० वा० बा० । १०–वृत्तिवैकल्प–वा० बा० हा० । ११–सक्तेः वि० । १२ परस्य व्यति–वा० बा० । १३–पलक्षणोपलक्षणसद्भा–भा० मा० । १४–भावः आ० । १५–दृश्याद्विकल्पाद्वि–हा० ।–दृश्याद्विकल्पयोर्भे–वा० बा० वि० । १६ सादृश्ये नीलाकारज्ञान–वा० बा० हा० । १७ तत्र वि–वा० बा० । १८–त्मा सत्य–आ० वि० ।

१९ "सति ह्यर्थदर्शनेऽर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यात् अभिधूमवत् । न चायमशब्दमर्थं पश्यति, अपश्यन् न शब्दविशेषमनुसरति, अननुसरन्न योजयति, अयोजयन्न प्रत्येति इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः"–अनेका० पृ० १२२, पं० ३ ।

"न चायमित्यादि । न खल्वयं सविकल्पकप्रत्यक्षवादी शब्दरहितमर्थं पश्यति, स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति नियमात् । ततः को दोष इत्याह–अपश्यन् न शब्दविशेषमनुसरति 'नियमेन' इति शेषः"–अनेका० टी० पृ० १२२ पं० २४ ।

"तथाहि–नीलादिकमर्थमनिरीक्षमाणस्तत्र प्रतिपन्नसमयं तद्वाचकं शब्दं नानुसरत्युपयोगाभावात्, अननुसरंश्च पुरस्थायिनि नीलादिवस्तुनि न तं सघटयति स्मृतिदर्पणप्रतिबिम्बनमन्तरेण तत्सघटनासामर्थ्यात्, असघटयंश्च शब्दं तदाकूतेन न निरीक्षत एव नीलादिकमर्थमिति सुप्रसभावं जगन्नायेतेति"–स्याद्वादर० पृ० ३६ द्वि० प० ८ ।

२० दृष्ट त–हा० वा० बा० । २१–चकस्मृ–वि० । २२–कल्पका बु–वा० बा० हा० वि० ।–कल्पबु–आ० । २३ अशब्दकर्म पश्यति तद्दर्शनमन्तरेण च तद्वचस्मृतिः आ० । 'अशब्दं कर्म पश्यति तद्दर्शनमन्तरेण च न तत्स्मृतिः' वि० स० । २४–ण न च वचन–भां० मा० । २५–ब्दसंयोगिता–वा० बा० ।

संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि न निरंशक्षणिकानेकपरमाणुप्रतिभासः, स्थिरस्थूलरूपस्य बहिः स्तम्भादेर्ग्राह्यरूपतां बिभ्राणस्य प्रतिभासनात्, अश्वविकल्पकालेऽपि पुरो व्यवस्थितस्य गवादेस्तथाभूतानुभवविषयत्वेन प्रतिभासनात् । यदि पुनरभिलापसंसृष्टार्थाध्यवसाय्येव विकल्पोऽभ्युपगम्येत तदा तदनुत्पत्तिरेव प्रसक्ता । तथाहि-यावत् पुरो व्यवस्थितं वस्तु नीलादित्वे(त्वेन) न निश्चितं न तावत् तत्सन्निधानोपलब्धतद्वाचकस्मृत्यादिक्रमेण तत्परिष्वक्तार्थनिश्चयः, यावच्च न तन्निश्चयो न तावत् तद्वाचकस्मृत्यादि, क्षणक्षयादाविवाऽनिश्चिते वाचकस्मृत्यादेरयोगात् । योगे वा शब्दानुभवानन्तरं 'क्षणिकः' इति वाचकस्मृत्यादिक्रमेण तन्निश्चयोत्पत्तेः क्षणक्षयानुमानमपार्थकं स्यात् । अपि च, 'तद्वाचकस्यापि स्मरणमपरतद्वाचकयोगमन्तरेण भवदभ्युपगमेन न सम्भवति, तद्योजनमपि स्मरणमन्तरेण, स्मरणमप्यपरतद्वाचकयोजनादिव्यतिरेकेण' इत्यनवस्थानान्नात्र क्वचिदपि निश्चयः स्यादिति । तस्मादभिलापसंसर्गयोग्यस्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं ज्ञानं प्रथमाक्षसन्निपातोर्ध्वं सविकल्पकं तथाभूतार्थव्यवस्थापकमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतः साधारणासाधारणरूपे वस्तुनि प्रमाणप्रवृत्तिः नासाधारणात्मनि, निर्विकल्पकस्याप्यसाधारणात्मनि विषये विकल्पानुत्पादकत्वादग्राहकत्वमेव । ग्राहकत्वे वा तत्र क्षणक्षयानुमानस्याप्रामाण्यप्रसक्तिः । तस्मात् 'स्वस्वभावव्यवस्थितेः' इत्यस्य हेतोर्भेदेन सर्वपदार्थानां प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणाभावान्न व्याप्तिग्राहकप्रमाणफलमेतत्-'स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वभावानां सर्वतो भेदः' इति । अतो न धर्मविशेषाभावः । व्यावर्त्यभेदाद् व्यावृत्तिभेदः तद्भेदाच्च धर्मभेदे यथा अमूर्ताद् व्यावर्तमानो घटो मूर्तस्तथा मूर्तान्तराद् व्यावर्त्तमानः प्रत्ययोऽमूर्तोऽपि मूर्तः स्यात् । अमूर्तात्मना तयोरभेदे कथं नोभयात्मकत्वं भावानाम्? न च कल्पितो धर्मभेदः, तथाभ्युपगमे यथा परसत्त्वाद् व्यावर्त्तमानस्य घटादेः परविविक्तं स्वसत्त्वं कल्प्यते तथा स्वसत्त्वाद् व्यावर्त्तमानस्य स्वासत्त्वप्रक्लृप्तिप्रसङ्गः । अथ परसत्त्वादेव तस्य व्यावृत्तिः न स्वसत्त्वात्, नन्वेवं कथं न पारमार्थिकोऽन्यव्यावृत्तिधर्मभेदोऽभ्युपगतः स्यात्? न च 'एकः संवृतिसन्नपि कल्प्यतेऽन्यो न' इति विभागो युक्तः, कल्पनायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् । तदेवं सदृशपरिणामसामान्यस्याबाधितप्रत्ययविषयत्वेन सत्त्वादसिद्धो हेतुरिति स्थितम् ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यानिश्चयरूपताभ्युपगमे शब्दप्रत्ययस्यासिद्धत्वादाश्रयासिद्धश्च हेतुः । न ह्यनिश्चितं ज्ञानस्य स्वरूपं स्वर्गप्रापणसामर्थ्यवद् दानचित्तस्य सिद्धं भवति प्रतिभासमात्रेण सिद्धत्वे वा तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, क्षणक्षयादेरपि च प्रतिभासमात्रेणैव सिद्धत्वात् तदनुमानवैयर्थ्यप्रसक्तिश्च । न च स्वसंवेदनेनाऽनिश्चयात्मनाऽपि निश्चयात्मकज्ञानस्वरूपं गृह्यते न पुनस्तस्य स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिकम् अतो न विप्रतिपत्त्याद्यभाव इति वक्तव्यम्, तस्मिन् गृह्यमाणे गृह्यमाणस्य तस्य ततो भेदप्रसङ्गात् । न च तस्मिन् सर्वात्मना स्वसंविदितेऽप्यभ्यासपाटवादेर्निमित्तात् क्वचिदेवांशे निश्चयो न सर्वत्र, स्वसंवेदनस्य तदंशनिश्चयजननसमर्थस्यापि तदंशान्तरे तदसामर्थ्याद् द्विरूपतापत्तेः । न चैकत्र सामर्थ्यमेव परत्रासामर्थ्यम्, विहितोत्तरत्वात् । न च निश्चयसंवेदनस्याप्यनिश्चयात्मकत्वेन स्वतो निश्चितस्य निश्चयव्यवस्थापकत्वम्, क्षणिकत्वादेरिवानिश्चितस्याऽन्यव्यवस्थाप-

१-भासस्थितस्थू-वा० बा० । २-स्थूररू-वा० बा० हा० वि० । ३-वादिस्त-आ० वि० । ४-लापसं-वा० बा० हा० विना । ५-संस्पृष्टा-भां० । ६-सायो विकल्पेभ्युप-वा० बा० । ७-त्परिपृक्ता-भां० मां० । ८-कार्थानि-वा० बा० । ९-दिलक्षण-भां० मां० विना । १०-यो व श-वा० बा० । ११-नुभावा-भां० मां० विना । १२-कयोजनमन्त-भा० मां० । १३-स्थानाच्च क्वचि-भा० मा० । १४-लापसं-वा० बा० हा० विना । १५-भासज्ञा-भा० मां० वा० बा० हा० विना । १६-रूपवस्तु-वा० बा० । १७-त्तिः न सा-धा-आ० वि० । १८-त्मनि विक-वा० बा० । १९ पृ० २४३ पं० १७ । २०-धर्मभेदो य-वि० । २१-व-र्त्यमा-भा० मां० । २२-थाऽमू-आ० वि० विना । २३ संवृत्तिसन्नपि भां० वा० बा० हा० वि० । संवृत्तिः सन्नपि मां० । २४-स्थित संवे-आ० । २५-मे शाब्द-भां० मा० । २६-श्चितज्ञा-वा० बा० । २७-नाऽपि-ज्ञानस्व-भां० मां० । २८-निश्चिया-आ० हा० वा० बा० । २९-त्मस्व-वा० बा० । ३०-माणागृह्य-वा० बा० । ३१ सर्वदा वा० बा० । ३२-मर्थ्याद्वि-आ० वि० । ३३ पृ० २४४ पं० २४ । ३४-त्मकत्वे स्व-भां० मां० ।-त्मकत्वेनास्व-वा० बा० । ३५-तोऽनिश्चि-भां० मा० ।

कत्वायोगात्। न च स्वसंवेदनेनानिश्चयात्मनाऽनिश्चितो[1] निश्चयः प्रत्ययव्यवस्थापकः, इति निर्विकल्पकस्वसंवेदनवादिनः प्रत्ययासिद्धेः कथं नाश्रयासिद्धः प्रकृतो हेतुः?

यदपि[2] 'भवतु वा सामान्यं तथापि तस्या(स्य)[3] भेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्नेष्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; एकान्तभिन्नस्य सामान्यस्य भिन्नेष्वभेदप्रत्ययहेतुत्वेनानभ्युपगमात्। न ह्यन्येनान्ये समाना अभ्युपगम्यन्ते[4][5] किन्तु स्वहेतुभ्य एव केचित् समाना उत्पन्नास्तथैव गवादिप्रत्ययविषयाः।

यदपि[6] 'अनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य' इत्यादि, तदप्यसत्; अनर्थान्तरत्वेनैकान्तेन तस्यानभ्युपगमान्न तत्पक्षभावी भ्रान्तत्वादिदोषः प्रत्ययस्य।

यदपि[7] 'यत्रैव[8] हि कृतसमया ध्वनयः स एव तेषामर्थः, न च समयः शब्दानां परमार्थतः सम्भवति,' तदप्ययुक्तम्; सामान्य-विशेषरूपस्य वस्तुनः पारमार्थिकस्य सङ्केत-व्यवहारकालव्यापकस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। यद्यपि शावलेयादयो व्यक्तिविशेषाः परस्परं नानुयन्ति[9] तथापि समानपरिणाम[10]स्वरूपतया क्षयोपशमविशेषाविर्भूत[11]प्राक्प्रदर्शित[12]व्याप्तिग्रहणस्वरूपज्ञाने तथैव प्रतिभासमानाः सङ्केतविषयतामुपयान्त्येव, अगोरूपव्यावृत्तेषु सङ्केत-व्यवहारकालव्याप्तिमत्सु भावेष्वगोशब्दव्यावृत्तगोशब्दस्वरूपस्य सङ्केतितत्वाद् देशान्तरे कालान्तरे च ततः शब्दात् तदर्थप्रतिपत्तिरर्थाव्यभिचारिण्युपजायत एव। एकत्वं तु शब्दाऽर्थयोः शब्दप्रतिपत्तावनङ्गमेव, तदन्तरेणापि सङ्केतस्य कर्तुं शक्यत्वात् सार्थकत्वाच्च।

तेन 'ये यत्र भावतः' इत्यादिप्रयोगे[13] 'न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनयः' इत्यसिद्धो[14] हेतुः, यथोक्तवस्तुनि समयस्य प्रतिपादितत्वात्[15]।

यदपि[16] 'हिमाचलादिषु सङ्केतव्यवहारकालव्यापकेषु सङ्केतः सम्भविष्यति' इत्याशङ्क्य 'तेष्वप्यनेकपरमाणुरूपत्वान्न सङ्केतः' इति[17], तदप्ययुक्तम्; समानासमानैकपरिणतिरूपस्य वस्तुनः साधितत्वात्[18]।

यदपि[19] 'उदयानन्तरापवर्गिषु स्वलक्षणेषु सङ्केत उत्पन्नानुत्पन्नेष्वशक्यक्रियतः(क्रियः)' इति, तदप्यसङ्गतम्; एकान्तेनोदयानन्तरापवर्गित्वस्य भावेष्वसिद्धेः। अथान्ते क्षयदर्शनात् प्रागपि तत्स्वभावसिद्धेस्तत्सिद्धिः, नन्वेवमादौ स्थितिदर्शनादन्तेऽपि स्थास्नुतासिद्धेर्विपर्ययसिद्धिप्रसङ्गः। अथान्ते स्थैर्यानुपलब्धेर्न विपर्ययसिद्धिः, आदौ क्षणक्षयानुपलक्षणात् क्षणक्षयसिद्धिरपि न स्यात्। सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् क्षणक्षयस्यादावनुपलक्षणमिति चेत्, स्यादेतत् यदि कुतश्चित् क्षणिकत्वं[20] सिद्धं स्यात्, तच्चासिद्धम् तत्र साधकहेत्वभावात्। कृतकत्वात् तत्सिद्धिरिति[21] चेत्, न; साध्यसाधनधर्मभेदात्[22] सिद्धौ (भेदाऽसिद्धौ) ततस्तत्सिद्धेरयोगात्, योगे वा स्वात्मनोऽप्यात्मना[23] सिद्धिः स्यात्। न च व्यावृत्तिभेदात् कृतकत्वाऽनित्यत्वयोर्भेदः, यतस्तद्भेदः स्वतो[24] वा, व्यवच्छेद्याद् वा, आरोपाद् वा, बुद्धिप्रतिभासभेदाद् वा भवेत्? न तावत् स्वतः, स्वतो भेदे भेदस्य वस्तुत्वम्, वस्तुत्वे च कथं[25] न वस्तुत्वपक्षभावी दोषः? वस्तुनश्चानेकान्तात्मनो भेदाभेदात्मकतया सिद्धेः सिद्धो नः सिद्धान्तः। व्यवच्छेद्यभेदादपि न व्यवच्छेदभेदः, अनित्या(त्यत्वा)दिव्यवच्छेद्यस्य[26] नित्यादेर्व्यवच्छेद्यस्य वस्तुनोऽभावाद् भेदाभावप्रसक्तेः। कल्पितव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदेन तद्भेदाभ्युपगमे तत्र कल्पनाऽपि इतरव्यवच्छेदेन इत्यन्योन्यव्यवच्छेदेन व्यवच्छेदयोर्व्यवस्थितस्वरूपत्वात् कथं नेतरेतराश्रयदोषः?

---

१ निश्चितः प्र-वि०। २ पृ० १७४ पं० १२। ३ तस्यऽभे-भा० मा०। पूर्वपाठानुसारेण 'तस्य भेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे' इति संस्कार.। ४-नाभ्यु-आ०। ५-गम्यते वि०। ६ पृ० १७४ पं० १३। ७ पृ० १७४ पं० १७। ८-पि तत्रैव वा० बा०। ९ नानुपपत्तिस्तथा-भा० मा०। १०-णामः स्वरू-आ०। ११-विभूतिप्रा-भा० मा०। १२ पृ० २४६ पं० १६-२२। १३ पृ० १७४ पं० १९। १४ पृ० १७४ पं० २०। १५ अ० पृ० पं० १०। १६ पृ० १७६ पं० ६। १७ पृ० १७६ पं० ७। १८ पृ० २४२ पं० २१। १९ पृ० १७६ पं० ११। २०-त्वं स्यात् आ० वि०। २१ तथात्सि-वा० बा० हा०। तथा सि-आ० वि०। २२-दाप्यात्म सि-वा० बा० हा० विना। २३-स्वात्मनोप्यात्मनो सि-भा० मा०। स्वात्मनाप्यात्मना सि-आ०। स्वात्मना सि-वा० बा०। २४-तो व्य-वा० बा० विना। २५-थं वस्तु-वा० बा०। २६ अनित्यत्वादिव्यवच्छेदस्य नित्यादेर्व्यवच्छेदस्य वस्तुनो-वा० बा० हा०। अनित्यत्वादिव्यवच्छेद्यस्य वस्तुनोऽभावात्-आ० वि०।

अनित्यत्वादिव्यवच्छेदेन नित्यादिव्यवच्छेद्यस्य व्यवस्थायामनित्यादिव्यवच्छेदस्यापि नित्यादिव्यवच्छेद्याद् व्यवच्छेदेन बुद्धिप्रतिभासभेदादेव भेदोऽस्तु किं व्यवच्छेदस्य व्यवच्छेद्यभेदाद् भेदकल्पनया ? तथैव भेदाद् व्यवच्छेदस्य साध्यसाधनभावे शब्दत्वादेरपि बुद्धिप्रतिभासभेदेन भेदात् साधनभावः स्यात् । तथा च न कश्चित् प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः स्यात् । न च शब्दाच्छब्दत्वस्य न प्रतिभासभेदः; अन्यथा धर्मिधर्मव्यवस्थाऽभावप्रसक्तेः । अथ प्रतिभासभेदेऽपि व्यवच्छेद्यभेदाभावात् शब्दत्वस्य प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्, नन्वेवं भाव–द्रव्याभिधायिनोरभिधानयोरपर्यायता न स्यात् 'शब्द'शब्देन शब्दत्वस्याप्यभिधानात्; अन्यथा प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि न स्यात् ।

नाप्यारोपभेदाद् व्यवच्छेदस्य भेदः, सत्त्वादावसत्त्वाद्यारोपस्याभावात् भावे वा सत्त्वमप्यनित्यत्ववत् साध्यमनुषज्येत । तत्साधने च तद्धेतोरसिद्ध-विरुद्धाऽनैकान्तिकदोषत्रयानतिवृत्तिर्भवदभिप्रायेण । तत्र कृतकत्वाऽनित्यत्वयोः साध्यसाधनभावः भवदभिप्रायेण भेदाभावात् । अथ तयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि निश्चयवशाद् गम्यगमकभाव इति कृतकत्वं कृतकत्वाध्यवसायिना निश्चयप्रत्ययेन भेदेन निश्चीयमानमनित्यत्वस्य गमकम्, ननु ययोर्वस्तुगतयोः कृतकत्वाऽनित्यत्वयोस्तादात्म्यप्रतिबन्धः न तयोर्निश्चय इति न गम्यगमकत्वम्, ययोश्च विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनोर्भेदेन निश्चयः न तयोस्तादात्म्यनिबन्धनो गम्यगमकभावः, बुद्ध्यारूढयोरवस्तुत्वेन प्रतिबन्धाभावात् । अथ भेद एव तयोः कल्पनानिर्मितः न पुनर्वस्तुस्वरूपमपि, शब्दस्वलक्षणस्याकृतकनित्यव्यावृत्तनिरंशैकस्वभावत्वात् तद्गतकृतकत्वादिभिन्नधर्माध्यवसायिनश्च कृतकत्वादिविकल्पास्तथाभूतस्वलक्षणानुभवद्वारायातत्वेन तत्प्रतिबद्धास्तेन तत्प्रतिभासिनोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः अव्यभिचारश्च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धादुपपद्यत एव । स्यादेतत् यदि तथाभूतं स्वलक्षणं प्रत्यक्षत एव सिद्धं स्यात्, न च तत् ततः सिद्धम् स्वप्नेऽपि निरंशक्षणिकानेकपरमाणुरूपस्य तस्यासंवेदनात् । यादृग्रूपं तु तत् प्रत्यक्षे प्रतिभाति कृतकत्वाद्यनेकधर्माध्यासितं तन्न निरंशम्, यतस्तदनुभवद्वारायातकृतकत्वादिविकल्पप्रतिभासिनां धर्माणामव्यभिचारात् साध्यसाधनभाव उपपद्येत । न चानुमानविकल्पत एव तस्य तथासिद्धिः, प्रतिबन्धासिद्धावनुमानस्यैवाप्रवृत्तेः । सविकल्पकप्रत्यक्षस्य साध्यसाधनधर्मप्रतिबन्धग्राहकस्य धर्मिस्वरूपग्राहकस्य च प्रामाण्याभ्युपगमे शब्दादिधर्मिणः कृतकत्वाद्यनेकधर्मात्मकस्य सिद्धत्वाद् विवादाभाव एव । भवतु वा परपक्षे साध्यसाधनभेदः तथापि न साध्यसाधनभावः, तयोरविनाभावसाधकप्रमाणाभावात् ।

अथ 'निर्हेतुकत्वाद् विनाशस्य विनाशस्वभावनियतो भावः तद्भावे भावस्यान्यानपेक्षणात् अन्त्यकारणसामग्रीविशेषवत् स्वकार्योत्पादने' इत्यादिसाधनसद्भावात् कथं नाविनाभावः प्रकृतसाध्य-साधनयोः ? असदेतत् तयोरविनाभावसाधनम्, अनैकान्तिकत्वात् । तथाहि–अनपेक्षाणामपि शाल्यङ्कुरोत्पादने यवबीजादीनां तदुत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थायां तद्भावनियमाभावात् । अथ यवबीजादीनां तत्स्वभावाभावात् तत्स्वभावापेक्षयाऽनपेक्षत्वमसिद्धम् तर्हि विनाशस्वभावापेक्षत्वात् कृतकानामपि केषाञ्चित् तत्स्वभावाभावादनपेक्षत्वमसिद्धं स्यात् । अथ हेतुस्वभावभेदाभावात् सर्वसामग्रीप्रभवाणां विनाशसिद्धेस्तदनपेक्षत्वाच्चानपेक्षत्वमसिद्धम्, ननु विचित्रशक्तयो हि सामग्र्यो दृश्यन्ते, तत्र काचित् स्यादपि सामग्री या नश्वरात्मानं जनयेत् शृङ्गादिकेव शरादिकम् । अथ

---

१–च्छेद्यस्य वा० बा० । २–च्छेद्यस्य वा० बा० । ३–भासभेदात् वा० बा० । ४–धनाभा–भां० मां० ।–धनः भा–वा० बा० हा० । ५–स्थाभा–भा० मां० वा० बा० हा० विना । ६–कत्वाध्यवसा–वा० बा० । ७–योस्तदात्मप्रति–आ० । ८–न्धनयो ग–वा० बा० ।–न्धनयोगे–आ० हा० वि० । ९–स्तुरूप–बा० वा० । १०–सिनो ध–आ० वि० वा० बा० ।–सिना ध–हा० । ११–यदि यथाभूतं आ० वि० । १२–तं न तन्निरस्यं (रंशं) वा० बा० हा० । १३–सिनाद्ध–भा० मा० ।

१४ "शाल्यङ्कुरोत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थाया तदुत्पादनेऽन्यानपेक्षाणामप्येषां तद्भावनियमाभावात् । द्वितीयपक्षे तु विशेष्यासिद्धो हेतुस्तत्स्वभावत्वे सत्यप्यन्यानपेक्षत्वासिद्धेः । न ह्यन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनस्वभावाऽपि द्वितीयक्षणानपेक्षा तदुत्पादयति । दहनस्वभावो वा वह्निः करतलादिसंयोगानपेक्षी दाहं विदधाति । भागे विशेषणासिद्धं च तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्वं शृङ्गोत्थशरादीना क्षणिकस्वभावाभावात्"–प्रमेयक० पृ० १४५ प्र० पं० ५ ।

१५–दकं सा–भां० मा० विना । १६–धानाव्यव–वि० । १७–जानां भां० मा० विना । १८–वात् तत्स्वभावापेक्षत्वमसिद्धम् वि० । १९–स्तदान्यापेक्ष–वा० बा० हा० ।

विनाशित्वेनोपलब्धानां प्रतिक्षणं विनाशाभावे विनाशप्रतीतिरेव न स्यात्, द्वितीयेऽपि क्षणे भावस्य स्थितौ सर्वदा स्थितिप्रसङ्गात्, द्विक्षणावस्थायित्वे[1] हि द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थितिस्वभावत्वात्—अतत्स्वभावत्वे स्वभावभेदेन क्षणिकत्वप्रसङ्गात्—तृतीयेऽपि क्षणे[2]ऽवस्थानं स्यात् तदाऽपि तत्स्वभावत्वात् चतुर्थेऽपि। एवमुत्तरेष्वपि[3] क्षणे[4]ष्ववस्थानादासंसारं भावस्य स्थितेरविनाशाद् विनाशप्रतीतिर्न स्यात्। भवति च विनाशप्रतीतिः अतस्तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रतिक्षणविनाशानुमानं[5] दृश्यात्मकस्य कार्यस्य अदृश्यात्मनोऽप्याद्ये क्षणे यः स्वभावः प्रागभूत्वा भवनलक्षणः स एव चेत् द्वितीयेऽपि क्षणे प्रागभूत्वा भावस्य भावात् क्षणिकत्वम्। अथ प्रथमे क्षणे जन्मैव[6] न स्थितिः, द्वितीये[7] क्षणे स्थितिरेव न जन्म तथापि जन्मजन्मिनोः स्थितिस्थितिमतोश्चाभेदात् तयोश्च व्यतिरेकात् प्रतिक्षणम[8]नवस्थायित्वम् अपरापरकालसम्बन्धित्वस्य परस्परव्यतिरेकिणो भावस्वभावत्वाच्च प्रतिक्षणमनवस्थायित्वमिति सिद्धा विनाशं प्रत्यनपेक्षा भावस्य, असदेतत्, स्वहेतोरेवानेकक्षण[9]स्थायी भावो भूतक्षणे[10]ष्वभवन्, तिष्ठन् वर्तमानक्षणेषु, भविष्यत्क्षणेषु स्थास्यंश्चा[11]न्त्यपश्चिमे प्रथमक्षण एव जात इति कालेनाऽनागतादिना[12]ऽसताऽपि विशेष्यत्वं भावस्याविरुद्धं[13] कारणसामर्थ्यवत्[14] द्वितीयेऽपि[15] क्षणे न—अन्यथा कार्यकारणयोरेकदैवोत्पत्तेरेकक्षणस्थायि जगत् स्यात्—इति प्रागुत्पत्तेरभूत्वा भावेऽपि भावस्य द्वितीया[16]दिक्षणे न क्षणिकत्वम्। वस्तुतस्तु भावक्षणात् पूर्वक्षणेषु भूत्वा भावी स्वभावो भावस्य सर्वत्र[17]नान्त्यक्षणेनापि (?) विशिष्टो[18]ऽनन्तरातीतक्षण एव, प्रथमक्षणे तादृशस्वभावस्य[19] भावे द्वितीयादिक्षणेऽपि न क्षणिकत्वम्, अक्षणिकत्वा[20]विरोधात् भावक्षणात् पूर्वक्षणेष्वभूत्वा भावस्य द्वितीयादिक्षणेऽपि प्रथमक्षणस्वभावस्य भावे तत्स्वभावत्वेऽप्येकान्ततः क्षणिकत्वासम्भवात्। अथा[21]भूत्वा भावश्च प्रागसतः सत्त्वम्, तस्य द्वितीयेऽपि क्षणे भावान्न पूर्वापरक्षणयोः स्थित्युत्पत्तिमत्त्वेन स्वभावभेदाद् भावस्य क्षणिकत्वम्। नाप्यपरापरकालसम्बन्धो[22]ऽप्यपरापरस्वभावो[23] भवति परमाणुषट्कसम्बन्धेऽप्येकपरमाणुवत्। परमाणूनामयःशलाकाकल्पत्वात् परस्परमसम्बन्धः इति चेत्, असदेतत्, सम्बन्धे[24] प्रतीयमाने असम्बन्धकल्पनाऽयोगात्। कृत्स्नैकदेशसम्बन्धविकल्पयोगादसम्बन्धः। तथाहि[25]–सर्वात्मना परमाणूनामभिसम्बन्धेऽणुमात्रं[26] पिण्डः स्यात्। एकदेशेनाभिसम्बन्धे त एकदेशाः परमाण्वात्मन आत्मभूताः, परभूता वा? आत्मभूताश्चेत्, नैकदेशेनाभिसम्बन्धः तेषामभावात्। परभूताश्चेत्, परमाणुभिरेकदेशानां सर्वात्मनाऽभिसम्बन्धेऽभेदादेकदेशैकदेशिनोरेकदेशाभावान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः परमाणूनाम्। एकदेशैनैकदेशानामेकदेशिना[27]ऽभिसम्बन्धश्चेत्, तदेकदेशानां ततो भेदाभेदकल्पनायां तदव[28]स्थः पर्यनुयोगोऽनवस्था च; न च प्रकारान्तरं दृष्टं येनाणूनां सम्बन्धः स्यात् अतोऽनुपलभ्यमानस्यापि परमाण्व[29]सम्बन्धस्य कल्पना, असम्यगेतत्[30], असम्बन्धवत् सम्बन्धप्रकारान्तरस्यै[31]वादृष्टस्यापि कल्पना[32]प्रसक्तेः। सर्वात्मनैकदेशेन[33] वाऽणूनाम[34]-

---

१-त्वे द्वि-आ०। २ क्षणाऽव-भा० मा०। ३ एवमुत्तरोत्तरेष्वपि क्षणेषु स्थानादा-भा० मा०। ४ क्षणेषु स्थाना-वा० बा० हा०। ५-मानं दृश्यात्मनोऽप्या-आ० वि०। ६-व भावस्य न भा० मा०। ७-येऽपि क्ष-भा० मा०। ८-मवस्थायित्व-वा० बा०। ९-क्षणास्था-हा०। १०-क्षणेषु भ-वा० बा०। ११-श्चात्यपश्चि-वा० बा०।-श्चात्पश्चि-आ०। १२-ना सता-आ० वि०। १३-रुद्धकार-वा० बा०। १४-र्थ्यंव द्वि-वि० विना।-र्थ्यं चद्दि-आ०। १५-तीयपक्षे नान्यथा वा० बा०। १६-यादिलः क्ष-आ०। १७ सर्वत्र नान्त्य-भा० मा०। १८-शिष्टो अनन्त-वा० बा०। १९-दृशः स्व-वा० बा० हा०।-दृशास्व-आ० वि०। २०-कत्वाद्धि-आ० वि०। २१ अभूत्वा मा०। २२-म्बन्धेऽप्य-भा० मा०। २३-स्वभावोभावो भ-भा० मा०। २४ "कथं च सम्बन्धे प्रतीयमानेऽप्रतीयमानस्याप्यसम्बन्धस्य कल्पना प्रतीतिविरोधात्"—प्रमेयक० पृ० १५२ प्र० पं० ४।

२५ "किञ्चासौ रूपश्लेषः सर्वात्मनैकदेशेन वा स्यात्? सर्वात्मना रूपश्लेषेऽणूनां पिण्डा(?)णुमात्रः स्यात्। एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशास्तस्यात्मभूताः परभूता वा? आत्मभूताश्चेन्नैकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात्। परभूताश्चेत् तैरप्यणूनां सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च स्यात्"—प्रमेयक० पृ० १४९ प्र० पं० ४।

२६-मात्रः पि-भा० मा०।-मात्र पि-वि०। २७-कदेशिनोऽभि-वा० बा०। २८-वस्था प-वा० बा०। २९-माणूसम्ब-आ०।-माणुसम्ब-वि०। ३० तत्सम्ब-वा० बा० विना। ३१-रस्येवा-भा० मा० वा० बा० हा० विना। ३२-नायां प्र-भा० मा० वा० बा० हा० विना। ३३-न चाणू-आ० हा०। ३४-णूनां सम्ब-आ० वि०।

सम्बन्धात् सम्बन्धस्य च प्रतीतेः प्रकारान्तरेण एषां सम्बन्ध इति कल्पना युक्तियुक्तैव, प्रतीतिविरोधश्चैवं न स्यात्। अथ विकल्पिका प्रतीतिरारोपितगोचराऽसत्यपि सम्बन्धे सम्बन्धमादर्शयति, न तद्वशात् सम्बन्धव्यवस्था येन प्रतीतिविरोधः स्यादसम्बन्धवादिनः। कथं तर्हि सम्बन्धप्रतीतेर्वैशद्यम् विकल्पस्य वैशद्यानिष्टेः? युगपद्वृत्तेर्विकल्पाविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायाद् वैशद्यभ्रमे सहभाविनोर्गोदर्शनाश्वविकल्पयोरप्येकत्वाध्यवसायाद् वैशद्यविभ्रमः स्यात्। अथासम्बद्धैरपि परमाणुभिः सम्बन्धग्राहीन्द्रियज्ञानं तज्जन्यते ततोऽयमदोषः। नन्वेवमसम्बद्धानपि परमाणून् सम्बद्धानिवाध्यक्षबुद्धिरधिगच्छन्ती कथं भ्रान्ता प्रत्यक्षत्वमश्नुवीत? प्रत्यक्षत्वे वा कथमतो न परमाणुसम्बन्धसिद्धिः यतोऽसम्बन्धवादिनः प्रतीतिविरोधो न स्यात्? परमाणूनामसम्बद्धानां जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः।

अर्थक्रियाविरोधश्चासम्बन्धवादिनः वंशादीनां चैकदेशाकर्षणे तदपरदेशाकर्षणं च न स्यात्, वर्तमानविज्ञप्तिक्षणवत् पूर्वापरक्षणयोगेऽपि वा न स्वभावभेदः। अभावाव्यवधानलक्षणं हि नैरन्तर्यम्, तल्लक्षणश्च सम्बन्धः परेणाभ्युपगन्तव्य एव, तस्याऽभावे कार्योत्पत्तिरहेतुका स्यात् अनवरतसत्त्वोपलम्भेनाभेदभ्रान्तिश्च न स्यात् केवलादेव सादृश्याद् भ्रान्तेरुत्पत्तावतिप्रसङ्गः सर्वत्र सादृश्यात् तदुत्पत्तिप्रसक्तेः। सत्त्वोपलम्भश्चाभावाव्यवधानलक्षणमेव नैरन्तर्यम् तस्यास्तित्वे तल्लक्षणोऽस्त्येव सम्बन्धः। न चानेकाकारयोगेऽपि पीताद्यनेकाकारचित्रज्ञानवदेकान्ततो भेदः परार्थस्य प्रतीयमानेऽभेदे एकान्तभेदानुपपत्तेः। अतः क्षणिकस्वभावापेक्षाऽक्षणिकभावसम्भवात् सम्भविनी भावानाम्।

अथाऽनश्वरात्मनः क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततोऽर्थक्रियानिवृत्तौ तन्नियता सत्ताऽपि निवर्त्तते, न चासतः कार्यत्वमिति कार्यात्मनः सर्वस्य क्षणिकत्वादनपेक्षत्वसिद्धिरिति साध्य-साधनयोरविनाभावसिद्धिः। ननु किमनया परम्परया अविनाभावस्य व्यापकानुपलब्धेरेव सिद्धिरस्तु? यतः प्रकारान्तराभावाद् व्यापकानुपलब्धेः सत्त्वलक्षणं कृतकत्वमक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते वस्तुधर्मस्य सतो गत्यन्तराभावात्। भवत्वेवमेवेति चेत्, न; प्रकारान्तरसद्भावे कथमविनाभावस्य व्यापकानुपलब्धेरपि प्रसिद्धिः नित्याऽनित्यात्मकेऽपि भावे सति कृतकत्वस्य क्षणिकत्वेनैव व्याप्त्ययोगात्?

भागासिद्धं चानपेक्षत्वम् क्षणिकस्वभावापेक्षया कृतकानामपि केषाञ्चिदुभयात्मकत्वेन क्षणिकस्वभावाभावात्। विपक्षाद् व्यापकानुपलब्धेर्व्यावृत्तस्य हेतोरभीष्ट एव साध्याव्यभिचार इति चेत्, अक्षणिकवादिनोऽक्षणिकाव्यभिचारः किमेवं न स्यात्? तेनापि शक्यमेवमभिधातुम्–क्रमयौगपद्याभ्यां क्षणिकेऽर्थक्रियाविरोधः। तथाहि–एकसामग्र्यन्तर्गतयुगपदनेककार्यकारिण एकस्य स्वभावभेदमन्तरेण कार्यस्य भेदायोगात् स्वभावभेदवा(दिना)ऽनेकत्वप्रसङ्गान्नैकस्य युगपदनेककार्यकारित्वम्। कारणस्वभावशक्तिभेदमन्तरेणापि कार्यस्योपादानभेदाद् भेदमिच्छता शक्तिभेदोऽभ्युपगत एव उपादान–सहकारिभावेनानेककार्यजन्मन्येकस्य वस्तुक्षणस्योपयोगाभ्युपगमात् उपादान–सहकारिभावयोश्च परस्परं भेदात्। न चैकत्रोपादानभाव एवान्यत्र सहकारिभावः, कारणक्षणस्य

---

१–त्ता बुद्धियुक्तै–वा० वा० हा०।–त्ता युक्तै–आ० वि०। २ अर्थ वि–वा० वा० हा०। ३ विनो गो–वा० वा० हा० विना। ४ अर्थ स–वा० वा०। ५–म्बन्धैरपि भा० मा० विना। ६–ज्ञानं न जन्य–भा०मा०।–ज्ञानं जन्य–वा० वा० हा०। ७–म्बन्धान–भा० मा० वा० वा० हा० विना। ८–म्बन्धानि–भा० मा० वा० वा० हा० विना। ९–न्तीति क–भा० मा०।

१० "अर्थक्रियाविरोधश्चाणूनामन्योन्यमसम्बन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशाकर्षणे तदन्याकर्षणं चासम्बन्धवादिनो न स्यात्"–प्रमेयक० पृ० १५२ प्र० पं० ५।

११–वादिनां आ० वि०।–वादिना चैक–वा० वा०। १२–णस्य स–वा० वा० हा०। १३–स्वोप–वा० वा०। १४–लादेवासा–वा० वा०। १५–क्षणोऽस्त्य सम्ब–आ० वि०। १६–म्भविना भा–मा० वा०। १७–वर्तेत न भा०मा०। १८ न वा–वा० वा०। १९–या विना–वा० हा० विना। २०–स्यं ततो वि०। २१–न्तरास–भा० मा० विना। २२–द्धं वा–भा० आ०। २३–र्यस्याभेदा–वा० वा०। २४–गात् अभावभेद वा–भा० मा०।–गात् स्वभावभेदे वा वि० स०। २५–नभेदाभेदसि–वा० वा० हा०।–नभेदसि–आ० वि०। २६–नानैक–भा० मा० विना। २७–स्परभेदा–भा० मा०।

तथाभ्युपगमे सहकार्युपादानभावयोरभेदात्[1] तत्कारणं सहकारि उपादानं वा यतः प्रसज्येत यद्युपादानं न[2] तद्युपादानभेदात् कार्यभेदः सर्वं प्रत्युपादानत्वात्। सहकारित्वे चोपादानस्यैवाभावात्[3] कुतस्तद्भेदात्[4] कार्यभेदः? एवमपि यदि क्षणस्यैकत्रोपादानभाव एवान्यत्र सहकारिभाव इति न शक्तिभेदस्तह्यक्षणिकस्याप्येकदैककार्यकारित्वमेवान्यदाऽन्यकार्यकारित्वमिति क्रमेणानेककार्यकारिणो न स्यात् शक्तिभेदः। न च पूर्वापरकार्यकारित्वयोरभेदादुत्तरकार्यकारित्वस्य प्रागेव सम्भवात् तदैवोत्तरकार्योत्पत्तिः स्यादिति वक्तव्यम्, क्षणिकत्वेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि–कारणसत्ताकाले तदनन्तरभाविकार्यकारित्वस्य सद्भावात् तदैव तत्कार्योत्पत्तिः स्यादिति कार्य-कारणयोरेककालता-प्रसक्तिः। न चोपादानभेदादेव कार्यस्य भेदः, गोदर्शनसमयेऽश्वं[10] विकल्पयतो[11] मनस्कारलक्षणोपादानभेदाभावेऽपि सविकल्पाऽविकल्पयोः परेण भेदाभ्युपगमात्, तद्भेदेऽपि च तदुत्तरकालभाविनोऽनुसन्धानस्याभेदान्नोपादानभेदाद् भेद एवोपादेयस्य। अतः शक्तिभेदादेव भेदः कार्यस्य, शक्तिश्च भिन्नाऽभिन्ना शक्तिमतः[12]–तद्ग्रहणेऽप्यग्रहणाद् भिन्ना, कार्याऽन्यथानुपपत्त्या च तत्रैव प्रतीयमाना सा ततोऽभिन्ना।

व्यतिरेके[13] शक्तिमतः शक्तेः अशक्तात्[14] कार्यानुपपत्तेः। न च व्यतिरिक्तायाः शक्तेरेव कार्योत्पत्तिर्भविष्यति, शक्तिमतोऽकारकत्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्[15]। न च शक्तिमतोऽपि कारकत्वम्, तस्याऽसामर्थ्यात्। न च शक्तियोगात् तस्य शक्तत्वम्, अशक्तस्य भिन्नशक्तियोगेऽपि शक्तत्वानुपपत्तेः[16] शक्तेस्तत्रानुपयोगात्; तदुपयोगे वा शक्तितः शक्तिमत उत्पत्तिरभ्युपगता स्यात्। तथा च स्वहेतोरेव शक्तस्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या किमर्थान्तरभूतशक्तिपरिकल्पनया? शक्तस्य[17] च स्वहेतोरेव तस्योत्पत्तौ किं शक्तियोगपरिकल्पनेन?

नापि शक्तिमतः शक्तिरसिद्धैव[18] शक्तिमद्ग्रहणेऽपि अगृहीतत्वात्, शक्तिः गृहीतैव तद्ग्रहणे केवलमतत्फलसाधर्म्यात् विप्रलम्भो[19] न तां व्यवस्यति, असदेतत्; सर्वतो व्यावृत्तवस्तुवादिनां विप्रलम्भनिमित्तस्य वस्तुभूतसाधर्म्यस्याभावात्[20]। न चैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वेन साधर्म्यमभ्युपगन्तव्यम्, चक्षूरूपाऽऽलोक-मनस्कारेष्वपि तस्य प्रसक्तेः। तस्माद् भ्रान्तिनिमित्ताभावाद् यदि शक्तिरनुभूता तदा तथैव निश्चीयेत[21], अनिश्चयान्नानुभूतेत्यवसीयते[22], अतस्ततः[23] कथञ्चिदभिन्नापि। न च भेदाभेदयोर्विरोधः, अबाधिताकारप्रत्ययविषयत्वात् तयोः यथा परपक्षे एकक्षणस्य[24] स्व-परकार्यकरणाऽकरणयोः। न चैकक्षणस्य स्वकार्यकरणमेव परकार्याकरणमित्यादि वक्तव्यम्, विहितोत्तरत्वात्[25]। निरंशे च क्षणे शक्तिभेदादपि न कार्यस्य भेदः, शक्तिभेदाभावात् निरंशत्वादेव। तन्न क्षणिकस्याक्रमकारित्वम्[26]। नापि क्रमेकार्यकारित्वं[27] तस्य युक्तम्, द्वितीयक्षणे क्षणिकस्याभावात्। अनेककालभाविकार्यकारित्वं ह्येकस्य क्रमकारित्वम् तच्चैकक्षणस्थायिनि भावे कथमुपपद्येत[28]? क्रमवत्क्षणापेक्षया स्वतोऽक्रमस्यापि क्रमकारित्वे क्षणिकस्य अक्षणिकस्यापि क्रमवत्सहकार्यपेक्षयाऽक्रमस्यापि क्रमकारित्वं किं नेष्यते? स्वतोऽक्षणिकस्याऽक्रमत्वेऽक्रमेणैव[29] किं न कार्योत्पत्तिः अनाधेयातिशयस्याक्षणिकस्य कालान्तरसहकारिप्रतीक्षाऽयोगादिति[30]? न, अक्षणिकस्यानाधेयातिशयस्यापि कार्यकारित्वस्य कालान्तरनियतत्वात् क्षणिकस्येव[31] सहकारित्वस्य[32] चैककार्यकारित्वलक्षणत्वाद्[33] युक्ता सहकारिप्रत्ययापेक्षाऽक्षणिकस्य। क्षणिकस्यापि ह्यनतिशयत्वात् सहकारिणि कालान्तरे वा नातिशयाधायकत्वेना-

१–दान्न का–वि०। २ न तद्युपा–वा० बा०। ३–नस्य चाभा–वि०। ४–त् कुतस्त–वा० बा०। ५–दा कारि–आ० वि०। ६–दान्येका–वा० बा०। ७–त्वयोर्भे–भा० मा० वा० बा० हा० विना। ८–कत्वे घास्य समा–वा० बा० हा०। ९–त्वप्र–भा० मा०।–त्वप्र–वा० बा० हा०। १०–गोर्दे–भा० मां०। ११–यतो नमस्का–भा० मा० विना। १२–मतः तग्रहणाद्धि–भा० मा० विना। १३ व्यतिरेकिके शक्ति–भा० मा० वा०, बा० हा० विना। १४ असत्कार्या–वा० बा०। १५–स्तुप्रस–आ० वि०। १६–पत्तिः भा० मा०। १७–क्तस्य हे–वा० बा०। १८–च प्रशक्तिमद्ग्रहणेऽपि अगृहीतत्वा शक्तैः ऽगृहीतैव बा० बा०। १९–लब्धे न आ०।–लब्धौ न वि०। २०–स्तुरूपसा–भा० मा०। २१–श्चीयते हा० विना। २२–भूते व्यव–आ० वि०। २३ अतः स्वतः कथ–वा० बा०। अतस्तत् कथ–भा० मा०। २४ एव लक्ष–वा० बा०। २५ प्र० पृ० पं० ८। २६–मपकारि–वा० बा० हा०। २७–मकारि–आ०। २८–पद्यते भां० मां० विना। २९–क्रमवत्वे–भा० मा०।–क्रमाव क्र–आ०। ३०–कारितप्र–वा० बा०। ३१–कस्यैव सह–भा० बा० हा०। ३२–त्वस्य वैक–आ० बा० वा०।–त्वस्यैवैक–वि०। ३३–णस्याद्युक्ता भा० मा०।

पेक्षा—क्षणस्याविवेकात्—किन्तु कालान्तरभाव्येककार्यकारित्वेन सहकारिसहायस्यैव च सामर्थ्यात् अन्यथा सामग्री न ज (न ज) निका स्यात्, एकस्मादेव कार्योत्पत्तेः द्वितीयक्षणापेक्षा च न स्यात्, आद्यक्षण एव कार्यस्योत्पत्तेः। परस्परोपकारित्वं च सन्ताने एककार्यकारित्वमेव, क्षणात् सहकारिणः क्षणस्यापि कारिणोऽनुपकारात् सर्वत्रैकार्थकारित्वमेव सहकारित्वम्, अतोऽनुपकारिण्यपि सहकारिणि कालान्तरे वाऽपेक्षासम्भवात् क्रमवत्सहकार्यपेक्षयाऽक्रमस्यापि क्रमकारित्वं किं न भवेत्? न चानेकस्मात् क्रमेणानेककार्योत्पत्तौ क्रमकारित्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। अक्षणिकेऽपि चानेककालभाविन्यस्य प्रसङ्गस्य समानत्वात्। न चैकत्वाध्यवसायेनैकस्यैव क्षणप्रबन्धस्य क्रमकारित्वं युक्तम्, भिन्नानामभेदाध्यवसाये निमित्ताभावात्। न सादृश्यं तन्निबन्धनम्, सर्वथा सादृश्यस्य पूर्वोत्तरक्षणेष्वभावात्, भावे वोत्तरक्षणस्य सर्वथा पूर्वक्षणसदृशत्वात् पूर्वक्षणवत् पूर्वकालताप्रसक्तिरिति सर्वस्या(स्याऽपि) क्षणप्रबन्धस्यैककालत्वान्न कार्यकारणभावः। कथञ्चित् सादृश्येऽनेकान्तसिद्धिः, नाभाद्यर्थयोरपि सादृश्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायश्च स्यात्, ततोऽभेदाध्यवसायाभावात् तदवस्थ एवातिप्रसङ्गः। तदेवं क्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततोऽर्थक्रियालक्षणसत्त्वविशिष्टं कृतकत्वं निवर्तमानं गत्यन्तराभावादक्षणिकाद्यवकाशमिति साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धं स्यात्।

अनैकान्तिकं च क्रम-यौगपद्याभ्यामनर्थक्रियाकारिणोऽपि कार्यत्वसम्भवात्। तथाहि—शब्द-विद्युत्-प्रदीपादिचरमक्षणानामन्यत्रानुपयोगेऽप्यवस्तुत्वेन नाकार्यत्वम् अशेषतत्सन्तानस्यावस्तुत्वप्रसङ्गात्। न च समानजातीयकार्याऽनारम्भेऽपि योगिविज्ञानलक्षणविजातीयकार्यका(क)रणान्न सर्वथाऽनर्थक्रियाकारित्वं शब्दादिचरमक्षणानाम्, सजातीयानुपयोगे विजातीयेऽपि तेषामनुपयोगात्, उपयोगे वा न रसादेरेककालस्य रूपादेरव्यभिचार्यनुमानं स्यात्, रूपादेरपि शब्दाद्यन्तक्षणवत् सजातीयकार्यानारम्भसम्भवाद् रूप-रसयोरेकसामग्र्यधीनत्वेन नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वेऽन्यत्रापि प्रसङ्गः योगिविज्ञान-शब्दाद्यन्तक्षणयोरपि समानकारणसामग्रीजन्यत्वात्। न चैकत्रानुपयोगिनश्चरमस्यान्यत्रोपयोगो युक्तः अन्यथा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनोऽपि स्वज्ञानानुपयोगेऽपि ज्ञानस्यार्थज्ञाने उपयोगसम्भवात् स्वज्ञानजननासमर्थस्य ज्ञानस्यार्थज्ञानजनने सामर्थ्यसम्भवान्नैवार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। ततोऽनर्थक्रियाकारिणोऽक्षणिकस्य यद्यवस्तुत्वेनाकार्यत्वम् चरमक्षणस्यापि तत् स्यात् सर्वथाऽनर्थक्रियाकारित्वात्। अथानर्थक्रियाकारिणोऽपि चरमक्षणस्य कार्यत्वम् न तर्ह्यक्षणिके कृतकत्वं क्षणिकवादिना प्रतिक्षेप्तव्यम् न्यायस्य समानत्वात्।

सन्दिग्धव्यतिरेकश्च 'कृतकत्वात्' इति हेतुः, विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात्। व्यापकानुपलब्धिर्हि विपक्षे बाधकं प्रमाणम्, तस्याश्च विपक्षे क्षणिकत्वलक्षणे प्रत्यक्षवृत्तिर्बाधकं प्रमाणम्। न च विपक्षे क्षणिकत्वे प्रत्यक्षवृत्तिः सिद्धा, क्षणक्षयात्मनि प्रत्यक्षनिश्चिते क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियोपलब्धेरनिश्चयात्। न चाक्षणिकस्यासत्त्वात् प्रकारान्तरस्य चाभावात् क्षणिकेष्वेवार्थक्रियोपलब्धिरिति वक्तुं शक्यम्, अक्षणिकस्याद्याप्यभावासिद्धेः। व्यापकानुपलब्धेस्तदभावसिद्धिश्चेत्, न; विपक्षे प्रत्यक्षवृत्तौ व्यतिरेकसिद्ध्यानुपलब्धेरक्षणिकाभावगतिः तत्प्रतिपत्तौ च गत्यन्तराभावाद् विपक्षे प्रत्यक्षप्रवृत्तिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। अथाक्षणिकस्यासत्त्वसाधने सत् (सन्) विपक्षो भवति न क्षणिकः, सति च विपक्षेऽध्यक्षवृत्तिरस्त्येव, नैतत् सारम्; यतो द्वैराश्ये कोऽपरो भावः क्षणिकव्यतिरिक्तः सन् योऽक्षणिकाभावसाधने विपक्षः स्यात्? गत्यन्तरसद्भावे वा कथं प्रकारा-

१-कार्योकारि-वा॰ वा॰। २-मग्री त जनिका वि॰।-मग्रीतः जनिका आ॰।-मग्री जनिका वा॰ बा॰ हा॰। ३ स्यादेककार्यो-वा॰ बा॰। ४-या क्रम-भा॰ मा॰ विना। ५ भावे चोत्तर-भा॰। ६ सर्वस्य क्षण-वि॰ सं॰। ७-यश्च ततो आ॰ वि॰। ८ तदेतदेवं वा॰ बा॰ हा॰। ९-क्षणं स-आ॰ भा॰ मा॰।-क्षणसत्त्वं निवर्त-हा॰। १०-नत्वे नि-भा॰ मा॰ वा॰ बा॰ विना। ११ कार्यत्वया-आ॰ हा॰ वि॰। कार्यतया-वा॰ बा॰। १२-ज्ञानदर्शनवा-आ॰ हा॰ वि॰। १३-पयोगि पि ज्ञा-वा॰ बा॰ हा॰। -पयोगिज्ञा-आ॰ वि॰। १४-त्वादि हे-वा॰ बा॰। १५ न वा-भा॰ मा॰ विना। १६-सिद्धानु-आ॰। १७-लब्धे क्ष-वा॰ बा॰। १८ सन् विपक्षे भव-वि॰। सत्र विपक्षे भव-आ॰। सन्धिक्षेपो भव-वा॰ बा॰। १९-ति न क्षणिक सति बा॰ बा॰।-ति न क्षणिके सति वि॰।-ति तत्क्षणिके सति आ॰। २०-कः सत् योऽक्ष-वि॰।

न्तराभावाद् व्यापकानुपलब्धेरक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानं सत्त्वमनित्यत्वं व्याप्नुयात् तदन्यस्यापि सत्त्वात्?

अथ क्षणिक एव भावः प्रतिक्षणमनुपलक्षितविनाशः सत्त्वमात्रेणोपलक्ष्यमाणो विपक्षः, तत्र क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियोपलब्धिरस्तीति। ननु कथं क्षणिकत्वेन विपक्षस्यानिश्चये तत्रैवार्थक्रियोपलब्धिर्नान्यत्रेत्यवसीयते तयोर्विशेषानुपलक्षणात् अक्षणिकत्वप्रतीतेरुभयत्राविशेषात्? पारिशेष्यादत्रैवार्थक्रियोपलब्धिश्चेत्, कुतः पारिशेष्यसिद्धिः? यदि व्यापकानुपलब्धेस्तदेतदितरेतराश्रयत्वं प्रतिपादितम्। अतो विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात् सन्दिग्धव्यतिरेकः 'कृतकत्वात्' इति हेतुः। न चाक्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारिण्यर्थक्रियाविरोधः, तत्रैव क्रमाऽक्रमजन्मनां कार्याणां जननात्। अथाक्षणिकजन्मनां कार्याणामक्रमेणैव स्याज्जन्म तज्जननस्वभावस्याक्षणिकस्य सर्वदा भावात् अविकारिणोऽन्यानपेक्षत्वादविरतिप्रसङ्गश्च अन्यथा द्वितीयादिक्षणेऽजननादवस्तुत्वप्रसक्तिः, तस्मिन्नपि क्षणे स एव प्रसङ्गः तदैव तज्जन्मनां सर्वेषामप्युत्पत्तिः तदुत्पादनस्वभावस्य प्रागपि सद्भावादित्यतो न कथञ्चिदक्षणिकस्यार्थक्रिया, असदेतत्; क्षणवदक्षणिकस्याविकारिणोऽपि न विरोधः सहकार्यपेक्षया, नहि क्षणस्यापि विकारोऽस्ति, अपेक्षणीयात् तस्य विभागाभावात् विभागित्वे वा क्षणस्य न क्षणः स्यात्। न वा विभागिनोऽपि क्षणस्य विकारित्वम्, तथाभ्युपगमेऽक्षणिकस्याप्यपेक्षणीयकृतो विकारोऽक्षणिकविरोधी न भवेत्। अविकारिणोऽपि क्षणस्य सापेक्षत्वे पराऽपेक्षाऽविकारिणोऽप्यपेक्षणीयादक्षणिकस्यापि स्यात्। ततश्च कथमक्षणिकस्याविकारिणोऽपेक्षणीयात् क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधो भवेत्? सापेक्षत्वे हि यथाप्रत्ययं क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वमक्षणिकस्य युक्तमेव। अत एव नाविच्छेदेन जनकः, सर्वदा सहकारिप्रत्ययसन्निधानायोगात्।

केवलस्यैव सामर्थ्ये सहकार्यपेक्षया न किञ्चिदिति केवल एव कार्यं कुर्यात्। असामर्थ्येऽन्यसाहित्येऽपि न सामर्थ्यम् अनाधेयातिशयत्वेन पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानाभावात् उभयथापि व्यर्थमक्षणिकस्यार्थान्तरापेक्षणमिति चेत् क्षणिकेऽपि समानोऽयं प्रसङ्गः। तथाहि—क्षणयोरपि प्रत्येकमसामर्थ्ये एककालयोः सहितयोरपि तयोरसामर्थ्यम् अप्रच्युताऽनुत्पन्नपूर्वापररूपत्वात्। समर्थयोरपि किं परस्परापेक्षयेति तयोरन्यतरत् केवलमेव जनयेत् नापरम्, तद्देशावस्थानेऽपि वैयर्थ्यात् कार्यनिष्पत्तेरन्यतरेणैव कृतत्वात्। अतो न सामग्रीजनिका भवेत्। तथा चैकस्मादेव कार्यस्योत्तरोत्तरपरिणामात्मतयोत्पत्तेर्न परिणामेऽपि कारणान्तरापेक्षो भवेत्, अनपेक्षे(क्ष्यै)व कारणान्तराणि परिणामान्तराणि जनयेत् केवलस्यैव सर्वत्र सामर्थ्यात्। असामर्थ्येऽविभागस्यान्येनापि न किञ्चित् क्रियत इत्यकिञ्चित्करोऽपि नैदेककार्यकरणादन्यो यदि तदुपकार्यभ्युपगम्येत तदाऽक्षणिकस्याप्येवं किमुपकारि सहकारिकारणं न भवेत्? परस्परमेकसामग्र्यधीनतोपकारस्तदुपकारवतोः क्षणयोः, तदेव स्वकार्योपयोगित्वं तयोरिति चेत्, तर्हि अन्त्यक्षणस्यापि स्वविषयसर्वज्ञज्ञानोत्पादनेनैकसामग्र्यधीनतालक्षण उपकारोऽस्तीति सजातीयकार्योपयोगित्वं किं न स्यात्? अथैकसामग्र्यधीनतोपकारित्वेऽप्यसामर्थ्यान्न सजातीयकार्योपयोगित्वं चेत्, नन्वेवमेकत्रासमर्थस्यान्यत्र योगिविज्ञाने स्वग्राहिणि कथं सामर्थ्यमिति वक्तव्यम्? इत्थंभूतस्यापि सामर्थ्ये नैयायिकस्यापि स्वग्राहिज्ञानजननाऽसमर्थस्यार्थज्ञाने सामर्थ्यं किं न स्यात्—येना(येन ना)र्थचिन्तनमुत्सीदेदिति

---

१ पृ० २५५ पं० २२। २-त्वादिहैं-मा० मा०।-त्वादिहे-वा० वा०। ३ न चा-वा० वा० आ० हा०। ४ तथैव मा० मा०। ५-दनास्त-वा० वा०। ६-वत् क्षणिकस्या-वा० वा०। ७-र्यपेक्षणे न हि मा० मा०। ८ क्षणकस्या-मा० मा० वा० वा० विना। ९ क्षणिकस्य वि०। क्षणिस्य हा०। १०-क्षया कृतो वा० वा०। ११-कारो न भ-मा० मा० विना। १२-पि सर्वस्य सा-वा० वा०। १३-कस्य वि-वा० वा० हा०।-कस्यो वि-आ०। १४-त्यये क्र-वा० वा०। १५-मर्थ्ये इन्यसा-हा०।-मर्थ्ये इत्यसा-आ० वि०। १६ क्षणेकयोरपि वा० वा०। १७-कसा-आ० हा० वि०। १८-मर्थ्ये वा० वा०। १९-क्षयोपि तयो-वा० वा०। २०-तरत्वात् के-आ०।-तरत्वत् के-वि०।-तरयेत् के-हा०। २१-त् परं मा० मा० वा० वा० विना। २२-क्षाभावात् मा० मा०। २३-नपेक्षोप का-वा० वा०।-नपेक्षेव का-हा०। २४ तदेवकार्यकारणा-वा० वा०। २५-कारिकरणं वा० वा०। २६ अन्तक्ष-वा० वा०। २७-ज्ञानोपादानेनैक-मा० मा० वा० वा०। २८-त्वं न मा० मा० वा० वा० विना। २९-कस्य सा-वा० वा०।

तस्य दूषणं स्यात्—इत्येकत्र समर्थस्यान्यत्रापि सामर्थ्यमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथैकत्रापि न स्यादित्यवस्तुत्वं तस्य भवेत्। न च सर्वत्रैकसामग्र्यधीनतोपकारः, भिन्नदेशकारणकलापसमवधानहेतूनामेकसामग्र्यधीनतोपकाराभावेऽपि स्वकार्योपयोगोपलब्धेः। न च तेषामप्येकसामग्र्यधीनतोपकारः सम्भवति, अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां परस्परोत्पादने[2] सामर्थ्यानवधारणात् तेषाम्; नहि कुशूलादिस्थस्य[3] बीजादेरुदकादिभावानुविधानेन प्रतिसन्धानमनुभूयते तथापि तत्कल्पनायामतिप्रसङ्गः ततो नैक-[4]सामग्र्यधीनताप्युपकारः इत्यनपेक्षोऽनुपकारी स्यात्, अपेक्षत्वे अक्षणिकस्याप्यपेक्षा[5]प्रतिक्षेपोऽयुक्तः[6] स्यात्। अथ क्षणयोः पृथक् सामर्थ्यं नास्ति, स्वहेतोः सहितयोरेवोत्पन्नयोः पृथगसमर्थयोरपि सामर्थ्यमभ्युपगम्यते, नन्वेवमक्षणिकस्यापि तदन्यसहायस्यैव सामर्थ्यं किं नाभ्युपगम्यते[7]? स्वहेतुप्रतिनियमाद् युक्तं क्षणिके सामर्थ्यम् नाक्षणिक इति चेत्, नन्वेवमक्षणिकेऽपि[8] स्वहेतुप्रतिनियमात् सामर्थ्ये को विरोधः? स्वहेतोस्तदन्यापेक्षया समर्थस्योत्पन्नस्याक्षणिकस्यान्यसन्निधिकाल[9][10] एवाऽक्षेपेण कार्यकारित्वं स्यात्[11]। अन्यानपेक्षत्वादपेक्षणीयस्यापि[12] सन्निहितत्वादुत्तरोत्तरपरिणामस्याप्येकत्वेनासत्त्वादिति चेत्, न; कालान्तरभाविकार्यकारित्वलक्षणस्याक्षणिकस्यान्यानपेक्षत्वेऽपि[13] कालान्तरापे-[14]क्षत्वात् क्षणवदक्षेपेण न कार्योत्पादकत्वम्। यथा हि अन्यसहायस्याद्ये क्षणे समुत्पन्नस्य क्षणस्या[15]न्यानपेक्षत्वेऽपि [16]द्वितीयक्षणापेक्षत्वान्न[17] प्रथमक्षण एव कार्यारम्भकत्वम् अन्यथा कार्य-कारणयोरेकदैवोत्पत्तेर्द्वितीयक्षणे[18] जगद् वस्तुशून्यम् अक्षणिकं वा स्यात् तथाऽक्षणिकस्यापि कालान्तरापेक्षत्वान्नोत्तरपरिणामापेक्षकार्येऽक्षेपोत्पादकत्वम्[19][20]। अथ प्रागकारकस्वभावस्य पश्चादपि कथं कारकत्वम् अक्षणिकस्य कारकाकारकावस्थाभेदादेकत्वहानेः? न; अस्यान्यत्रापि समानत्वात्। तथाहि—[21]आत्मसत्ताकालेऽकारकस्वभावस्यापि[22] क्षणस्य द्वितीये क्षणे कारकत्वम् अन्यथैककालत्वं कार्य-कारणयोः स्यादित्युक्तम्[23]। न चैकदा कारकत्वमेवान्यदाऽकारकत्वं तत्रेति युक्तम्, अक्षणिकेऽप्यस्य समानत्वात्। नापि क्रमेणाऽक्षणिकस्यानेककार्यकारित्वमयुक्तं तत्स्वभावभेदेनैकत्वहानिप्रसक्तेरिति वक्तव्यम्, यतो नाक्षणिकस्योत्तरकालभाविकार्यकारित्वमन्यदेककार्यकारित्वात्[24] ‘यतः स्वभावभेदादेकत्वं न स्यात् अक्रमेणानेककार्यकारि एकक्षणवत्, क्षणे ह्येकत्रोपादानभाव एवान्यत्र सहकारिभाव इत्यनेककार्यकारित्वेऽपि न स्वभावभेदः। पूर्वापरकार्यकारित्वयोरभेदेऽप्यक्षणिके न तद्भावभाविकार्याणामक्रमेणोत्पत्तिर्युक्ता[25], तदुत्पत्तिप्रत्ययवैकल्यात्[26]। तथाहि—[27]यद् यदोत्पित्सु कार्यं तत् तदेव[28] तदुत्पत्तिप्रत्ययापेक्षया[29], अक्षणिकस्य कर्तुं सामर्थ्यं प्रागेवास्तीति न स्वभावभेदः अक्रमेण कार्योत्पत्तिर्वा[30]। तदुक्तम्—

> "यद् यदा कार्यमुत्पित्सु तत् तदोत्पादनात्मकम्।
> कारणं शक्तिभेदेऽपि न भिन्नं क्षणिकं यथा" ॥ [ ]

अथ विद्यमानोऽपि कार्यकारणभावोऽक्षणिके दुरवसेयः व्यतिरेकाभावात्, असदेतत्; उत्पत्तिमतोऽव्यापिनोऽक्षणिकस्योत्पत्तेः प्रागन्यत्र[31] वा सतो देशकालव्यतिरेकात् कथं व्यतिरेकाभावः? कालव्यापिनोऽपि च नित्यस्य देशव्यतिरेकात् सर्वत्र चायमेव व्यतिरेको न व्यतिरेकान्तरमस्ति। यतो न कश्चिदग्न्यादिकारणसामान्यव्यतिरेकी कालो विद्यते, कालव्यतिरेकिणो विशेषस्यैव कारण-

---

१–कार भि–भा० मा० वा०। २–स्परोपदाने वा० बा०। ३ कुसूला–वा० बा०। ४ नैका सा–वा० बा०। ५–स्यापे–वि०। ६–पो युक्तः हा० वि०। ७–म्यते स्या स्व–वा० बा०। ८ नन्वक्ष–भा० मा० विना। ९–न्नस्याऽन्यसन्नि–वा० बा०। १०–कन्यसन्नि–आ० हा० वि०। ११–स्याद‌तोऽन्या–वा० बा०। १२–न्यापक्ष–वा० बा०। १३–क्षत्वे का–आ० हा० वि०। १४–राक्षेपत्वा–वा० बा०। १५–स्यात्मानपे–भां० मां० विना। १६ द्वितीयक्षणत्वान्न वा० बा०। १७–णापेक्षान्न आ० हा० वि०। १८–तीये क्ष–भा० मा०। १९–त्तरोत्तरा(र)परि–वा० बा०। २०–कार्येऽपेक्षोत्पाद–भा० मा०। २१–आत्मन स–वा० बा०। २२–स्या क्ष–आ० हा० वि०। २३ प्र० पृ० पं० १५। २४–न्यदेक–वा० बा० विना। २५–णां क्र–वा० बा०। २६–यविकल्प्यात् आ० वि०।–यविकल्पात् हा०। २७ "यथैव हि क्षणिकं कारणं यद् यदा यत्र यथोत्पित्सु कार्यं तत् तदा तत्र तथोत्पादयति, तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः सिध्यतीति कल्प्यते तथा नित्यमपि कारणं यद् यदा यत्र यथा फलमुत्पित्सु तत् तदा तत्र तथोपजनयति, तस्य तादृशसामर्थ्ययोगात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य कालनियमः किं न कल्पयितुं शक्यः?"–अष्टस० पृ० ९० पं० ८। २८ तदेव भा० मा०। २९–या क्ष–भा० मा० वा० बा० विना। ३०–णं वा कार्योत्पत्तिः तदु–भा० मा०। ३१–त्र चासतोपदेश–भा० मां०।

त्वेऽपि सामान्योपादानम् सामान्य एव प्रतिबन्धावधारणाद् अन्यथा व्याप्त्यसिद्धिः। यतो यदेव प्रतिबन्धावधारणकाले प्रतिबद्धस्य प्रतिबन्धविषयतयाऽवधार्यते तस्यैव कालव्यतिरेकोऽन्यो वा दर्शनीयः। न चास्ति तथाभूतस्य कालव्यतिरेक इति सर्वत्र देशव्यतिरेक एव युक्तः अस्य सर्वत्र सम्भवात्, व्यापिनोऽपि नित्यस्याव्यतिरेकात् सामर्थ्यानवधारणेऽपि तत्सम्भवाविरोधात् सन्दिग्धासिद्धोऽक्षणिको हेतुः स्यात्। अथान्वयादपि सामर्थ्यं निश्चीयते न केवलादेव व्यतिरेकात् अतिप्रसङ्गात् न चात्रान्वयोऽस्ति, प्रागविकलेऽपि कारणे कार्यानुत्पत्तेः अविकले च कारणे कार्यमनुत्पन्नं तस्याजनकात्मकत्वं सूचयति, पश्चादपि अनकत्वविरोधात् तस्यैकस्वभावत्वात्, न; अस्य दूषणस्यान्यत्रापि समानत्वात्। तथाहि-प्रथमे क्षणेऽविकलेऽप्यन्त्यकारणसामग्रीविशेषे कार्यानुत्पत्तेरविशेषात् द्वितीयेऽपि क्षणे कार्योत्पत्तिविरोधः स्यात्। एवमन्वय-व्यतिरेकाभ्यामव्यापिनि नित्येऽक्षणिके च सामर्थ्यसिद्धेः असिद्धोऽर्थो(र्थ)क्रियाविरोध इत्यर्थक्रियालक्षणसत्त्वविशिष्टं कृतकत्वं न निवर्तयितुमलम्। एतेन सामान्यस्य नित्यत्वादनर्थक्रियाकारित्वेन निरस्तमवस्तुत्वम्। न च सामान्यभाविनः कार्यस्यैवासम्भवात् तस्यानर्थक्रियाकारित्वम्, न नित्यत्वात् न हि जातिर्वाह-दोहादिकार्यकारिणी अविशेषेऽपि तस्याः कार्यविशेषात् विशिष्टे वा तदेकत्वहानिरिति वक्तुं युक्तम्, यतो न वाह-दोहादिकमज्ञानरूपमेव कार्यम् यतस्तदभावादवस्तुत्वं स्यात् यावता विज्ञानलक्षणमपि कार्यमर्थानामस्तीति कथं तत्करणेऽपि सामान्यस्यावस्तुत्वम् शब्दादौन्त्यक्षणवत्? अथ केवलादेव सामान्यात् तद्ग्राहिज्ञानसद्भावे तदेव तेन गृह्यते न कदाचिद् व्यक्तिरिति व्यक्तेस्तत्सम्बन्धित्वेनाग्रहणात् न व्यक्तौ ततः प्रवृत्तिः स्यात्, व्यक्तिसहायात् सामान्यात् तज्ज्ञानोत्पत्तौ कथं व्यक्तीनामेकज्ञाने प्रत्येकं तासामभावेऽपि सामान्यसद्भावभाविनि सामर्थ्यावधारणम्? इत्युभयथापि ज्ञानक्रियाऽसम्भवात् कथं तथापि तद्वस्तुत्वम्? असदेतत्; व्यक्तीनामन्यतमव्यक्तिसव्यपेक्षस्यैव सामान्यस्य तत्र सामर्थ्यात् कुविन्दादेरिवान्यतमवेमाऽपेक्षस्य, नहि प्रत्येकं वेमाऽभावे कुविन्दः पटं करोतीति कुविन्दादेव पटोत्पत्तिः, वेमरहितादनुत्पत्तेः। एवमेकैकव्यक्त्यपाये विज्ञानोत्पत्तावपि न केवलमेव सामान्यं तद्धेतुः अन्यतमव्यक्त्यपेक्षस्यैव सामर्थ्याद्, अनुपकारकस्यानपेक्षणीयत्वात्। सामान्योपकारे तैस्तत्ज्ञानस्यैवोपकारः किं नेष्यते? किं सामान्योपकारेण?

भिन्नानामेकार्थक्रिया न सम्भवतीति सामान्यमेकमिष्टम्, ताश्चेद् व्यक्तयो नानात्वेऽप्येकं सामान्यमुपकुर्वन्ति कस्तर्ह्यासां तज्ज्ञानेनापराधः कृतः यतस्तास्तज्ज्ञानमेव नोपकुर्वन्ति? कार्यश्च तासां प्राप्तः सामान्यात्मा ततो लभ्यस्यातिशयस्यानर्थान्तरत्वात्, अर्थान्तरत्वे सम्बन्धानुपपत्तिरित्यप्यचोद्यम्, यतो न भिन्नानामेकार्थक्रियाविरोधात् सामान्यमिष्टम् किन्तु भिन्नेष्वभिन्नाभासात् साक्षादर्पिततदाकारा बुद्धिः सामान्यमन्तरेणेन्द्रियबुद्धिवन्न सम्भवतीत्यभिन्नसामान्यवादिभिः सामान्यमिष्टम्। यदि वा (चा)ऽऽधिपत्यमात्रेणेन्द्रियादीनां रूपत्वाभावेऽपि रूपज्ञानजननवदिहापि व्यक्तीनामाधिपत्यमात्रेणोपयोगोऽभ्युपगम्यते तदा व्यक्तिष्विन्द्रियादिवदर्पिततदाकारा बुद्धिरभिन्नप्रतिभासिनी न स्यात्। न च स्वलक्षणस्य विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात् नैवार्पिततदाकारा बुद्धिरभिन्नप्रतिभासिनीति वक्तव्यम्, 'विकल्पाः स्वलक्षणविषया न सन्ति' इत्यस्यासिद्धेः। स्पष्टाकार-

१ व्याप्त्यसि-वा० बा० हा०। व्याप्तसि-मा०। २ सिद्धेः भा० मा०। ३ न वा-भा० वि० विना। ४-चा विशेषात् आ०। ५-सिद्धेः क्ष-भा० मा०। ६-णिकहेतुः आ० हा० वि०।-णिके हेतुः वा० बा०। ७ न वान्वयो-भां० मा० वा० बा० विना। ८-नुपपत्तेः वि०। ९-कल्पे च आ०। १०-रणका-भा० मा०। ११-कात्मतां भा० मा०। १२-धास्त-आ० हा० वि०। १३-त्पत्तिर-वा० बा०। १४ नित्ये क्ष-आ०। १५ सामर्थ्यासिद्धे सिद्धोऽर्थः क्रियाविशेष इत्यर्थ-आ० हा० वि०। सामर्थ्यसिद्धोऽर्थक्रियाविशेष इत्यर्थं-वा० बा०। १६-शिष्ट कृत-आ०। १७-कत्वं नि-भा० मा० विना। १८-स्यैव स-वा० बा०। १९-हानिरि-भा० मा०। २०-धन्त्यस्र-भा० मां०। २१ गृह्येत मा०। २२-नान्यग्र-भा० मां०। २३-स्तु मस-भा० मा० विना। २४ प्रत्येकमेवमा-वा० बा०। २५-वमेकैव्य-भा० मा० वा० बा० विना। २६-कारणस्या-आ० हा० वि०। २७ ततस्वज्ञा-वा० बा०। २८-नस्येवो-भा० बा० विना। २९-रत्वे सम्बन्धा-आ० हा० वि०। ३०-द्यं ततो आ० हा० वि०। ३१-भासाभो साक्षादर्पित-वा० बा०।-न्नाभासासापक्षादर्पित-आ० हा०।-न्नाभासापक्षादर्पित-वि०। ३२-बुद्धिव न आ० हा० वि०। ३३ व्यक्तेष्विन्द्रिया-हा०। ३४-नी स्यात् वा० बा०।

विवेकात्[1] ते तद्विपर्या[2] न सम्भवन्तीति चेत्, दृश्यमपि स्पष्टाकारं प्रतिक्षिपन् विकल्पेषु प्रतीत्य-पलापित्वादयमुपेक्षामर्हतीति न भिन्नानामेकज्ञानोपकारशक्तिरेकसामान्योपकारशक्तिवदभ्युपगन्तुं युक्ता, न वा व्यक्तीनां सामान्योपकारशक्तिः सामान्यस्याऽनाधेयातिशयत्वात्। कथं तर्हि तस्य तत्रापेक्षा इति चेत्, क्षणवत्[3] तदेककार्यकारित्वेन; इति कथमेकसामान्योपकार[4]बलात् सामान्य-ज्ञानोपकारक[5]सामान्यवादी[6] व्यक्तीनां साधयेत् व्यक्तिकार्यत्वं[7] वा सामान्यस्येति ज्ञानलक्षणकार्य-कारिणः सामान्यस्य नावस्तुत्वम्। न[8] वाऽभिधेयत्वात् सामान्यस्यावस्तुत्वम्, अस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्त्यसिद्धेः[9]। अथ वस्तुनोऽभिधेयत्वे साक्षाच्छब्दादेव[10] वस्तुनो ज्ञानादिन्द्रियसंहतेर्वैफल्यं स्यात्, न चैवम्, अतो विपक्षाद् व्यावृत्तिसिद्धिः प्रकृतहेतोः, असदेतत्; शब्दाद् वस्तुनोऽस्पष्टाकारप्रतीतस्य[11] स्पष्टाकारप्रतीत्यर्थमिन्द्रियसंहतिरुपजायते इति कथमिन्द्रियसंहतेर्वैफल्यम् यतो वस्तुनोऽनभिधे-यत्वं सिद्ध्येत्? एकस्यापि वस्तुनः स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदः सामग्रीभेदात् दूरासन्नादिभेदेन स्पष्टा-स्पष्टप्रतिभासादिभेदवत्। एकस्मिन् वृक्षादिस्वलक्षणे स्पष्टेऽस्पष्टावभासिनोऽपि शाब्दज्ञानस्य काचा-भ्रकादिव्यवहितवस्तुप्रतिभासिज्ञानवत् दूरस्थ[12]वृक्षादिदर्शनवद् वा[13] न भ्रान्तत्वम्। निदर्शनज्ञानस्यापि भ्रान्तत्वे प्रमाणद्वयानन्तर्भूतस्यास्याज्ञात[14]वस्तुप्रकाश[15]-संवादाभ्यां प्रमाणान्तरभावः स्यात्।

न[16] वा स्पष्टवृक्षादि[17]प्रतिभासस्य—

> "ममैवं प्रतिभासो यो न संस्थानवर्जितः (?)।
> एव[18]मन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा सति" ॥ [ ]

इत्येवमनुमानेऽन्तर्भावान्न प्रमाणान्तरत्वम् अनुमानस्य च स्वप्रतिभासिन्यनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्ते-र्भ्रान्तत्वम् भ्रान्तस्यापि च तस्य[19] पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धात् प्रामाण्यमिति वक्तव्यम्, निर्विकल्प-कज्ञानप्रतिक्षेपप्रस्तावेनाऽस्य विचारयिष्यमाणत्वात्। न[20] चासद्भूत-भविष्यतोरपि सामान्यनिबन्ध-नशब्दप्रवृत्तेः सामान्यस्यावस्तुधर्मत्वेनावस्तुत्वम्, भूत-भविष्यत्कालसम्बन्धितया तयोर्भावात्। न चेदानीं तयोरभावादवस्तुत्वम्, स्वज्ञानकालेऽध्यक्षविषयस्याप्यसम्भवादवस्तुत्वप्रसक्तेः। अथ यदि नामातीताऽनागतयोस्तत्कालसम्बन्धितया भावाद् वस्तुत्वम् तथापि कथं कालविप्रकृष्टस्यातीता-देरसम्बन्धात् ध्वनिर्गमको भवेत्? न; पारम्पर्येणातीतादिना तद्दर्शनद्वारायातस्य[21] शब्दस्य प्रतिबन्धाद् व्याप्तिग्रहणायाऽतीतादिविषयानुमानस्येव[22]। न चैवमतिप्रसङ्गः, अनुमानेऽपि प्रसङ्गात् 'आसीदग्निः' इत्यादिश्रुतेः। अविसंवादोऽपि विशिष्टभस्मादिकार्यदर्शनोत्पन्नानुमानप्रवृत्तिलक्षणः क्वचिदस्त्येव[23], अनागतार्थविषये[24] तु (तु) वाक्ये[25] चन्द्रग्रहणोपदेशादौ प्रत्यक्षप्रमाणे[26](प्रमाण)प्रवृत्तिलक्ष-णोऽनुभूयत एव, 'अभूद् राजा श्रीहर्षादिः' 'भविष्यति शङ्खश्चक्रवर्ती' इत्यादिश्रुतेर्न प्रतिबन्धाभा-वो[27]ऽविसंवादाभावेऽपि तदुपदेष्टुस्तद्दर्शनस्याभावासिद्धेः। भावोऽपि कथं सिद्ध इति चेत्, अत एव संशयोऽस्तु, न चैतावता प्रतिबन्धाभावः सिद्ध्यति, संशयस्तु स्यात् यथा अनर्थित्वादप्रवृत्तस्य प्रथमोत्पन्नप्रत्यक्षे। न चैकत्र संशये सर्वत्र संशयः, प्रत्यक्षेऽपि प्रसङ्गात्। संशयितप्रतिबन्धात् तु वाक्यात् संशयादपि प्रवृत्तिः यथा अनभ्यासावस्थायां प्रत्यक्षात्, अभ्यस्तविपर्यये[28] तु चन्द्रग्रहणो-पदेशादि[29]र्निश्चयादेव तृतीयादि[30]प्रवृत्ताविवाध्यक्षात्। क्वचिद् विसंवादाच्छब्दस्य सर्वत्राप्रामाण्येऽध्य-

---

१-का तद्वि-आ० हा०।-कात् तद्वि-वि०। २-याश्च भवन्ती चेत् बा० बा०।-या न संभवन्ती चेत् आ० हा० वि०। ३-वत् तदपि कार्य-बा० बा०। ४-पकारशक्तिः सामान्य-आ०।-पकार-सामान्य-बा० बा०। ५-कारसामान्य-आ० हा० वि०। कारमत्सामान्य-बा० बा०। ६-वादि-आ०। ७-त्वं सा-आ० वि०। ८ नवाऽभिधेयात् आ० हा०। न चा-वि०। ९ व्यावृत्तिसि-बा० बा०। १०-च्छब्दादेवस्तु-भा० मा०। ११-तीतस्पष्टा-भा० मां० विना। १२-स्थक्षणादिदर्श-बा० बा०। १३ वा भ्रान्त-आ० हा० वि। १४ ज्ञानवस्तु-बा० बा० मा० आ०। ज्ञानं वस्तु-हा०। १५-काशन सं-भा० मा०। १६ न च स्पष्ट-भा० मा०। न चा स्पष्ट-वि०। १७-वृक्षाणां प्र-बा० बा०। १८-घमत्र आ० हा० वि०। १९ तस्यापा-भा० मा०। २० न वा-भा० मा० वि० विना। २१-तस्य सादृश्यप्र-बा० बा०। २२-नस्यैव बा० बा०। २३-क्वचिदेवाऽनाग-बा० बा०। २४-पये वा-भा० मा० विना। २५ वाक्ये च-भा०। वाक्यच-आ०। २६-क्षप्रामाणे बा० बा०। २७-भावो वि-भा० मा० विना। २८-पये च-बा० बा०। २९-शादिश्नि-भां० मा०। ३०-यापि दि-भां० मा०।

क्षस्यापि क्वचिद् विसंवादात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसक्तिः। न चास्पष्टावभासित्वा[1]त् भूतादेरवस्तुत्वम्, अध्यक्षविषयस्यापि कस्यचित् तथाभावेनावस्तुत्वप्रसक्तेः। त[2]त्र सामान्यस्यावस्तुत्वम्।

अभ्युपगमवादेन च नित्यसामान्यपक्षभाविदोषपरिहारः कृतः, परमा[3]र्थतस्तु नैकान्ततः किञ्चिद् वस्तु नित्यमनित्यं वा, बहिः नव-पुराणाद्यनेकक्रमभाविपर्यायाक्रान्तस्य समानाऽसमानपरिणामात्मकस्यैकस्य घटादेः अन्तश्च हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकस्य चैतन्यस्याबाधितप्रतीतिविषयस्य व्यवस्थितत्वात्। त[4]न्नैकान्ततः क्षणिकत्वं व्यक्तीनामिति सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वस्य भावान्न तत्र शब्दसं[5]केतासम्भवः नापि सङ्केतवैयर्थ्यम्। अत एव 'उत्पन्नाऽनुत्पन्नेषु स्वलक्षणेषु शब्दसङ्केतस्याशक्यक्रियत्वात् स्वलक्षणस्य(स्या)वाच्यत्वम्' [6] इति य[7]दुक्तं तद् निरस्तम्।

'यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते' इ[8]त्यादिप्रयोगे 'न प्रतिभासते च शाब्दे प्रत्यये स्वलक्षणम्' इत्यसिद्धो हेतुः, स्वलक्षणप्रतिभासस्य शाब्दे प्रत्यये व्यवस्थापितत्वात् दूरव्यवस्थितपादपग्राह्यध्यक्षप्रत्यय इवास्पष्टप्रतिभासेऽपि। अत एव–

"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यं अ[9]न्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते" ॥ [ ]
"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते[10]" ॥

तथा

"श[11]ब्देनाव्या[12]पृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात्।
अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देशस्य वेदकम्" ॥ [ ]

इत्यादि शब्दबुद्धावस्पष्टप्रतिभासमुपलभ्य यदुच्यते परेण तन्निरस्तम्, प्रत्यक्षबुद्धावप्यस्पष्टस्वलक्षणप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात्। यत्र हि विशेषोपसर्जनसामान्यप्रतिभासो ज्ञाने तद् अस्पष्टं व्यवह्रियते, यत्र च सामान्योपसर्जनविशेषप्रतिभासः सामग्रीविशे[13]षात् तदस्प(तत् स्प)ष्टमुच्यते। सामान्यविशेषात्मकत्वं च वस्तुनः प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च यथावसरम्। तेन 'न चैकवस्तुनो रूपद्वयमस्ति, एकस्य द्वित्वविरोधात्' इ[14]त्यादि असङ्गतमेव। न चाशेषविशेषाध्यासितवस्तुप्रतिभासवि[15]कल(कल)स्य शाब्दप्रत्ययस्यान्यथाभूते वस्तुन्यन्यथाभूतावभासित्वेन प्रवृत्ते[16]र्भ्रान्तत्वम्, प्रत्यक्षस्यापि तथाऽवभासित्वेन भ्रा[17]न्तत्वप्रसक्तेः; न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षे क्ष[18]णिक-नैरात्म्याद्यशेषधर्माध्यासितसंख्योपेतघटाद्याकारपरिणतसमस्तपरमाणुप्रतिमासः तथैवानिश्चयात्। अ[19]त एव–

---

१–त्वात् कृतादे–वा० बा०। २ तत्र सा–मा० मा० विना। ३–मार्थस्तु मा० मा० विना। ४ तत्रैकान्ततः क्षणिकत्व व्य–मा० मा०। ५–सङ्केता नापि आ० हा० वि०। ६ पृ० १७६ पं० ११। ७ पृ० १७७ पं० ११। ८ अन्यशब्द–मा० मां० वा० बा० विना। ९ पृ० १७७ पं० ६। अनेकान्तज० पृ० ४५ द्वि० प० ४ अम०। आचार्यहरिभद्रेणायं श्लोक एव व्याख्यात –" 'अन्यदेव' इत्यादि, प्रत्यक्षमिति योगः, अन्यदेव स्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम् अन्यत् सामान्यलक्षणं शब्दस्य गोचरः, कथमेतदेवम्? इत्याह–'शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्ष" सामान्यलक्षणाध्यवसायेन 'न तु प्रत्यक्षमीक्षते' वस्तु। अनेकान्तज० टी० लि० प्र० पृ० ६० द्वि० प० ७ तथा अनेकान्तज० टी० पृ० १७१ पं० २७। शास्त्रवा० स्त० ११ श्लो० २३। तत्र चोपाध्याययशोविजयेनाऽपि व्याख्यातोऽयं श्लोकः। न्यायकुमुद० लि० प्र० पृ० २८० द्वि० पं० १२। १० पृ० १७७ प० ९ तथा ३३–३४। अनेकान्तज० पृ० ४५ द्वि० पं० ४ अम०। व्याख्या चास्यैवम्–" 'अन्यथा दाहसम्बन्धात्' स्वलक्षणानुभवेन 'दाहं दग्धोऽभिमन्यते' पुमान् 'अन्यथा दाहशब्देन' सामान्यलक्षणाध्यवसायेन 'दाहार्थः सम्प्रतीयते' अनेकान्तज० टी० लि० प्र० पृ० ६० द्वि० पं० ८। शास्त्रवा० स्त० ११ श्लो० २४ व्याख्याऽप्यस्य यशोविजयकृता द्रष्टव्या। न्यायकुमुद० लि० प्र० पृ० २८० द्वि० पं० १२। ११ पण्डितरत्नकीर्तिना स्वापोहसिद्धिप्रकरणे 'यच्छाक्तम्' इति निर्दिश्य समुद्धृतोऽयं श्लोक पादत्रिकप्रमाण –अपोहसि० पृ० ६ पं० १६। १२ व्याघृताक्षस्य हा०। व्यावृत्ताक्षस्य आ० वि०। "व्यापृताख्यस्य" अपोहसि०। १३–षात् त ए–वा० बा०। १४ पृ० १७७ पं० १५। १५ "न चाशेषविशेषाध्यासितवस्तुप्रतिभासवैकल्यादप्यस्य तथात्वमाशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षेऽपि तथात्वप्रसक्तेः"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४१४ प्र० पं० १३।–'विकलस्य' वि० स०। १६–र्भ्रान्तित्वं–आ०। १७ भ्रान्तित्व–आ०। १८ क्षणिके नैरा– मा० मा० वा० बा० विना। १९ एतदेव अक्षरश: शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० ४१४ द्वि० पं० १।

"मति-श्रुतयोर्निबन्धो[1] द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [ तत्त्वार्थ० अ० १ सू० २७ ]

इति समानविषयत्वमध्यक्ष-शाब्दयोः तत्त्वार्थसूत्रकृता प्रतिपादितम् । [2]यदा च प्रधानोपसर्जनभावेनानेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्तदा यत्रैव सङ्केतः प्रत्यक्षविषये स एव सामान्य-विशेषात्मकः शब्दार्थ इति केवलस्वलक्षण-जाति-तद्योग-जातिमत्-पदार्थ-बुद्धितदाकारपक्ष[3]भाविनो दोषा अनास्पदा एव; न ह्येकान्तपक्षभाविदोषाः अनेकान्तवादिनं समा[4]श्लिष्यन्ति । [5]अस्त्यर्थादिशब्दार्थपक्षेष्वपि सामान्य-विशेषैकान्तपक्षसमा[6]श्रयणात् यद्[7] दूषणम् तदप्यसत्पक्षासङ्गतमेव उक्तन्यायात् ।

[8]यदपि 'विजातीयव्यावृत्तान्यपदार्थानाश्रित्यानु[9]भवादिक्रमेण यदुत्प[10]न्नं विकल्पकं ज्ञानं तत्र यत् प्रतिभाति ज्ञानात्मभूतं विजातीयव्यावृ[11]त्तपदार्थाकारतयाध्यवसितमर्थप्र[12]तिबिम्बकं तत्र 'अन्यापोहः' इति संज्ञा' तत्रापि वि[13]जातीयव्यावृत्तपदार्थानुभवद्वारेण शाब्दं विज्ञानं तथाभूतपदार्थाध्यवसा[14]य्युत्पद्यते इत्यत्रा[15]विसंवाद एव, किन्तु तत् तथाभूतपारमार्थिकार्थग्राह्यभ्युपगन्तव्यम् अध्यवसायस्य ग्रहणरूपत्वात् । विजातीयव्यावृत्तेस्तु समानपरिणतिरूपतया वस्तुधर्मत्वेन व्यवस्थापितत्वाद् अन्यापोहशब्दवाच्यताऽपि तत्राऽऽसज्यमाना नास्मन्मतक्षतिमावहति, सङ्केतविशेषसव्यपेक्ष[16]स्य तच्छब्दस्य तत्रापि प्रवृत्त्यविरोधात् ।

य[17]च्च 'तत्प्रतिबिम्बकं शब्देन जन्यमानत्वात् [18]तस्य कार्यमेव इति कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः' तदसङ्गतम्; [19]शब्दाद् विशिष्टसङ्केतसव्यपेक्षाद् बाह्यार्थप्रतिपत्तेस्तत्पूर्वकप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्यापि तत्रैव भावात् स एव बाह्यः शब्दार्थो युक्तः न तु विकल्पप्रतिबिम्बकमात्रम्, [20]शब्दात् तस्य वाच्यतया(याऽ)प्रतिपत्तेः । तथाभूतशब्दात् तथाभूतपारमार्थिकबाह्यार्थाध्यवसायि ज्ञानमुत्पद्यत इत्यत्राविवाद एव ।

य[21]च्च 'प्रतिबि[22]म्बस्य मुख्यमन्यापोहत्वं वि[23]जातीयव्यावृत्तस्वलक्षण[24]स्यान्यव्यावृत्तेश्चौपचारिकम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; शब्दवाच्यस्य वस्तु[25]स्वरूपस्य यद्यपोहत्वं तदाऽनन्तधर्मात्मके वस्तुन्युपसर्जनीकृतविशेषस्य पारमार्थिकवस्त्वात्मकसामान्यधर्मकलापस्य शब्दवाच्यत्वात् कथम[26]न्यव्यावृत्तस्वलक्षणस्योपचारेणापोहत्वम् ?

तुच्छ[27]स्वरूपायाश्च व्यावृत्तेः अन्यव्यावृत्तविकल्पाकारस्य चापोहत्वे सामान्य-सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारश्च सर्वं एवाघटमानकः । न च सामान्याभा[28]वात् सामान्यव्यवहारस्याऽघटमानत्वं न दोषायेति वक्तव्यम्, तत्सद्भावस्य प्रसाधितत्वात् । सामानाधिकरण्यव्यवहारश्च धर्मद्वययुक्तस्यैकस्य धर्मिणो बहिर्भूतस्याऽसद्भावादयुक्तः स्यात् । [29]न च बाह्यार्थासंस्पर्शि-

---

१ सर्वार्थसिद्धि-राजवार्तिक-श्लोकवार्तिकप्रभृतिषु जैनदिगम्बरसम्प्रदायसम्मतेषु तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यापुस्तकेषु एतादृगमेव सूत्रमेतत् । श्वेताम्बरीयोपाध्याययशोविजयकृतशास्त्रवार्तासमुच्चयव्याख्यापुस्तकेऽपि अस्य सूत्रस्य एवमेव पाठ इति तु प्रदर्शितम् । जैनश्वेताम्बरसम्प्रदायसम्मते सिद्धसेनसूरिकृततत्त्वार्थभाष्यव्याख्यापुस्तके (अम०), यशोविजयोपाध्यायकृततत्त्वार्थभाष्यव्याख्यापुस्तके (अम०) तत्त्वार्थसूत्रपुस्तके (मेसा०) तत्त्वार्थभाष्योपेतपुस्तके च (कल०) सूत्रपाठे 'सर्वद्रव्येषु' इत्येवमधिकं 'सर्व' पदं दृश्यते। २ यदि च वा० बा०। ३ पृ० १७४ पं० २३। ४-माश्लिष्यन्ति वा० बा०।-माश्रयिष्यन्ति आ० हा० वि०। ५ पृ० १७९ पं० १२-पृ० १८२ पं० ६। ६-माश्रयात् य-आ०।-माश्रयणे य-वा० बा०।-माश्रयेण य-भा० मा०। ७ पृ० १८३ पं० ४। ८ पृ० २०२ पं० ३-७। प्रमेयक० पृ० १२८ प्र० पं० ९। ९-नुभावादि-वा० बा०। १०-त्पन्नवि-वा० बा०। ११-वृत्तिप-भा० मा०।-वृत्तं प-वि०। १२-प्रतिबन्धकं वा० बा०। १३ प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० १। १४-साय्युपपद्य-भा० मा०। १५-त्रापिसं-वि०। १६-क्षस्य तत्रापि आ० हा० वि०।-क्षस्य तच्छस्य तत्रापि वा० बा०। १७ पृ० २०३ पं० ६। प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ३। १८ तस्य कार्यकारणभाव-आ० हा० वि०। १९ प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ४। २० "शब्दात् तस्य वाच्यतयाऽप्रतीते"-प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ५। २१ पृ० २०३ पं० १४। २२-बिम्बकस्य भां० मां०। प्रमेयक० पृ० १२८ द्वि० पं० ५। २३-तीयव्यावृत्तेश्चौप-आ० हा० वि०। २४ "सबन्धिन्या." प्रमेयक० टि० पृ० १२८ द्वि० पं० १४। २५-स्तुत्वस्व-आ० हा० वि०। २६-मन्यथावृत्त-वा० बा०।-मन्यथाव्यावृत्त-आ० हा० वि० मां०।-'मन्यथा व्यावृत्त-' भा० सं०। २७-च्छरू-भा० मा० वा० बा० विना। २८-वात् सामानव्य-वा० बा०।-वात् समानव्य-आ० हा० वि०। २९ न या-वा० बा०।

विकल्पप्रतिबिम्बकेऽयं युक्तः । अथ धर्मद्वयानुरक्तैकधर्मिविकल्पेऽप्ययमुपपत्स्यते, अयुक्तमेतत्; तथाभूतविकल्पाभ्युपगमे एकान्तवादिनामनेकाकारैकविकल्पाभ्युपगमादनेकान्तवादप्रसक्तेः । न चाऽतात्त्विकमनेकत्वमिति नायं दोषः, तथाभ्युपगमे ज्ञानात्मन्यविद्यमानस्यानेकत्वस्य स्वसंवेदनेनापरिच्छेदप्रसक्तेः; वेदने वा स्वसंवेदनस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः । अविद्यमानाकारग्राहित्वेन सदसतोरेकत्वाऽनेकत्वयोर्ज्ञानतादात्म्यविरोधादनात्मभूतं च वैचित्र्यं कथमतदाकारं ज्ञानवेदनं साकारज्ञानवादिनां परिच्छिनत्ति? परिच्छेदे वा परिच्छेदसत्तायाः सर्वत्राऽविशेषात् सर्वैकवेदनप्रसक्तिः । निराकारविज्ञानाभ्युपगमे च बहिरर्थसिद्धेर्विज्ञानवादानवतारप्रसङ्गः । अथ तदपि साकारमभ्युपगम्यते तदा तत्रापि कथमनेकाकारमेकम्? अनेकत्वस्याऽतात्त्विकत्वे पुनरपि स एव प्रसङ्गोऽनवस्थाकारी, पारमार्थिकानेकाकारज्ञानाभ्युपगमे स्यात् संवेदनात् तस्य सिद्धिः किन्त्वनेकान्तवादोऽभ्युपगतः स्यात् । अपि च, अनेकत्वस्य बुद्धावप्यतात्त्विकत्वाभ्युपगमेऽन्तर्बहिरविद्यमानस्य तस्य वैशद्यावभासिता न स्यात्, अर्थनिराकृतये द्वैरूप्यसाधनं च बुद्धेर्निराकारत्वादसङ्गतमेव स्यात् । अथ पूर्वमर्थनिराकृतये तस्या द्वैरूप्यसाधनम् पश्चादेकस्यानेकत्वायोगात् द्वैरूप्यस्यापि निराकरणाददोषः, असदेतत्; पूर्वमेव द्वैरूप्यप्रतिघातिन्यायोपनिपातसम्भवात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया वैचित्र्यं बुद्धिमाश्लिष्यतीत्यभ्युपगम्यते, ननु बहिर्भूतेनाऽर्थेन वैचित्र्यस्य कोऽपराधः कृतः यत् तन्नास्कन्दतीति । अथैकत्व-नानात्वयोर्विरोध एवापराधः, नन्वयं विज्ञानेऽपि समानः । न च बुद्धेर्नीलादिप्रतिभासानामेकयोगक्षेमत्वात् तदेकत्वम्, एकयोगक्षेमत्वेन स्वभावभेदानिराकरणात् सहभाविनां चित्त-चैत्तानां नानात्वेऽप्येकयोगक्षेमत्वस्य भावात् । अथ चित्तादावभिन्नयोगक्षेमस्य नियमेनातोऽभावः असहभाविनां तेषामभिन्नयोगक्षेमत्वस्याभावात्, न, नीलादिप्रतिभासेष्वपि नानाश्रयेषु तस्याभावात् । अभिन्नाश्रयेष्वभिन्नयोगक्षेमनियमसद्भावो नीलादिप्रतिभासेष्विति चेत्, न; सहभाविचित्त-चैत्तेष्वप्यस्य समानत्वात् सहभाविनां तेषां तथैवानुभवात् । सर्वथैकत्वं च नीलादिप्रतिभासानामध्यक्षविरुद्धम् प्रतिभासभेदाद् भेदसिद्धेः । न च भ्रान्तोऽय भेदप्रतिभासः अबाधितत्वात् । न चाऽभिन्नयोगक्षेमत्वादिति बाधकम्, अस्याऽसाध्याव्यतिरेकिणोऽयथोक्तलक्षणत्वात् प्रतीयमानयोश्चैकत्वानेकत्वयोः को विरोधः? न चेयं प्रतीतिर्मिथ्या बाधकाभावात् । न च विरोध एवास्या बाधकः विरोधासिद्धेरितरेतराश्रयत्वात् । तथाहि—अस्याः प्रतीतेर्बाधायां विरोधः सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ चातस्तस्या बाधेति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । न च प्रतीतेरन्यदस्ति विरोधसाधकमित्यस्तु बहिरेवं सामानाधिकरण्यव्यवहारः, तथैवास्योपलब्धेः ।} अथ विकल्पस्यायं विभ्रमः बहिः सामानाधिकरण्यादेरयोगात् नानाफलयोर्नीलोत्पलादिशब्द-विकल्पयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिविरोधात्, धर्म-धर्मिणोरेकान्तभेदाऽभेदयोर्गत्यन्तराभावात्-तयोश्चाव्यतिरेकाभ्युपगमे शब्देन विकल्पेन वैकेन स्वलक्षणस्य विषयीकरणेऽशेषस्वभावाक्षेपादपरस्य शब्दादेस्तदेकवृत्तेस्तेन्द्रियस्य फलत्वाभावात् तद्भेदे सकृद् ग्रहणस्यावश्यंभावित्वात् तल्लक्षणत्वादभेदस्य अन्यथा गृहीतागृहीतयोर्भेदप्रसक्तेः, धर्म-धर्मिणोर्भेदपक्षेऽपि घट-पटादिशब्दवदेकत्रावृत्तेर्भवेदुपाधिद्वारेणैकत्रोपाधिमति शब्दविकल्पयोः प्रवृत्तिः यदि तयोरुपकार्योपकारकभावः स्यात् तदभावे पारतन्त्र्यासिद्धेः तयोरुपाभ्यु-

१-धार्मिकल्पे वा० वा० । २-कल्प्येऽप्य-भां० मा० ३-मनेकमनेकत्वमिति मा० ।-मनेकमिति वा० बा० । ४-सङ्गो वि-भा० मा० विना । ५-रोधना-आ० हा० वि० । ६-भूतं वै-आ० । ७ वा सत्तायाः वा० बा० । ८ सर्वैकावे-भा० आ० हा० वि० । ९-दनाप्र-आ० । १०-गमे स्या सं-आ० हा० वि० ।-गमे त् सं-वा० वा० । ११-नान् तस्य मा० मा० । १२-कस्य आ० हा० वि० ।-कत्वे कस्य वा० बा० । १३-तस्या वै-वा० मा० । १४-तस्याः द्वै-वा० बा० । १५-ज्यस्योपरा-आ० हा० वि० । १६-धा, नन्वयं वा० बा० । १७-राक्रमणात् वा० बा० । १८-ममवतो-आ० हा० वि० । १९ वात् तनी-वि० ।-चात् त नी-हा० ।-वातपनी-वा० बा० । २०-भागेष्वपि वा० बा० ।-भासेष्यपि मा० ।-भासेष्ववि आ० । २१-सातेष्वि-भा० मा० । २२-चित्ताचैत्ते-वा० बा० । २३-णो यथोक्त-भा० मा० । २४-वास्याः बा-भा० मा० ।-वा स्यात् वा-आ० । २५-त्यवस्तु वा० बा० । २६-च हि सा-आ० हा० वि० । २७-हारस्यैवास्योप-वा० बा० । २८-लयो नी-वा० बा० विना । २९-तयोश्च व्य-आ० । ३०-चापक्षेपा-भा० मा० ।-चाक्षवाक्प-वा० बा० । ३१-पावप-आ० हा० वि० । ३२ शब्दादेक-वा० बा० । ३३-स्तन्द्रियाफलभावात् वा० बा० । ३४ तद्भेद स-भा० मा० विना । ३५-धर्मिणो पक्षेपि वा० बा० । ३६ यदेव-आ० । ३७ तदाभावे मा० । ३८-तन्त्र्यासि-वा० बा० ।

पाधिमद्भावाभावाच्च तद्द्वारेणापि तयोस्तद्वति वृत्तिर्युक्ता तयोरुपकार्योपकारकभावे उपाध्युपकारिका शक्तिरुपाधिमतो यद्यभिन्ना तदैकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः प्रतिपत्तौ सर्वोपाध्युपकारकस्वरूपस्यैव तस्य निश्चयादुपकार्यस्योपाधिकलापस्याप्यशेषस्य निश्चयप्रसक्तिः उपकारकनिर्णीतेरुपकार्यनिश्चयनान्तरीयकत्वात् उपाधिमतो भेदे तच्छक्तेः सम्बन्धाभावः ततस्तासामनुपकारात् उपकारे वा तदुपकारशक्तीनामप्युपाधिमतो भेदाभेदकल्पनायामनवस्था सर्वात्मना ग्रहणं च प्रसज्यते इति {एतदप्ययुक्तम्; यतः स्यादभेदे सकृद् ग्रहणं यदि तल्लक्षणोऽभेदः स्यात् यावता नाभेदस्यैतल्लक्षणम् घटाद्याकारपरिणतेष्वनेकपरमाणुषु सकृद् ग्रहणस्य भावेनाऽतिव्यापकत्वात्। अव्यापकं चैतत् अभेदेऽपि सत्त्वाऽनित्यत्वयोरभावात्, भावे वा सत्त्वप्रतिपत्तौ क्षणक्षयस्यापि प्रतिपत्तेरनुमानवैफल्यप्रसक्तिः यथाऽनुभवं निश्चयोत्पत्तेः सत्त्ववत् क्षणिकत्वस्यापि तदैव निश्चयात्। अनादिभवाभ्यस्ताऽक्षणिकादिवासनाजनितमन्दबुद्धेः पूर्वोत्तरक्षणयोर्विवेकनिश्चयाभावात् स्वलक्षणस्य सर्वात्मनानुभवेनाधिगमेऽपि क्षणिकत्वे निश्चयानुत्पत्तेरनुमानस्य साफल्यमिति चेत्, न; घट–कपालक्षणयोरप्यविवेकनिश्चयप्रसक्तेः। अथात्र सदृशापरापरोत्पत्तेर्विप्रलम्भनिमित्तस्याभावान्न प्रसङ्गस्तर्हि ह्रस्ववर्णद्वयोच्चारणे तत्प्रसक्तिः। तयोरनानन्तर्याद् वर्णद्वयान्तराले सत्त्वोपलम्भाभावात् तदप्रसङ्गे लघुवृत्तिर्विभ्रमनिमित्तं स्यात्—अन्यथा संयुक्ताङ्गुल्योरप्यविवेकनिश्चयः स्यात्—देशनैरन्तर्य–सादृश्ययोर्भावात्। सादृश्यनिमित्ता च न सर्वदा भ्रान्तिः स्यात्, उपलभ्यते च सर्वदा। न चान्त्यक्षणदर्शिनां विवेकनिश्चयसद्भावादयमदोषः पूर्वमभावात्। सादृश्यनिमित्ता हि भ्रान्तिरवस्थित एव सादृश्ये निवर्त्तमाना उपलभ्यते अनिवृत्तौ वा नामाद्यर्थयोरपि न कदाचिद् भ्रान्तिनिवृत्तिः स्यात् सर्वदा तयोः सादृश्यात्। न चान्यापोहवादिनां भ्रान्तिनिमित्तं सादृश्यं वस्तुभूतमस्ति, सामान्यवादप्रसक्तेः। एकविज्ञानजनका एव क्षणाः सादृश्यमुच्यन्त इति चेत्, न; ततो विवेकानिश्चये रूपाऽऽलोक–मनस्कारादीनामपि सादृश्यमेकविज्ञानजनकत्वेनास्तीत्येकत्वनिश्चयस्तेष्वपि स्यात्। न च तेषां तत्राप्रतिभासनान्नासाविति वक्तव्यम्, यतः किमिति तेषां तत्राप्रतिभासनम् इति निमित्तमभिधानीयम्, असारूप्यं तन्निमित्तमिति चेत्, न; मनस्कारस्य सारूप्यात् तत्र प्रतिभासप्रसक्तेः। विलक्षणानां च कथं सारूप्यम्? नैकविज्ञानजनकत्वाद् रूपादावपि तत्प्रसङ्गात्। अथेष्यत एव तत् तेषाम्, न; रूपविज्ञानजनकत्वेन यत् तेषां सारूप्यं तदस्तु तस्यास्माभिरपि सदादिप्रत्ययहेतुत्वेन सदादित्वस्येष्टत्वात्, किं तर्हि रूपात्मना रूपादीनां रूपप्रत्ययहेतुत्वात् शाबलेयादीनामिव गोत्वात्मना सारूप्यं गोप्रत्ययहेतूनां किं न स्याद् इति प्रेर्यते पारम्पर्येणैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वस्यापि तेषु भावात्? तद्धेतुत्वेऽपि न तेनात्मना सारूप्यं तेषामतद्विषयत्वादिति चेत्, ननु तदेव तदविषयत्वं कुतस्तेषाम्? न सारूप्यादिति वक्तव्यम्, चक्रकप्रसक्तेः। अथ सत्यपि सारूप्ये रूपादीनां सत्त्वोपलम्भाभावान्न भ्रान्तिः, ननु सत्त्वोपलम्भः किं देशनैरन्तर्यमभिधीयते, आहोस्वित् कालनैरन्तर्यम्, यद्वा उभयनैरन्तर्यमिति विकल्पाः।

तत्र न तावद् देशनैरन्तर्यं यथोक्तभ्रान्तिनिमित्तम्, संयुक्ताङ्गुल्योस्तद्भावेऽपि भ्रान्तेरभावात्। कालनैरन्तर्यं च लघुवृत्तिरेव, न चासौ भ्रान्तिनिमित्तम्, ह्रस्ववर्णद्वयोच्चारणे तद्भावेऽप्यभावात्। नाप्युभयं तन्निमित्तम्, संयुक्ताङ्गुल्योः पूर्वापरक्षणयोरपि सद्भावेनोभयसद्भावेऽपि अभावादित्यान्तरेतरभ्रान्तिकारणाभावात् किं न यथानुभवं विकल्पोत्पत्तिः? सहकारिणोऽभ्यासादेरभावान्नो-

---

१–मद्भावान्न आ० ह्या०। २–पकारिणा श–वा० बा०। ३ तदेको–वा० बा० वि०। ४ तस्य तन्नि–भां० मां० वा० बा० विना। ५–य शक्तिः आ०। ६ तद्युक्तम् वा० बा०। ७–स्याद्भेदे वा० बा०। ८–क्षणो भेदः भा० मा० वा० बा० विना। ९–ता नाम भेदः स्यात् यावता नामभेदस्यैतल्ल–वा० बा०। १०–णम् घंटा–मा०। ११–त भे–आ०। १२–स्याप्र–वा० बा०। १३–भव नि–भा० मां० वा० बा० विना। १४ कस्यापि आ०। १५–पाटलक्षण–आ० वा० बा०। १६–चादप्र–भां० मा०। १७–वृत्तिवि–वा० बा०। १८–दृश्यमितिनिमि–भा० मा०। १९ न वान्त्य–वि० विना। २०–धान्। भां० मां०। २१–मुच्यत इ–भां० मा० वा० बा० विना। २२–कानिश्चयो रू–वा० बा०। २३ असारूप्यं भां० मां० आ० ह्या०। अश्वारूप्यं–वा० बा०। २४–दवस्तु वि०। २५–त्वस्य चेष्ट–वि०।–त्वसौ वेष्ट–आ०। २६ तदेव विषयत्वं आ० ह्या० वि०। तदेव तदाविषयत्वं वा० बा०। २७ सत्त्वोप–वा० बा०। २८–आहोश्चित् भां० मा० वा० बा० विना। २९ कालनैरन्तर्यमिति विकल्पाः वा० बा० विना। ३० काले नै–भा० मा० विना। ३१–न्तर्यं ल–आ०। ३२–वृत्ति एव वा० बा०।

सत्स्यते, अयुक्तमेतत् ... प्रसक्तेः । न

त्पत्तिरिति चेत्, ननु कोऽयमभ्यासः यदभावाद् यथानुभवं निश्चयानुत्पत्तिः? दर्शने ... संवेदने त्पत्तिरिति चेत्, ननु सत्त्वादेः क्षणिकत्वादेरभेदे तदनुभवस्य पुनः पुनरनुत्पत्तिरेव क्षणि ... नावृत्तिरिति कथं न दर्शनावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः? अनुभवानन्तरभावी विकल्पोऽभ्यास इति चेत्, ननु 'तदभावाद् विकल्पोत्पत्त्यभावे यथानुभवं कस्मान्निश्चयानुत्पत्तिः' इति प्रश्ने 'निश्चयाभावान्नि(न्नि)श्चयानुत्पत्तिः' इत्युत्तरं कथं सङ्गतं स्यात्? अन्त्यक्षणदर्शिनां चानित्यविकल्पोत्पत्तेस्तदभावोऽसिद्धश्च । न च क्षणिकत्वप्रतिपादकागमाऽऽहितसंस्कारस्यानित्यविकल्पावृत्तिरभ्यासः, तदागमानुसारिणां तदुत्पत्तावपि यथानुभवं विकल्पाभावात् । दर्शनपाटवमपि सत्त्वादिविकल्पोत्पत्तेरेवावसीयते पाटवाऽपाटवलक्षणविरुद्धधर्मद्वयस्यैकत्रायोगात् शब्दानित्यत्वजिज्ञासायां ... भावात् । सर्वात्मना चेत् स्वलक्षणस्यानुभवस्तथैव निश्चयोत्पत्तिः स्यात्, तदनुत्पत्तेर्न सर्वात्मनाऽनुभवो भावस्येत्यवसीयते । अतो नानाफलत्वमभेदेऽप्युपाधि-तद्वतोः शब्द-विकल्पयोरविरुद्धम् ।

भेदपक्षेऽप्येकार्थवृत्तिस्तयोर्घटत एव, तद्द्वारेण शब्द-विकल्पयोरेकस्मिन् धर्मिणि वृत्ते सामानाधिकरण्यादिव्यवहारसिद्धिः । न चोपाधि-तद्वतोरुपकार्योपकारकभावात् सर्वो ... पाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः प्रतिपत्तेः शब्दादेरेकफलत्वम्, ... त्वाभावात् तद्भावे वा कथञ्चित् सर्वस्यापि परस्परमुपकार्योपकारकभावाद् एकपदार्थप्रतिपत्तौ तद् धारादिभावेनोपकारकभूतस्य भूतलादेस्तत्कार्यभूतसन्तानान्तरवर्तिज्ञानस्य वा ग्रहणम्, ततो तदुपकारिणः तस्मादप्यपरस्य तदुपकारिण इति पारम्पर्येण सकलपदार्थाक्षेपात् सर्वः ... स्यात् । अथ सम्बन्धवादिनः स्यादयं दोषः—तस्य सम्बन्धिभ्यः सम्बन्धस्य ... इत्येकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः समस्तोपाधिसम्बन्धात्मकस्यैवावगमात् सम्बन्धिनो ... स्याशेषस्यापि ग्रहणप्रसक्तिः, सम्बन्धिग्रहणमन्तरेण सम्बन्धप्रतिपत्तेरभावात् ... तत्संयोगप्रतिपत्तिवत् । सम्बन्धिष्वेकसम्बन्धानभ्युपगमवादिनामस्माकं नायं दोषः, नहि ... त्तरभावावन्तरेणापरः कार्यकारणभावादिरेकः सम्बन्धोऽस्माभिरभ्युपगम्यते येन ... सर्वः सर्वदर्शी स्यात्, असदेतत्, यतो न सम्बन्धवादिनः समस्तोपाधिसम्बन्धानामुपाधिमतोऽव्यतिरेकेऽपि तदेकोपाधिसम्बन्धात्मकस्यैव तस्य ग्रहणात् सम्बन्धिनोऽशेषस्योपाधि(धे)रपि ग्रहणम् सम्बन्धाभाववादिनोऽपि यद्युपकारकप्रतिपत्तावपि नोपकार्यस्यावगतिरेकसम्बन्धाभावात् तदा हेतुधर्मानुमानेन रूपादे रसतो गतिः उपकार्यविशिष्टस्योपकारकस्याप्रतिपत्तेः? प्रतिपत्तौ कथं भवन्मतेन सर्वः सर्वविद् भवेत्? न चोपाधि-तद्वत्प्रतीत्योरितरेतराश्रयत्वात् तत्प्रतीत्यभावादुपाधि-तद्भावाभावः, युगपद् अध्यक्षे तयोः प्रतिभासनात् । क्रमप्रतिभासेऽपि न तत्प्रतिपत्त्योरितरेतराश्रयत्वम्, वृक्षत्वविशिष्टस्य दूरादध्यक्षेण प्रतीतस्य प्रत्यासन्नादाम्रादिविशेषणविशिष्टस्य तस्यैवाव-सायात् । शाब्दप्रतिभासेऽपि गोशब्दाद् गोत्वमात्रोपाधेरवभास(मात)स्य शुक्लशब्दात् तदुपाधि-विशिष्टस्य तस्यैवावभासनाच्च तत्प्रतीत्योरितरेतराश्रयत्वम् । न च गुणग्रहणमन्तरेण गुणिनो गवा-देरग्रहः तदग्रहे च गुणाग्रह इति चोद्यावकाशः, गोशब्दाद् विशेषण-विशेष्ययोर्युगपदेव प्रतिपत्तेः परस्यापि च समानोऽयं दोषः परस्परविशिष्टोपकार्योपकारकप्रत्यययोरन्योन्यापेक्षत्वात् । अनपेक्षत्वे न रसादेरेककालस्य रूपादेरनुमानं स्यात् । अथोपकारकादिप्रतिपत्तेरेवेतरज्ञानाविनाभावित्वान्नात्र

---

१ ननु युक्तोऽयम–आ० हा० वि० । न युक्तोयम–वा० बा० । २ यद्भा–भा० मा० । ३–त्पत्ति व भा० या० । ४–त्तिः चेत् आ० हा० वि० । ५ सत्वादे क्ष–भा० । सत्वादक्ष–वा० बा० । ६–वान्तर- वा० या० । ७ तद्भा–भा० मा० । ८–प्रश्ने निश्चयानुत्पत्तिरित्युक्तं कथं वा० बा० । ९–भावानुत्पत्ति रित्युत्तरं आ० हा० वि० । १०–नां वा–वि० विना । ११–फलम–वा० बा० । १२–भभेद अभ्युपा–वा० बा० १३–त्मनोपाधि–वा० बा० । १४–रकभूतला–वि० । १५–भूतं आ० हा० वि० । १६–पात् सर्वेद–भा० मा० विना । १७–मतः समस्तोपाधिमतः समस्तोपाधिसम्ब–भा० मा० । १८–सक्तेः वा० बा० । १९–भावा न्तरेण–भा० मा० वा० या० विना । २०–मात् सर्वद–वा० बा० । २१–ना स–भा० मा० । २२–हण स- वा० या० । २३–माना रू–वा० बा० । २४–कार्यविशिष्ट–भा० । २५–त्वात्प्रती–हा० वि० । २६–तद्भावो गु–वा० बा० । २७–रभातस्य भा० मा० । २८–वा भा–भा० मा० । २९ तद्ग्रहे भा० मा० विना । ३० गुणग्र–भा० मा० विना । ३१–क्षत्वादनपेक्षत्वादनपेक्षत्वे रसा–वा० बा० । ३२–पत्तेरेकेर–वा० बा० । ३३–भावत्वा–आ० । ३४–त्वान्न दोष–भा० मा० आ० ।–त्वान्न चादोष–वा० बा० ।

नन्वेवं परस्परविशिष्टत्वाविशेषेऽपि यदि कार्यबुद्धिः कारणबुद्ध्यनपेक्षा कारणापेक्षेति न रूपादेः समानकालस्यावगतिः स्यात् । अपि चोपकारकस्यादृष्टौ दृष्टिः तददृष्टौ चोपकारकस्येतरविशिष्टत्वेनादृष्टिरिति परस्यापीदं चोद्यं समानम् ।

अथ सविकल्पप्रत्यक्षवादिनां स्यादयं दोषः उपाधिविशिष्टस्योपाधिमतो निश्चयादुपाधि-तद्वतोश्च परस्परसव्यपेक्षत्वात् । निर्विकल्पकप्रत्यक्षवादिनां तु सर्वोपाधिनिरपेक्षनिरंशस्वलक्षणसामर्थ्यभाविना तद्रूपमेवानुकुर्वता निर्विकल्पकाध्यक्षेणान्यनिरपेक्षस्वलक्षणग्रहणाभ्युपगमान्नायं दोषः, असदेतत्; सकलोपाधिशून्यस्वलक्षणग्राहिणो निर्विकल्पकस्याभावप्रतिपादनात् पुनरपि प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । तदेवं भिन्ननिमित्तयोरेकविषयत्वाविरोधात् कथं न बहिरर्थे सामानाधिकरण्यव्यवहारः ?

विशेषणविशेष्यभावोऽपि बाह्यवस्तुसमाश्रित एव । न च विशेषण-विशेष्ययोरुपकार्योपकारकभूतत्वेनाऽसमानकालयोस्तद्भावानुपपत्तेस्तथाभूतविकल्पाश्रय एवायं व्यवहार इति वक्तव्यम्, उपकार्योपकारकयोः पितापुत्रयोरिव समानकालत्वाविरोधात् एकान्तानित्यपक्षस्य च निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च ।

लिङ्ग-सङ्ख्यादियोगोऽप्यनन्तधर्मात्मकबाह्यवस्त्वाश्रित एव । न चैकस्य 'तटस्तटी तटम्' इति स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं विरुद्धम् विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदप्रतिपादकत्वेन निषिद्धत्वात् अनन्तधर्माध्यासितस्य च वस्तुनः प्रतिपादितत्वात् । न चैकस्मादेव शब्दादेर्मेचकादिरत्नवच्छबलावभासताप्रसङ्गः, प्रतिनियतोपाधिविशिष्टवस्तुप्रतिभासस्य प्रतिनियतक्षयोपशमविशेषनिमित्तस्य साधितत्वात् । 'गोत्वादिवत् सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयः, न च सामान्येष्वपराणि सामान्यानि विद्यन्ते, अथ च जातिर्भावः सामान्यमिति तेष्वपि स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गत्रयदर्शनादव्यापिता लक्षणस्य' इत्येष दोषोऽनेकधर्मात्मकैकवस्तुवादिनो न जैनान् प्रत्याश्लिष्यति, गोत्वादेरपि भिन्नस्य समवायबलाद् वस्तुनि सम्बन्धस्यानभ्युपगमात् येन तेष्वप्यपरसामान्यभूतलिङ्गत्रयमन्तरेण जात्यादिशब्दप्रवृत्तिर्न स्यात् । अत एव दारादिष्वर्थेषु बहुत्वसङ्ख्या वन-सेनादिषु चैकत्वसङ्ख्याऽविरुद्धा, यथाविवक्षमनन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद्धर्मस्य केनचिच्छब्देन प्रतिपादनाविरोधात् ।

[ प्राज्ञाकरमतस्य निरसनम् ]

सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः शब्दलिङ्गविषयत्वे च केवलजातिपक्षे यद् दूषणम्-'यद् यत्र ज्ञाने प्रतिभाति तत् तस्य विषयः' इत्यादिप्रयोगरचनापूर्वकं प्रज्ञाकरमतानुसारिणाऽभिहितम्-'यथा न प्रतिभाति निर्विकल्पक-सविकल्पकाध्यक्षशब्दलिङ्गप्रभवज्ञानेषु क्वचिदपि विज्ञाने स्वरूपेण वर्णाकृत्यक्षराकारशून्या दाहपाकाद्यर्थक्रियासमर्था जातिः, प्रतिभासमानाऽप्यनर्थक्रियाकारित्वेन न प्रवृत्तिहेतुः लक्षितलक्षणयाऽपि जाति-व्यक्त्योः सम्बन्धाभावात्, भावेऽपि तस्य प्रत्यक्षादिना प्रतिपत्तुमशक्तेः न व्यक्तौ प्रवृत्तिः' इत्यादि सर्वं प्रतिक्षिप्तम् अनभ्युपगमादेव । नहि जाति-व्यक्त्योरेकान्तभेदोऽभ्युपगम्यते येन प्रत्यक्षे शाब्दे वा जाति-व्यक्त्योरन्यतरप्रतिभासेऽप्यपरस्याप्रतिभासनान्न सम्बन्धप्रतिपत्तिः स्यात्—

"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्" [ ] इति

न्यायात्—किन्तु सामान्यविशेषात्मकं वस्तु सर्वेषां प्रतिपत्तौ प्रतिभाति, केवलं 'प्रधानोपसर्जनभा-

---

१-प्रत्ययवा-वा० बा० । २ स्या यं दोष उ-मा० । स्या यं द्वेष उ-मां० । ३-न्यल-वा० बा० । -न्यं स्व-मा० मा० । ४-तत्वेन स-भा० मा० विना । ५-स्तद्भा-आ० हा० वि० वा० बा० । ६-योरिक-विषयाविरोधात् वा० बा० ।-योरेकस-आ० हा० वि० । ७ एकान्तनित्य-वा० बा० । ८-निषेध्य-मान-मां० मा० । ९-वस्तुश्रित-वा० बा० । १०-काख्य स्व-भा० मा० ।-कादीना स्व-वा० बा० । ११-वच्छायाभास-वा० बा० । १२-शिष्टं वस्तु-भा० मा० । १३ अथ वा जा-वि० । १४ पृ० २३२ पं० ४-८ । १५ न जैनः प्र-आ० हा० । न जैनाः प्र-वि० । १६-प्यन्ति वि० । १७-स्वन्धस्या-वि० । १८-कसङ्ख्या-मां० मा० विना । १९-यत्वेन विकलजा-वा० बा० । २० यत्र आ० वा० बा० । २१ पृ० २३३ पं० २ । २२-पाचका-आ० हा० वि० ।-पावका-भा० मा० । २३ पृ० २३३ पं० ५-पृ० २३४ पं० ३७ । २४-गतो येन मा० मा० ।

येन जाति-व्यक्त्योः सामग्रीभेदात् प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासनाद्[1] वैशद्याऽवैशद्यावभासभेदस्तत्र' इति प्रतिपादितम्। 'क्रमेण यौगपद्येन वा आनन्त्याद् व्यक्तीनां प्रत्यक्षेऽप्रतिभासनान्न तासां जात्या तेन सम्बन्धवेदनम्' इत्यादिकमप्यस्माकमदूषणं यथाप्रदर्शितवस्त्वभ्युपगमवादिनां न प्रतिसमाधानमर्हति।

शब्दार्थयोस्तु साक्षात् तदुत्पत्ति-तादात्म्यलक्षणसम्बन्धमन्तरेणापि सम्बन्धः परेणाभ्युपगन्तव्यः अन्यथा 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्, अक्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, संश्च शब्दः' इति, 'यत् किञ्चित् सत् तत् सर्वमक्षणिकम्, क्षणिकेऽर्थक्रियानुपलब्धेः, संश्च ध्वनिः' इति साधनवाक्ययोः स्वपराभिप्रेतार्थसूचकयोः स्वलक्षणासंस्पर्शित्वेन भेदाभावात् साधनतदाभासव्यवस्थानुपपत्तिप्रसक्तिः। अर्थान्यतरसाधनवाक्यस्य[3] पारम्पर्येण स्वलक्षणप्रतिबन्धादितरस्माद् विशेषस्त्वङ्गीकृतमपि वाच्य-वाचकयोः सम्बन्धान्तरं हेतुफलभावविलक्षणं सामर्थ्यप्राप्तं परेणाभ्युपगतं भवति। न च शब्दस्य क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रा[4]ऽनाश्वासादप्रामाण्यकल्पना युक्तिमती, प्रत्यक्षस्यापि तथाभावप्रसक्तेः। अपि च, अन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनाद्[5] विवक्षायामपि क्वचिद् व्यभिचारात् सर्वत्रानाश्वासात् कथं[6] विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः? अथ

"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" [ ]

इति न्यायाद् विवक्षासूचकत्वं शब्दविशेषाणां न विरुध्यते तर्हि येनैव प्रतिबन्धेन शब्दविशेषो विवक्षाविशेषसूचकस्तत एवार्थविशेषप्रतिपादकोऽसौ किं नाभ्युपगम्यते? अथ स्वाभिधित्सितार्थ[7]-प्रतिपादनशक्तिवैकल्यादन्यथापि प्रायशोऽभिधानवृत्तिदर्शनाद् विचित्राभिसन्धित्वात् पुरुषाणां विसंवादशङ्कया वक्त्रभिप्रायेऽपि तेषां प्रामाण्यं नाभ्युपगम्यत इति न[8] तन्न्यायेन बाह्येऽप्यर्थे एषां प्रामाण्यप्रसक्तिः, नन्वेवम[9]प्रामाण्ये सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। तथाहि—यज्जातीयात्[10] क्वचित् कदाचिद् यथाभूतं दृष्टं तादृशादेव सर्वदा सर्वत्र तथाभूतमेव भवतीति निरभिप्रायेष्वपि पदार्थेषु[11] नियमो नोपलभ्यते, इन्धनादिसामग्रीतोऽनलप्रादुर्भावदर्शनेऽप्येकदा मण्यादिप्रभवत्वेनापि तस्य समीक्षणात् कथं कार्यहेतावप्यव्यभिचारित्व[12]निबन्धनं प्रामाण्यं परेणाभ्युपगन्तुं युक्तम्? तथा, यद्यपि यद्बहुलं[13] वृक्षस्यैव[14] मू(चू)तस्योपलम्भस्तथापि क्वचित् कदाचिल्लतात्मतयाऽप्याम्रस्य दर्शनात् शिंशपा वृक्षस्वभावमेव बिभर्तीति कथं प्रेक्षापूर्वकारिणां[15] निःशङ्कं चेतो भवेत्? यतो 'लता[16] च स्यात् शिंशपा च' नैवात्र कश्चिद् विरोध इति 'वृक्षोऽयम् शिंशपात्वात्' इति स्वभावहेतोरप्यव्यभिचारनिबन्धनप्रामाण्याभ्युपगमः परस्य विशीर्येत। अथ स्वभावस्य[17] भावाभावेऽपि भवतो भावस्य निःस्वभावतापत्तेरव्यभिचारलक्षणं प्रामाण्यम् तादात्म्यात्, कार्यस्यापि कारणाभावे भवतः कार्यत्वाभावापत्तेस्तदुत्पत्तिस्वरूपा[18]व्यभिचारनिबन्धनं प्रामाण्यं विद्यत इत्यनुमानस्य प्रामाण्यम्। नन्वेवं[19] यादृशं यादृग्भूतं स्वसन्ताने विवक्षाज्ञानमुत्पन्नं तादृग्भूतमेव श्रोतृसन्ताने ज्ञानमुत्पादयितुकामो वचनमुच्चारयन् परार्थे[20] वाऽनुमानं तदभ्युपगच्छन् शब्दानां बहिरर्थे सम्बन्धनिमित्तं प्रामाण्यं कथं प्रतिक्षिपेत्?

अथानुमानस्यापि प्रामाण्यमव्यभिचारा[21]प्रतिपत्तित एव नाभ्युपगम्यते कुतस्तर्हि तत्त्वव्यवस्था? न प्रत्यक्षात्, तत्रापि स्वार्था[22]व्यभिचारित्वस्य प्रामाण्यनिबन्धनस्यासम्भवात् भवदभिप्रायेण सम्भा-

१-सनाद् वैशद्यावभासभेदस्त-भा० मा० विना। २ पृ० १३४ पं० १७। ३-थान्तरसा-वा० बा०। ४ सर्वथा ना-आ० हा० वि०। सर्वदा ना-वा० बा०। ५-ना तद् वि-वा० बा०। ६ कथं विवक्षाविवक्षाविशेषसूचका-वा० बा०। ७-थापि थात्मनोभिधान-वा० बा०। ८ न च न्यायेन-वा० बा०। ९ प्र० पृ० पं० १३। १० "न चैववादिन किञ्चिदनुमान नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुल कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे आयशोऽनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेऽपि सम्भवात्। 'यज्जातीयो यतः सप्रेक्षितस्तज्जातीयात् तादृग्' इति दुर्लभनियमतायां धूम-धूमकेत्वादीनामपि व्याप्य-व्यापकभाव कथमिव निर्णायेत? 'वृक्षः, शिंशपात्वात्' इति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावता किमिव निःशङ्कं चेतः स्यात्?"–(अष्टशती) अष्टस० पृ० ७१ पं० १६–पृ० ७२ पं० २। नन्वेवं प्रामा-वि०। नन्वेव प्रामा-आ० हा० वा० बा०। ११ यथा जाती-वि०। १२-चारित्वं नि-आ०। १३-हुलवृ-आ०। १४-क्षस्यैवंभू-वि०।-क्षस्यैव भू-हा०। १५-णां निश-भा० मा० वा० बा०। १६ लता द स्या-भा० मा० वा० बा० विना। १७ स्वभावाभावेऽपि आ०। स्वभावेऽपि वि०। १८-रूपां व्य-हा० वि०।-रूपं व्य-आ०। १९ नन्वेवं यादृग्भूतं स्व-आ०। नन्वेवं यादृशं यादृग्भूतस्व-वि०। २०-रार्थे वा-भा० मा० हा०। २१-चारप्र-भा० मां० वा० बा० विना। २२ स्वार्थव्य-वा० बा० मां० वि०।

वेऽपि प्रत्यक्षादिना प्रतिपत्तुमशक्तेः प्रामाण्यासिद्धेः। नापि स्वसंवेदनमात्रात्, तस्यापि ग्राह्य-ग्राहकाकारशून्यस्य यथातत्त्वमभ्युपगतस्याननुभूयमानत्वेन स्वत एवाव्यवस्थितत्वात् कुतस्तत्त्वव्यवस्थापकत्वम्? अथ प्रतिभासोपमत्वं सर्वभावानामिति न किञ्चित् तत्त्वमिति न कुतश्चित् तद्व्यवस्थाऽस्माभिरभ्युपगम्यते येन तदव्यवस्थालक्षणं दूषणं युक्तं भवेत्, असम्यगेतत्; शून्यतायां निपेत्स्यमानत्वात्। तस्मात् प्रमाणव्यवहारिणा यदि प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमभ्युपगम्यते तदा शब्दोऽपि बहिरर्थे प्रमाणतयाऽभ्युपगन्तव्यः, प्रामाण्यनिबन्धनस्य सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थप्रतिबन्धस्य परम्परया तत्रापि सद्भावात् तत्रैव च शब्दाच्चक्षुरादेरिव नियमेन प्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तिलक्षणव्यवहारदर्शनात् गुणदोषयोश्चोभयत्रापि समानत्वात्। न चास्माभिर्मीमांसकैरिवापौरुषेयः शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते येन 'विकल्पनिर्मितस्य तस्य नृत्यादिक्रियादेरिव कथमपौरुषेयत्वं स्यात्? स्वत एव शब्दस्यार्थप्रतिपादनयोग्यतायां सङ्केतादर्शिनोऽपि शब्दादर्थप्रतिपत्तिश्च स्यात् ततोऽनर्थकः सङ्केतः, स्वाभाविकसंम्बन्धाभिव्यञ्जकत्वोपयोगकल्पनायां च सङ्केतस्य यथेष्टं शब्दानामर्थेषु सङ्केतो न स्यात्, न ह्यभिव्यञ्जकसन्निधिर्नियमेनाभिव्यङ्ग्यस्योपलब्धिं जनयति प्रदीपादिरिव घटस्य, शब्दाभिव्यक्तिसाङ्कर्यवत् सम्बन्धाभिव्यक्तिसाङ्कर्यमपि प्रसज्येत, ततश्च सङ्केतात् सम्बन्धाभिव्यक्तिप्रतिनियमाभावात् तद्विवक्षितार्थप्रतिपत्तिनियमस्याप्यभाव इति सर्वस्माद् वाचकात् सर्वस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः सकृदेव प्रसज्येत; ततः सङ्केतकरणं विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थं न भवेत्, न ह्येकान्तनित्येषु शब्देषु तत्सम्बन्धे वा ताल्वादिव्यापारः संङ्केतो वा कदाचिदभिव्यञ्जकः कदाचिन्न इति युक्तमुत्पश्यामः, तदर्थस्यापि सामान्यस्य नित्यत्वे तदवस्थः प्रसङ्गः, तत् पुनः सामान्यं व्यक्त्या क्वचित् कदाचिद् व्यज्यते न वेति व्यक्ताव्यक्तस्वभावभिन्नं नित्यत्वैकान्तमतिवर्त्तते, सामान्यानां च सर्वगतत्वे शब्दतत्सम्बन्धवदभिव्यक्तिसाङ्कर्यमासज्यते, इदमस्यां व्यक्तौ वर्त्तते नेतरस्याम् इति विशेषाभावात् कुतः समवायिनियमः स्यात्, संस्थानादिव्यतिरिक्तं सामान्यं क्वचिदप्यनुपलभ्यमानं कथं शब्दसङ्केतविषयो भवेत् येन तत् तच्छब्दाभिधेयं स्यात्' इत्यादिकमपि दूषणमसन्मतानुपाति स्यात्। न च समानासमानपरिणामात्मकव्यक्तीनामानन्त्यात् तिर्यक्सामान्यस्य चैकस्य सर्वव्यक्तिव्यापिनो व्यक्त्युपलक्षणभूतस्यानभ्युपगमात् तदभ्युपगमेऽपि तद्योगात् तासामानन्त्याविनिवृत्तेर्न सङ्केतस्तासु सम्भवतीति वक्तव्यम्, अतद्रूपपरावृत्ताग्निधूमव्यक्तीनामानन्त्येऽपि यथा प्रतिबन्धः परस्परं निश्चीयते—अन्यथानुमानोत्थानाभावप्रसक्तेर्न क्षणिकत्वादितत्त्वव्यवस्था स्यात् अन्यस्य तद्व्यवस्थापकस्याऽसम्भवात्—तथा यथोक्तव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सङ्केतसम्भवो युक्त एव। स च संम्बन्धोऽग्निधूमव्यक्तीनां प्रत्यक्षेणैव ग्रहीतव्यः परेण, अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। न च दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेन स्वव्यापारोत्प्रेक्षाव्यतिरस्कारेण दर्शनव्यापारानुसारिणा लौकिकानां प्रत्यक्षाभिमानविषयत्वेन स्थितेन प्रतिबन्धग्रहणादेरुपपत्तेरनुमानप्रवृत्तिर्भविष्यति; तज्जनकं वा दर्शनं तथाविधविकल्पे स्वव्यापारारोपकत्वेन विकल्परूपतामापन्नं पूर्वोक्तकार्यजनकत्वादनुमानप्रवृत्तिनिमित्तम्, विकल्पस्यैव प्रामाण्यप्रसक्तेः। तथाहि-प्रत्यक्षे निर्विकल्पके सत्यपि यत्रैव यथोक्तो विकल्पस्तत्रैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारकर्तृत्वेन तस्य प्रामाण्यं नान्यत्र, अनुमानविकल्पे च प्रत्यक्षाभावेऽपि प्रवृत्त्यादिव्यवहारविधायकत्वेन प्रामाण्यमित्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां विकल्पस्यैव प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षाऽनुमानप्रमाणद्वयवादिना व्याप्तिग्राहको विकल्पः प्रत्यक्षं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यः। तत्र यथा व्यक्तीनामानन्त्येऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिबन्धसिद्धिस्तथा सङ्केतविषयत्वमपि तासां तत एव

---

१-दनामा-भा० मा०। २-पगत्वं हा०। ३-न्यतया भा० मा० विना। ४-या निपेध्यमा-भा० मा०। ५-माण्यव्य-वि०। ६ तस्यऽनृत्यादि-आ० हा०। तस्याऽवृत्यादि-वि०। तस्य नित्यादि-वा० बा०। ७-सम्बन्धाभिव्यञ्जकसम्बन्धाभिव्यञ्जकत्वोप-भा० मा०। ८-भावाव् तद्विवक्षितार्थप्रतिनियमाभावात् तद्विवक्षितार्थप्रतिपत्ति-हा० वि०। ९-स्यार्थप्र-भा० मा० वा० बा० विना। १० सङ्केततो वा कदाचिन्नेति आ० हा० वि०। सङ्केततो कदाचिद-वा० बा०। ११-वनिमित्तं नित्य-वि०। १२ शब्दसम्बन्ध-वा० बा०। १३ शब्दवि-भा० मा०। १४-भूतस्यानभ्युपगमेऽपि तद्यो-भा० मा० विना०। १५-बन्धनं प-आ०। १६ सम्बन्धाग्नि-भा० मा०। १७-क्षातिर-वा० बा०। १८-रुपपत्तेरनु-भा० मा०। १९ स्वपरारोप-आ० हा० वि०। २०-त्वानुमा-भा० मा० विना। २१-वृत्तिनिमित्तकल्प-वा० बा०। २२ प्रतिसम्बन्ध-भा० मा० वा० बा० विना।

सेत्स्यति, अत एवानुमाने-शाब्दयोः सामग्रीभेदाद् भेदेऽपि प्रत्यक्षेण सहैकविषयत्वम् अन्यथा—अपरस्य प्रतिबन्धग्राहकस्य पराभ्युपगमेनासम्भवात्—तयोरप्रवृत्तिप्रसक्तिः। विकल्पस्य प्रतिबन्धग्राहकत्वे तद्विषयस्याऽवस्तुत्वान्न केनचित् कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा। न च विकल्पविषययोः दर्शनविषयत्वेन स्थितयोः कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, विकल्पविषयस्य वस्तुदर्शनबलोद्भूतविकल्पप्रदर्शितस्य तद्रूपत्वं तत्त्वतोऽन्यथाभूतस्याप्यारोप्यत इति कृत्वा 'यतो यत्र व्याप्तिग्रहणं न तत्र तात्त्विकः प्रतिबन्धः यत्र त्वसौ न तत्र प्रतिबन्धग्रहणम्' इत्यनुमानप्रवृत्तिमभ्युपगच्छता प्रत्यक्षविषयत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यम्। अनुमानतुल्यविषयत्वं च शाब्दप्रत्ययस्य परेणाप्यभ्युपगम्यत एव, तस्य परार्थानुमानत्वाभ्युपगमात्। यदि पुनर्विकल्पप्रतिभासिन्यवस्तुनि सङ्केतः पुनश्च तत्र प्रतिपत्तिः कथं वस्तु-तत्सामान्यसङ्केतादस्य विशेषः स्यात्? विकल्पानामसावविषयत्वैकान्ते तत्त्व-मिथ्यात्वव्यवस्थितेरनुपपत्तिश्च। अपि च, 'शब्दैर्विकल्पैर्वा यद्यभावः प्रतीयते भावो न प्रतीयेत' इति क्रियाप्रतिषेधान्न किञ्चित् कृतं स्यात्। यदि पुनरभिप्रायाऽविसंवादात् सत्यार्थत्वव्यवस्थितिः, कथम् 'एकं शास्त्रं युक्तं नापरम्' इति व्यवस्था युज्येत विपक्षवादिनामपि स्वाभिप्रायप्रतिपादनाऽविसंवादनात्? न चायमेकान्तः—'शब्दैर्बहिरर्थो न प्रतिपाद्यन्ते,' तद्व्यवहारोच्छित्तिप्रसक्तेः। दृश्यन्ते च स्वयमदृष्टेषु नदी-देश-पर्वत-द्वीपादिष्वाप्तप्रणीतत्वेन निश्चितात् तच्छब्दात् तत्त्वप्रतिपत्तिं कुर्वाणाः। न च दृष्टेष्वपि विशेषेषु संप्रदायमन्तरेण मणि-मन्त्रौषधादिषु बहुलं तत्त्वनिर्नी(र्णी)तिः। न च तद्विशेषाऽविनिश्चयेऽपि कथञ्चिन्निर्णीतिर्नोपपद्यते, प्रत्यक्षस्यापि स्वविषयप्रतिपत्तेः कथञ्चिदेव सम्भवात्। तद् असाधारणं वस्तुस्वरूपमविकल्पविषयभूतं परमार्थसत् विकल्पानां प्रत्यक्षपृष्ठभाविनाम् वाच्यविषयाणामन्येषां च सर्वथा निर्विषयत्वं व्यवस्थापयन्नविकल्प एव सौगतः। यतः प्रत्यक्षं स्वलक्षणं विषयलक्षणं वा तत्त्वं न निश्चिनोति विकल्पकं पुनः साकल्येनाऽवस्त्वेव निश्चिनोतीति निश्चयक्रियाप्रतिषेधान्न किञ्चित् केनचिन्निश्चेयम् अनिश्चितेन च स्वरूपेण न तत्त्वव्यवस्थेति प्रत्यक्षवच्छाब्दस्याप्युभयात्मकवस्तुनिश्चायकत्वेन प्रामाण्यमभ्युपेयम्। न च प्रत्यक्षे पुरोव्यवस्थितं घटादिकं चक्षुर्जन्ये श्रोत्रप्रभवे शब्दस्वरूपं च प्रतिभाति नापरो वाच्यवाचकभावस्तयोरिति वक्तुं युक्तम्, यतो नास्माभिरेकान्ततस्तयोर्भिन्नो वाच्यवाचकभावोऽभ्युपगम्यते—येन तस्य पृथक् प्रतिभासः स्यात्—किन्तु सङ्केतसव्यपेक्षस्य शब्दस्य वाचकत्वं कथञ्चिदभिन्नो धर्मः तदपेक्षया चार्थस्यापि वाच्यत्वं तथाभूत एव धर्मः, तच्च द्वयमपि शब्दार्थप्रतिभाससमये क्षयोपशमविशेषाविर्भूते क्वचिज्ज्ञाने प्रतिभासत एव। तथाहि-'इदमस्य वाच्यम्' 'इदं वाऽस्य वाचकम्' इत्युल्लेखवत् तद्ग्राहिविशिष्टेन्द्रियादिसामग्रीप्रभवं ज्ञानमनुभूयत एव सङ्केतसमये। न च "अस्येदं वाचकम्' इति किं प्रतिपादकम् यद्वा कार्यम्, कारणं वा' इति पक्षत्रयोद्भावनं कर्तुं युक्तम्, प्रतिपादकत्वस्य वाचकत्वप्रदर्शनात्। 'प्रतिपादकत्वेऽप्यधुनाऽन्यदा वा विशदेन रूपेणेन्द्रियप्रभव एव ज्ञाने तद् वस्तु प्रतिभाति, न शाब्देन; शब्दस्य तत्र सामर्थ्यानवधारणात्' इति, एतदप्यसङ्गतम्, विहितोत्तरत्वात्—दूरस्थवृक्षाद्यर्थग्राहिणोऽविशदस्यापि प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् शाब्दस्यापि तत्प्रतिभासाविशिष्टस्य तत्र प्रामाण्येन तदुत्था-

---

१-न-शब्द-भा० मा०। २ प्रतिसम्बन्ध-वि०। ३-न किमचित् वा० बा०।-न किंचित् हा०। -न किञ्चित् आ० वि०। ४-कल्पाविषययोर्द-वा० बा०।-कल्पां विषयोर्द-मा०।-कल्पाविषयोद्-भा०।-कल्पविषयोर्द- आ० वि०। ५-स्विक प्र-भा० मा० विना०। ६ परेणाभ्यु-भा० मा० वा० बा० विना। ७-षयत्वेकान्ते आ० वा० बा०।-षयेत्वैकान्ते वि०।-षयत्वेकान्ते हा०। ८-प्रतिषेधेन भा० मा०। ९-न निश्चिताच्छब्दात्तशब्दात्त्वप्रति-भा०।-न निश्चितात्वदात्तत्वप्रति-वा० बा०। १०-हुलं तत्तत्वनि-भा० मा०।-हुलं तत्तनि-आ० वा० बा०। ११ सौमतः वा० बा०। १२-त्यक्षस्व-हा०। १३-लक्षणं वा भा० मा० वा० बा० विना। १४-प्रतिषेधाद् किञ्चि-वा० बा०। १५ च रूपेण वा० बा०। १६-व स्थिति भा० मा०। १७ नापुरो भा० मा०। १८-यावार्थ- आ० हा० मा०। -यार्थ-वा० बा०। १९ इदं चास्य भा० मा०। इदं वाच्यस्य आ० हा० वि०। २०-खवद्ग्राहि-भा० मा०।-खवयत् ग्राहि-वा० बा०। २१ सङ्केधानसम-वा० बा०। २२ इति प्रति-भा० मा०। २३-रणं चेति भा० मा० वा० बा० वि०। २४ पृ० २३५ पं० ३०। २५-कप्र-आ० वा० बा० विना। २६ न शब्दा (शाब्दे) शब्दस्य वा० बा०। २७ पृ० २३५ पं० ३१। २८ पृ० २६४ पं० २५-२९। २९-ग्राहिणा वि-हा० वि०।-ग्राहिणाऽवि-आ०।

एकवाच्यस्य तत्र सामर्थ्याधिगतेः[1]। न च 'यदि[2] शब्देनैवासावर्थः स्वरूपेण प्रतिपाद्यते तदा[3]स्य सर्वथा प्रतिपन्नत्वात् प्रवृत्तिर्न स्यात्' इति युक्तम्, प्रत्यक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात्। तथाहि–प्रत्यक्षेणापि यदि नीलादिः[4] सर्वात्मना प्रतिपन्नः किमर्थं तत्र प्रवर्तेत? तथापि प्रवृत्तौ प्रवृत्तेरविरतिप्रसक्तिः। 'अथाप्रतिपन्नं[5] किञ्चिद् रूपमस्ति यदर्थं प्रवृत्तिः' इत्यादिकमपि प्रत्यक्षेऽपि समानम्। तत्रापि हि शक्यत एवं वक्तुम्–यद्यर्थक्रियार्थी प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽपि नीलादिके प्रवर्तते[6] तदा तदेवार्थः[7] अर्थक्रियाक्षमत्वात्[8] न प्रत्यक्षप्रतिभातं नीलादिकम् तस्यार्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वात्। अथ तदपि नीलादिकमर्थक्रियाक्षमं तथापि तदर्थक्रियार्थी तदादानाय प्रवर्तते, ननु शाब्दप्रतिभासेऽप्येवत्[9] समानमुत्पश्यामः। यदपि[12] 'अथाऽविशदेनाकारेण शब्दास्तमर्थं[13] प्रकाशयन्ति तदाऽसावस्पष्ट आकारो नेन्द्रियगोचरः,' तदप्यसङ्गतम्; तस्येन्द्रियविषयत्वेन प्रतिपादितत्वात्[10]। तत्र प्रवृत्ताः शब्दाः कथं[14] नेन्द्रियगोचरे प्रवृत्ता भवन्ति? यदपि 'श्रुतं पश्यामि' इत्येकत्वाध्यवसाये[15] दृष्टरूपतया श्रुताध्यवसाये दृष्टमेव[16], श्रुतरूपतया दृष्टस्य ग्रहणे श्रुतमेव, न तयोस्तत्त्वम्' इति[17], एतच्चित्रपतङ्गेऽपि समानम्। तथाहि–यदि तत्रापि नीलाद्याकारः पीताद्याकारतया गृह्यते चित्रपतङ्गज्ञानेन तदा पीताद्याकार एवासौ न नीलाद्याकारः, अथ नीलाद्याकारतया पीताद्याकारो गृह्यते तदा नीलाद्याकार एवासौ कुतश्चित्र एकः? तथा, तत्प्रतिभासेऽपि ज्ञाने नीलाद्याभासो यदि पीताद्याभासतया संवेद्यते तदा पीताभासमेव तद् ज्ञानं[18] न नीलाद्याभासमित्यादिकल्पनया न चित्रप्रतिभासमेकं[19] ज्ञानम्। तथा, नीलसंवेदनेऽपि प्रतिपरमाण्वेवंकल्पनया नैकं नीलप्रतिभासं ज्ञानम्, विव(वि)क्तस्य च ज्ञानपरमाणोरसंवेदनात् सर्वशून्यतापत्तेः सर्वव्यवहारोच्छेद इति न किञ्चिद् वक्तव्यम्। अथानेकनीलपरमाणुसमूहात्मकमेकत्वेन संवेदनादेकं नीलज्ञानम् तर्हि दृष्ट–श्रुतरूपमबाधितैकत्वप्रतिभासादेकं बहिर्वस्तु किं नाभ्युपगम्यते? यथा युगपज्ज्ञान्यनेकनीलज्ञानपरमाण्ववभासानां स्वसंवेदने[20] एकत्वाविरोधस्तथा[22] क्रमेणा[23]ऽपि दृष्ट–श्रुतावभासयोरेकत्वेनाविरोधः 'दृष्टं शृणोमि' इति ज्ञानेन[24] भविष्यतीत्येकत्वावभासिना[25] दर्शनशब्दविषयस्यार्थस्यैकत्वं निश्चीयत इति परमार्थत एव[26] तत् तत्त्वमिति। एतेन 'भिन्नविज्ञानप्रतिभासिनोर्न विशेषणविशेष्यभावः एकविज्ञानप्रतिभासिनोरपि युगपत् स्वातन्त्र्येण द्वयोः प्रतिभासनाद् घट–पटयोरिव नासौ युक्तः। तादूप्येण[27] प्रतिभासने[28] विशेष्यरूपता विशेषणरूपता वा केवला, द्वयोः प्रतिभासाभावात् न विशेषणविशेष्यभावः क्वचिदपि ज्ञाने प्रतिभाति' इत्येतदपि[29] निरस्तम्, अनेकनीलपरमाणुप्रतिभासज्ञाने तत्स्वसंवेदने वाऽस्य[30] समानत्वात्। न च नीलपरमाणूनां तत्प्रतिभासपरमाणूनां वा परस्परविविक्तानां प्रत्यक्षे स्वसंवेदने च प्रतिभास इति नायं दोषः, तत्र परमाणुपारिमाण्डल्यादेः बहिरन्तश्चाप्रतिभासनात् स्थूलस्यैकस्य[31] संहतविकल्पावस्थायामपि बहिरन्तश्च वेद्यवेदकाकारविनिर्भासवतः प्रतिभासनात्। परमाणुरूपं बहिरनंशं[32] संवेदनं वा प्रत्यक्षं प्रतिजानानः कथं सर्वज्ञत्वमात्मनो न प्रतिजानीते? शक्यं हि वक्तुम्–संवेदनं[33] संवेद्यं सकलं विषयीकरोति–देश–काल–स्वभावविप्रकृष्टेष्वपि भावेषु संवेदनस्य निरङ्कुशत्वात्–किन्तु कुतश्चिन्निश्चयप्रवोधहेतोर्विकल्पानामियमशक्तिः यतो यथार्थस्वभावं[34] प्रत्यक्षेण विषयीकृतमपि[35] न निश्चिन्वन्तीति।

---

१–गमैर्न भा० मा०।–गमनेनै वा० बा०। २ यदि शाब्दे–भा०। ३–दा तस्य भा० मां० विना। ४–पश्चात् वा० बा०। ५ पृ० २३६ पं० १। ६ नीलतो स–वा० बा०। ७ प्रवर्तते भा० मा०। ८–पन्न किञ्चि–आ० मां०। ९ पृ० २३६ पं० २। १०–याभूतमत्वा–भा० मा० विना। ११–भास्येप्येमां०। १२ पृ० २३६ प० ४। १३ पृ० २६० पं० १९। १४ कथं सिन्द्रिय–वा० बा० विना। 'कथसिन्द्रियगोचरे न प्रवृत्ता–' वि० स०। १५–साये दृष्टरूपताध्यवसायो दृष्टरूपतया श्रुताध्यवसायो दृष्टमेव वा० बा०। १६ दृष्टमिव मां०। १७ पृ० २३५ पं० ७–१०। १८ ज्ञानं नी–भा० मा० वा० बा० विना। १९–समेकज्ञानं–भां० मा० विना।–समेव ज्ञानं न नीलाद्यं वेदने–वा० बा०। २०–प्रज्ञाद्यनेक–वा० बा०।–पदाद्यनेक–आ० हा० वि०। २१–दनं वा० बा०। २२–स्तत्रा क्र–वा० बा०। २३–णाहष्ट–भा० मां० वा० बा० विना। २४ ज्ञाने भ–वि०। २५–कत्वमासि–भा० मा० वा० बा० विना। २६–व तत्त्व–भा० मा० वा० बा० विना। २७ तादूपाप्या प्र–वा० बा०। २८–सते आ०। २९ पृ० २३४ पं० २२–२३। ३० वाऽप्य स–आ० हा०। वाऽप्यव स–वि०। ३१ संहत–भा० मा०। ... न वि–वा० बा०। ३२–बहिरनंशं वेद–आ० हा० वा० बा०।–बहिरन्तसंवेद–वि०। ३३ ... हा०। ३४–भाव प्र–भा० ... ३५–... ... –वा० बा०।

प्रत्यक्षबुद्धेस्तथाप्रतिभासाभावात् सर्वज्ञत्वमयुक्तमिति चेत्, परमाणुपारिमाण्डल्यादेरप्यप्रतिभासनं समानं संपश्यामः। यदपि 'काल्पनिकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः न नियतः' इति, तदप्ययुक्तम्; प्रतिनियतसङ्केतानुसारिणो नियताच्छब्दात् प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्। तेन 'न शब्दस्वरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुः, तस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति न वक्तुं युक्तम् नियतसङ्केतसहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वासिद्धेः। कार्यगम्यं हि वस्तूनां नियतत्वम् अन्यद् वा-यदा च नियतं तत्कार्यमुपलभ्यते तदा तस्य नियतत्वं व्यवस्थाप्यते, यदा चान्यथा तदाऽन्यथात्वमिति 'कुतः पुनरेतत् स्वरूपं शब्दादेः' इति पर्यनुयोगे 'स्वहेतुप्रतिनियमः' इत्युत्तरं न्यायविदः सर्वत्र युक्तियुक्तम् दृष्टानुसितानां नियोग-प्रतिषेधानुपपत्तेः। 'प्रतिपत्तिधर्मस्तु नियमहेतुः काल्पनिक एव स्यात्' इति, एतदप्ययुक्तम्; अबाधिताकारप्रतिपत्तेस्तात्त्विकार्थधर्मव्यवस्थापकत्वात्, शब्दार्थसम्बन्धप्रतिपत्तेस्त्वबाधितप्रतिपत्तित्वं साधितमेव; बाधितत्वे वा तत्प्रतिपत्तेस्तत्प्रभवशाब्दज्ञानस्याप्रामाण्यप्रसक्तिर्विपरीतप्रतिबन्धग्राहिज्ञानप्रभवानुमानाभासस्यैवम् (स्येव)। तत् सौगतदर्शनमेव व्यान्ध्यविजृम्भितम्। यदपि 'शब्देभ्यः कल्पना बहिरर्थासंस्पर्शिन्यः प्रसूयन्ते, ताभ्यश्च शब्दाः' इति, तदप्यचारु; शब्दजनितविकल्पानां बहिरर्थाऽसंस्पर्शित्वासिद्धेः इन्द्रियजज्ञानस्येव तासां तत्प्राप्तिहेतुत्वादिति प्रतिपादितत्वात्। परसन्तानवर्तितथाभूतविकल्पजनकत्वं तद्विकल्पादृष्टावपि शब्दानां प्रत्येति, न पुनः प्रत्यक्षादुपलभ्यमानबहिरर्थवाचकत्वमिति' विपरीतप्रज्ञो देवानांप्रियः। न चार्थाभावेऽपि शाब्दप्रतिभासस्याऽप्रच्युतेर्न शब्दस्य बाह्यार्थवाचकत्वम्, विकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्—विसदृशसङ्केतस्य श्रोतुस्तच्छब्दसद्भावेऽपि तथाभूतविकल्पानुत्पत्तेः शब्दाभावेऽपि च कुतश्चित् कारणात् तथाभूतविकल्पप्रतिभासाप्रच्युतेश्च। अथ समानसङ्केतस्य श्रोतुस्ततस्तत् समुत्पद्यत एव, शब्दाभावे तु यद् विकल्पकज्ञानं तादृगवभासं कारणान्तरप्रभवं न प्रच्यवते, तद् अतादृशमेवेत्यतो न व्यभिचारः। नन्वेवं तद् बाह्यार्थावभासिशाब्दे प्रतिभासेऽपि समानम्-'यो ह्यर्थाभावेऽपि शाब्दः प्रतिभासः स तत्प्रतिभाससमानो न भवति' इत्यादेः प्राक् प्रदर्शितत्वात्। यदपि 'शब्दाद् बाह्यार्थाध्यवसायिज्ञानोत्पत्त्यादितत्प्राप्ति-पर्यवसानव्यवहारसद्भावेऽपि बाह्यार्थासंस्पर्शित्वाद् विकल्पानां न सर्वात्मनाऽर्थग्रहणदोषः' तदप्यसङ्गतम्; प्रत्यक्षवदर्थसंस्पर्शित्वेऽपि सर्वात्मना अग्रहणस्य प्रतिपादितत्वात्। यदपि 'अप्रतिभासेऽप्यर्थस्य शब्दात् भ्रान्तेः प्रवृत्तिः,' तदप्ययुक्तम्; भ्रान्ताऽभ्रान्तप्रवृत्त्योर्विशेषसद्भावात्-यत्र ह्यर्थप्राप्तिर्नोपजायते प्रवृत्तौ तत्र भ्रान्तिः प्रवृत्तेर्व्यवस्थाप्यते अन्यत्र त्वभ्रान्तिरिति कस्य विज्ञानस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छता नाऽप्रतिभासेऽप्यर्थस्य प्रवृत्त्यादिव्यवहारः कदाचनाप्यभ्युपगन्तुं युक्तः। प्रतिबन्धस्तु तदविसंवादे शाब्दस्याप्यर्थप्रतिबन्धनिबन्धनः, तत्र संवादोऽस्तीति प्रत्यक्षवत् तत्र तस्य प्रामाण्यं युक्तम्, न च प्रतिबन्धः परपक्षे सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यते, स्वसंवेदनमात्रं च परमार्थसत् तत्त्वरूपं निरस्तप्रतिबन्धादिपदार्थं यथा न संभवति इत्येतदपि प्रतिपादयिष्यते। शेषस्त्वत्र पूर्वपक्षग्रन्थः प्रतिपदमुच्चार्य न प्रतिविहितः ग्रन्थगौरवभयात् दिग्मात्रप्रदर्शनपरत्वाच्च प्रयासस्य। इति स्थितमेतत्-'समयपरमत्थवित्थरे' इति ॥ २॥

---

१ पृ० २३५ पं० २१-पृ० २३६ पं० ११। २-तार्थप्र-वा० बा० विना। ३ तेन श-वा० बा०। ४-त्वादिति नि य वक्तुं वा० बा०। ५ पृ० २३६ पं० १३। ६ अन्यथा वा० बा० विना। ७-ति तत् कु-वि०। ८-त्तरन्याय-वा० बा० विना। ९-तार्था नियो-वा० बा०। १० पृ० २३६ प० १४। ११-बाधिकाकार-भा० मा०। १२-त्वं प्रसा-भा० मा०। १३ तत्वेना तत्प्र-आ० हा० वि०। तत्वेनाऽतत्प्र-भा० मा०। १४-नाध्यास-भा० मा० वा० बा० विना। १५-सत सौ-वा० बा०। १६ पृ० २३६ प० १७। १७-नस्यैव वा० बा०। १८ तद्विकल्पदृष्टा-वा० बा०। १९-ति प-भा०। २०-च्युते न भा० मा० वा० बा०। २१ विशसङ्केत-आ० हा० वि०। विशब्दसङ्केत-वा० बा०। २२-नुपपत्तेः वा० बा०। २३-कल्पज्ञा-भा० मा०। २४ नन्वेवद् वा (नन्वेतद् वा) वा० बा०। २५ शाब्दप्र-भा० मा० वा० बा० विना। २६ पृ० २३७ प० २। २७ पृ० २३७ प० ५। २८ वृत्तेर्वि-भा० मा० वा० बा० विना। २९-र्नो जा-भा० मा० विना। ३०-वृत्ते व्य-वा० बा० मा०। ३१-नाभ्यु-भा० मा० वा० बा० विना। ३२ प्रतिबन्धास्तु हा० वि०। प्रतिबन्धात् तु भा० मा०। प्रति विपास्तु वा० बा०। ३३-त्वस्वरू-वि०। ३४-ष्यमाणम्। शे-भा० मा० वा० बा०। ३५ पृ० १६९ पं० ८।

# तृतीयगाथाव्याख्या।

## [ द्रव्यास्तिकनयनिरूपणम् ]

### [ १ सदद्वैतप्रतिपादकः शुद्धद्रव्यास्तिकनयः ]

अत्र च कुण्ठधियोऽन्तेवासिनो योगित्वा(ता)प्रतिपादनार्थः प्रकरणारम्भः प्रतिपादितः; सा च विशिष्टसामान्य-विशेषात्मकतदुपायभूतार्थप्रतिपादनमन्तरेणातः प्रकरणान्न सम्पद्यत इति प्रकरणाभिधेयं योगितोपायभूतमर्थम्—

तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥

इत्यनया गाथया निर्दिशति। अस्याश्च समुदायार्थः पातनिकयैव प्रतिपादितः।

अवयवार्थस्तु—तरन्ति संसारार्णवं येन तत् तीर्थम्—द्वादशाङ्गम् तदाधारो वा सङ्घः—तत् कुर्वन्ति उत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात् तीर्थकरनामकर्मोदयाद् वेति "हेत्वाद्यर्थे टच्" [ ] तीर्थकराणां वचनम्-आचारादि अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्—तस्य सङ्ग्रह-विशेषौ द्रव्य-पर्यायौ सामान्य-विशेषशब्दवाच्यावभिधेयौ तयोः प्रस्तारः—प्रस्तीर्यते येन नयराशिना सङ्ग्रहादिकेन स प्रस्तारः—तस्य संग्रह-व्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यास्तिकः-द्रुतिर्भवनं द्रव्यम्-सत्तेति यावत्-तत्र 'अस्ति' इति मतिरस्य द्रव्यास्तिकः "सह सुपा" [अ० २, पा० १, सू० ४ पाणि० व्या० पृ० १६० अं० ६४९] इत्यत्र 'सुपा सह' इति योगविभागात् मयूरव्यंसकादित्वाद् वा द्रव्य-आस्तिकशब्दयोः समासः, द्रव्यमेव वाऽर्थोऽस्येति द्रव्यार्थिकः द्रव्ये वा स्थितो द्रव्यस्थितः। परि समन्तात् अवनम् अवः-पर्यवो विशेषः तज्ज्ञाता वक्ता वा, नयनं नयः नीतिः पर्यवनयः अत्र छन्दोभङ्गभयात् 'पर्यायास्तिकः' इति वक्तव्ये 'पर्यवनयः' इत्युक्तम्

---

१-त्र कुण्ठ-भा० मां०। २ योग्यताप्र-भा० मा०। योगित्वप्र-आ० हा० वि०। ३ योग्यतोपा-भां० मां०। ४ "कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु"। ३, २, २० पाणि० व्या० पृ० ४९२ अं० २९३४। ३, २, २० अर्नेमं० मिता० पृ० २२४ पं० ४। "कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु अशब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदेषु"। ४, ३, २२ कात० व्या० पृ० ३४८ पं० १। "कृञो हेतु-शीलाऽनुलोमेषु"। १, २, ७ चान्द्रव्या० पृ० ३२ पं० २१। "कृञो हेतु-शीलाऽऽनुलोम्ये अशब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदे"। २, २, २५ जैने० व्या० पृ० २६५ प० ४। "हेतु-तच्छीलाऽनुकूले अशब्द-श्लोक-कलह-गाथा (था) वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदात्"। ४, ३, १३३ शाक० व्या० पृ० २९५ अ० ८९। "हेतु-तच्छीलाऽनुकूले अशब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदात्"। ५, १, १०३ हैम० व्या० पृ० ८ प्र० प० २। "अ-चौ" सार० व्या० पृ० ४०७ प० ३१। एषु सर्वेषु व्याकरणेषु हेत्वाद्यर्थे 'ट' प्रत्यय एव विधीयते न तु 'टच्'। ५ 'आचारादि'शब्देन आचाराङ्गप्रभृतीनि द्वादश अङ्गसूत्राणि। तद्यथा—आचाराङ्गम्, सूत्रकृताङ्गम्, स्थानाङ्गम्, समवायाङ्गम्, व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती-अङ्गम्, ज्ञाताधर्मकथाङ्गम्, उपासकदशाङ्गम्, अन्तकृद्दशाङ्गम्, अनुत्तरौपपातिकदशाङ्गम्, प्रश्नव्याकरणाङ्गम्, विपाकश्रुताङ्गम्, दृष्टिवादाङ्गम्। ६ प्रस्तार्य-भा० मा०। ७-कः द्रविर्भ-आ० वि०। ८-स्य प्रहद्रव्या-वा० बा०। ९ "द्रव्येण अर्थो द्रव्यार्थ' द्रव्यमर्थोऽस्य इति वा। अथवा द्रव्यार्थिक.—द्रव्यमेव अर्थो यस्य सोऽय द्रव्यार्थ.—स्वार्थिकोऽयम् 'ठन्' प्रत्ययः—द्रव्यार्थिक.। एवं पर्यायार्थ' पर्यायार्थिको वा'-नयच० आ० लि० पृ० ३ द्वि० पं० ६। १० योगविभागोऽत्रैव पात०महाभाष्ये खं० २ पृ० ३५८ प० १६। ११ "मयूरव्यंसकादयश्च"। २, १, ७२ पाणि० व्या० पृ० १७९ अ० ७५४। "मयूरव्यंसकेत्यादय"। ३, १, ११६ हैम० व्या० पृ० २४ द्वि० पं० १०। १२ अत्र च च्छ-आ० हा० वि०। १३ छन्दोभङ्गभय च 'पज्जायत्थिओ' इति निर्दिष्टे मात्राद्वयाधिक्यात् "गाहाइ सत्तावणिअ" इति वचनात्-प्राकृ० पि० पृ० १०३ पं० ३। "आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु 'गाथा' सञ्ज्ञा" इति हैम० छन्दो० पृ० २६ द्वि० प० १८। १४ प्र० पृ० पं० ८।

तेनात्रापि पर्याय एव 'अस्ति' इति मतिरस्येति द्रव्यास्तिकवत् व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या, स च विशेषप्रस्तारस्य-ऋजुसूत्रशब्दादेः-आद्यो वक्ता। ननु च 'मूलव्याकरणी' इत्यस्य द्रव्यास्तिक-पर्यायनयावसिधेयाविति द्वित्वाद् द्विवचनेन भाव्यम्, न; प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः, अत एव चकारद्वयं सूत्रे निर्दिष्टम्। शेषास्तु नैगमादयो विकल्पा भेदाः अनयोर्द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकयोः। 'सिं' इति प्राकृतशैल्या।

"बहुवयणेण दुवयणं" [ ] इति द्विवचनस्थाने बहुवचनम्।

तथाहि-परस्परविविक्तसामान्य-विशेषविषयत्वाद् द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकावेव नयौ, न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति यद्विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात्। तृतीयविषयस्य चासम्भवो भेदाभेदविनिर्मुक्तस्य भावस्वभावस्यापरस्यानुपपत्तेः। ताभ्यामन्य एकस्तद्वानर्थोऽस्तीति चेत्, न; स्वभावान्तराभावात् प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः तत्स्वभावातिक्रमे वा खपुष्पसदृशत्वप्रसक्तेः। ताभ्यां तद्वतोऽर्थान्तरैकस्यं(न्तरस्य) सर्वथा सम्बन्धप्रतिपादनोपायासम्भवात् समवायस्य तैरसम्बन्धे तद्व्यपदेशानुपपत्तेः, समवायान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः विशेषणविशेष्यसम्बन्धकल्पनायामप्यपरापरतत्कल्पनाप्रसक्तेर्न सम्बन्धसिद्धिः। ततः स्थितमेतद् न किञ्चिन्नयद्वयबहिर्भावि भावस्वभावान्तरविकल्पनावलम्बि प्ररूपणान्तरमिति। केवलं तयोरेव शुद्ध्यशुद्धिभ्यामनेकधा वस्तुस्वभावनिरूपणविकल्पाभिधानवृत्तयो व्यवतिष्ठन्ते।

तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयः संग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपकः। तथा च संग्रहनयाभिप्रायः-, सर्वमेकं सत्, अविशेषात्। तथाहि-भावाः स्वरूपेण प्रतिभान्ति तच्च स्वरूपमेषां स्वलक्षणमविकल्पकप्रत्यक्षग्राह्यम्, भेदोऽन्यापेक्ष इति" न तेषां स्वरूपम्-यद् अन्यानपेक्षया झगित्येव प्रतीयते तत् स्वरूपम्, भेदस्य तु विकल्पविषयत्वादन्यापेक्षत्वेन काल्पनिकत्वम्; काल्पनिकं च अपरमार्थसदुच्यते। तथाहि-एवमेव भेदप्रतीतिः-'इदमस्माद् व्यावृत्तम्' एतच्चाध्यक्षस्यागोचरः, अत एव सर्वावस्थासु यद् अनुगतं रूपं तदेव तात्त्विकम्, यथा सर्पादिविकल्पेषु बोधमात्रं सर्वेष्वनुगच्छत् तथाभूतम्-सर्पाद्याकारास्तु व्यावृत्ताः परस्परतो भिन्नरूपा बाध्यन्ते, न पुनर्बाधकेन बोधमात्रस्य बाधा-तथा घटादिषु विभिन्नेषु मृद्रूपतावृत्तिः (?) यावद्द्रव्यभावा तावदनुगतायां(याः) मृद्रूपतायाः सत्त्वम्, घटादीनां तु कञ्चित् कालं प्रतीयमानानामप्यर्थक्रियां च साधयतां स्वप्नदृष्टपदार्थवन्न सत्त्वम्। यथा स्वभेदेष्वनुगताया मृद्रूपतायास्तात्त्विकत्वम् एवं मृद्रूपत्वादीनामपि सत्त्वापेक्षया भेदरूपत्वान्न तात्त्विकत्वम्। अत एव तत्त्वविद्भिरुक्तम्-

---

१-ति द्रव्या-भा० मा०। २ पृ० २७१ पं० ७। ३-ति द्विवच-आ० हा० वि०। ४-कं च वा-बा० बा०। ५ 'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' इति सूत्रे यद् 'य'द्वयं तदेव संस्कृतशैल्या 'च'कारद्वयम्- पृ० २७१ पं० ८। ६-कल्प्या भे-भा० मा०। ७ "आमा सिं"। प्राकृतप्र० षष्ठप० सू० १२ पृ० ७१ पं० ४। " "वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां सेसिमौ"। ८, ३, ८१ है० प्रा० व्या० पृ० ९७ पं० १५।

८ "बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी। जह हत्था तह पाया नमोऽत्थु देवाहिदेवाण" ॥

इति एतत् सपूर्णं पद्यं "उक्तं च" इत्युल्लिख्य निर्दिष्टम्-ललितवि० वृ० पृ० १२ द्वि० पं० १२। "दुवयणे बहुवयणं" इत्याद्यपि तथैव निर्दिष्टम्-आव० हारि० वृ० पृ० ११ द्वि० पं० ३। मलयगिरिसूरिस्तु "यदाह पाणिनि" इति निर्दिश्य "द्विवचनं बहुवचनेन" इति सूत्रमुल्लिखति-धर्मसं० वृ० पृ० १०७ प्र० प० ११। "द्विवचनस्य बहुवचनम्"। प्राकृतप्र० षष्ठप० सू० ६३ पृ० ८१ पं० १७। ८, ३, १३० हैम० प्रा० व्या० पृ० १०७ पं० ११। प्राकृतरूपा० पृ० ७ प० १८ सू० ८। २, ३, ३४ षड्भा० च० पृ० २० पं० २२। "द्विवचने बहुवचनम्" प्राकृतम० पृ० ९२ पं० ५, सू० १०६। ९-क भा-आ०। १० भावस्याप-वि०। ११-र इत्यस्य सर्वं-बा० बा० विना। १२-रूपकः भा० मा०।-रूढः आ०। १३ तत्र स्व-बा० बा०। तत्व स्व-आ० हा० वि०। १४-पां स्वलक्ष-बा० बा०।-पां स्वलक्षणविक-आ० हा० वि०। १५-ति ते-बा० बा० विना। १६-गतरू-भा० मां०। १७ मृद्रूपताप्रवृत्तिः बा० बा०। मृद्रूपेतावृत्तिः हा०। मृद्रूपे नावृत्तिः वि०। १८-तायां सत्त्वं आ० हा० वि०।-ताया. सत्त्वं बा० बा०। १९-त्त्वमेव मृ-बा० बा० हा० वि० विना।

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः" ॥
[ गौडपा० का० ६ पृ० ७० वैतथ्याख्यप्र० ]

वितथैस्तु सादृश्यमवितथत्वाभिमतानां कालत्रयाव्यापित्वम् तत् प्रत्यक्षेण प्रतीयमानस्य सद्रूपताया ग्रहणात् "सर्वमेकं सल्लक्षणं च ब्रह्म" [ ] इत्याहुः । आगमश्चाऽभेदप्रतिपादकः । तथा च मन्त्रः—"इन्द्रो मायाभिः पर(पुरु)रूप ईयते" [ऋग्वे० मण्ड० ६ सू० ४७ ऋ० १८] इत्यनेनाऽभिन्नस्य मायाकृतो भेदो दर्श्यते । तथा, ब्राह्मणेऽपि भेदनिषेध उक्तः—

"नेह नानास्ति किञ्चन" [ बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १९ ]

तथा, भेददर्शिनो निन्दार्थवादः श्रूयते—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"
[ बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १९ ]

'इव' शब्देनौपचारिकत्वं भेदस्य दर्शितम् । तथा, "एकमेवाऽद्वितीयम्" [छान्दो० उ० अ० ६ खं० २ मं० १] इत्यवधारणाऽद्वितीयशब्दाभ्यामयमेवार्थः स्फुटीकृतः—

"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतम्" [ ऋक्सं० मण्ड० १० सू० ९० ऋ० २ ]

इत्यादिकश्चानेकस्तदद्वैतप्रतिपादक आम्नायः ।

न चागमस्याऽभेदप्रतिपादकस्य प्रत्यक्षबाधा, तस्याऽनुगतरूपग्राहकत्वेनाभ्युपगमात् तथाऽविरोधित्वात् । तदुक्तम्—

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः ।
नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते" ॥ [ ] इति ।

न चैतद् वचनमात्रम् यतो भेदः प्रत्यक्षप्रतीतिविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानः किं देशभेदादभ्युपगम्यते, आहोश्वित् कालभेदात्, उत आकारभेदात् ? तत्र न तावद् देशभेदाद् भेदो युक्तः, स्वतोऽभिन्नस्यान्यभेदेऽपि भेदानुपपत्तेः—न ह्यन्यभेदोऽन्यत्र सङ्क्रामति । किञ्च, देशस्यापि यद्यपरदेशभेदाद् भेदः तथासति तद्देशस्यापि अपरदेशभेदाद् भेदः इत्यनेनानवस्था । स्वत एव चेद् देशभेदस्तर्हि भावभेदोऽपि स्वत एवास्तु किं देशभेदाद् भेदकल्पनया ? अपि च, यावद्वदृष्टौ देशौ भिन्नौ भावयोर्भेदकौ नेतोद्भातः (निवोद्भातः) तत् कुतस्तद्भेदाद् भेदो ज्ञातुं शक्यः स्वतोऽव्यवस्थित-

---

१ गौडपा० का० ३१ पृ०१८० अलात० प्र० ।

"जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ?"—आचारा० शीतोष्णीयअ० ४, उ० ४ ।

"आदावन्ते च यन्नास्ति मध्येऽपि हि न तत् तथा"—नयोप० श्लो० १४ यशो० भा० पृ० १०६ ।

२—नस्यासद्रूपतया ग्र—वा० वा० । ३ सर्वमिदं स—आ० हा० वि० । ४—मस्याऽभे—भा० मां० वि० विना । ५ बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५ मं० १९ । गौडपा० का० ७ टी० पृ० ३५ प० २० । गौडपा० का० २४ टी० पृ० ३१ प० २४ । संक्षेपशा० अ० २ श्लो० १२५ टी० पृ० ८० पं० २० । "इन्द्रः परमेश्वर', मायाभिः × × × पुरुरूपः बहुरूपः, ईयते गम्यते× × ×"—बृहदा० उ० भा० अ० २, ब्रा० ५ पृ० ३८४ प० १० ।

"मायाभिः प्रत्यगज्ञानैर्यदि वाऽनृतबुद्धिभिः । गम्यते पुरुरूपोऽज्ञैरेकोऽपि जलसूर्यवत्" ॥
बृहदा० उ० भाष्यवार्ति० अ० २, ब्रा० ५ श्लो० १२७ पृ० ११३१ ।

६—था ब्रह्मणेऽपि आ० हा० वि० ।—था ब्रह्मणोऽपि भा० मा० ।

७ "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥
बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १९ ।

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति" ॥
कठो० अ० २, वल्ली ४ श्लो० ११ ।

८ गौडपा० का० १३ टी० पृ० ११८ प० ७ तथा का० २४ टी० पृ० १३२ पं० ९ । ९ "सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाऽद्वितीयम्" इत्यादि ।

१० "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् । उताऽमृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति" ॥ श्वेताश्व० उ० अ० ३ मं० १५ ।

११—कश्चानेक—वा० बा० ।—कश्वनेक—हा० वि० ।—कस्त्वनेक—वि० सं० । १२—था वि—भा० मा० विना । १३ "प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते"—प्रमेयक० पृ० १७ द्वि० पं० १२ । १४ प्रमेयक० पृ० १७ द्वि० प० १३ । १५—परभेदा—भां० मां० । १६—त्यनवस्था भा० मा० ।—त्यनेन वस्था वा० वा० । १७—भिन्नोर्भा—वा० बा० आ० । १८—दकौ न तौ भातः भा० मा० ।—दकौ न तौ भावः हा० वि० ।

स० त० ३५

योरन्यव्यवस्थापकत्वायोगात्? यश्चाऽनयोरन्यो देशः प्रतिभाति नासौ भेदकः अतिप्रसङ्गात्। तन्न देशभेदाद् भावभेदः समस्तीति नासौ प्रत्यक्षग्राह्यः।

नापि कालभेदात् प्रत्यक्षतो भिन्नं वस्तु प्रत्येतुं शक्यम् सन्निहितमात्रवृत्तित्वात् तस्य। तथाहि-यदा आद्यं दर्शनं मृत्पिण्डमुपलभते न तदा भाविनं घटम्, तदप्रतीतौ तदपेक्षया न स्वविषयस्य भेदं प्रत्यक्षं प्रत्येतुं समर्थम् प्रतियोगिग्रहणमन्तरेण 'ततो भिन्नमिदम्' इत्यनवगतेः। तत्र हि दर्शने मृदः स्वरूपं प्रतिभातीति तदधिगतिर्युक्ता; तत्राऽप्रतिभासमानं तु भाविघटादिरूपं भविष्यतीति नात्र प्रमाणमस्ति, नापि तस्माद् भेदः। अथ उत्तरकालभावि दर्शनं भिन्नं घटं मृत्पिण्डाद् दर्शयतीत्यभ्युपगमः सोऽप्ययुक्तः, यतः तदपि दर्शनं पुरःस्थितार्थप्रतिभासनान्न पूर्वदृष्टार्थग्रहणक्षमम्, तदग्रहणे च न तस्माद् भेदमादर्शयितुं क्षमं वर्तमानार्थस्य। तस्मान्न तेनापि भेदगतिः।

अथ पूर्वदृष्टार्थस्य स्मृत्या ग्रहणात् वर्तमानस्य च दर्शनेन प्रतिभासनाद् भेदाधिगतिः नहि केवलं दर्शनं भेदाऽऽवेदकं किन्तु स्मृतिसचिवम्, असदेतत्-यतः स्मृतिरपि पूर्वमनुभूतमर्थमेति न च पूर्वं भिन्नमवगतम्, तत् कथं साऽपि प्रतियोगिनं भिन्नमादर्शयितुं क्षमा? तन्न तयाऽपि भेदाधिगतिः। किञ्च, स्वरूपनिमग्नत्वान्न भावभेदमवगन्तुं सा समर्था। तथाहि-स्मर्यमाणेन वा रूपेण स्मृतिस्तमर्थमवतरेत्, दृश्यमानेन वा? न तावद् दृश्यमानेन रूपेणार्थमवतरति स्मृतिः तस्य तत्राप्रतिभासनात्। नापि स्मर्यमाणेन रूपेण तमर्थमवतरति, स्मर्यमाणस्य रूपस्य तत्राभावात्—परिस्फुटं दर्शनारूढं हि रूपं तस्य पूर्वमधिगतम् न च तत् स्मृतौ प्रतिभाति। तत्रार्थस्वरूपग्राहिणी स्मृतिः सम्भवतीति न ततो भेदग्रहः।

अथोत्तरदर्शने स्मृतौ वा यदि पूर्वरूपं नाभाति तदा तदप्रतिभासनमेव भेदवेदनम्। तथा चाह—

"विशिष्टरूपानुभवान्नान्यतोऽपि निराक्रिया" [ ] इति,

एतदप्यसङ्गतम्; यतः पूर्वरूपविविक्तता प्रत्यक्षप्रतिपत्तेः स्मृतेर्वा कुतोऽवगता? तादृक् स्मृतिश्च द्वयमपि स्वार्थनिमग्नं न पूर्वरूपमधिगन्तुमीशम्, तदनवगमे च न तद्विविक्तताधिगतिः तदप्रतिभासनमपि तदप्रतीतेरेवासिद्धम्। तस्मात् 'पूर्वरूपमासीत्' इति न काचित् प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तुं क्षमा।

अथ भावरूपमेव भेदः तत्प्रतिभासे सोऽपि प्रतिपन्न एव, तदप्यसत्; यतो न भावरूपमेव भेदः, प्रतियोगिनमपेक्ष्य 'ततो भिन्नमेतत्' इति भेदव्यवस्थापनात्। यदि च स्वरूपमेव भेदस्तदाऽर्थस्यात्मापेक्षयापि भेदः स्यात्। परापेक्षया स्वरूपभेदः नात्मापेक्षयेति चेत्, न; पररूपाप्रतिपत्तौ तदपेक्षया स्वरूपभेदो न प्रतिपत्तुं शक्य इति न पूर्वापरकालभेदः पदार्थसम्भवी।

अथ आकारभेदाद् भेदः समानकालयोर्नील-पीतयोरवभासमानवपुरस्ति, यत्रापि देश-कालभेदस्तत्रापि तद्रूपेण स्वरूपे भेद एवोपलक्ष्यते न पुनः स्वरूपभेदादपरो भेदः सम्भवति अन्यस्यान्यभेदेन भेदायोगात् तस्मात् स्वभावभेद एवास्ति प्रतिभासनात्, इत्यप्ययुक्तम्; यतः स्वरूपभेदो द्वयोरवद्योतमानवपुषोः किं स्वत एव प्रतिभाति, उत व्यतिरिक्तप्रतिभासावसेयः? तत्र न तावद् बोधात्मा पुरःस्थयोर्नील-पीतयोर्भेदमवगमयितुं प्रभुः तस्यापरोक्षनीलाद्याकारव्यतिरिक्तवपुषः सुखादिव्यतिरिक्ततनोश्चाप्रतिभासमानत्वेनासत्त्वात्। तथाहि-बहिर्नीलादिः सुखादिश्चान्तः परिस्फुटं द्वयमाभाति न तद्व्यतिरिक्तो बोधात्मा स्वप्नेऽप्युपलभ्यत इति कथमसावस्ति? अथ 'अहम्'-प्रत्ययेन बोधात्माऽवसीयते, न, तत्र शुद्धस्य बोधस्याऽप्रतिभासनात्। स खलु 'अहं सुखी दुःखी स्थूलः कृशो वा' इति सुखादि शरीरं वाऽऽलम्बमानः प्रसूयते न तद्व्यतिरिक्तं बोधस्वरूपम्, तत्र तद्विषयोऽप्यसौ स्वरूपेण वाऽप्रतिभासमानवपुर्बोधः कथं भावान् व्यवस्थापयितुं प्रभुः? नहि शशविषाणं कस्यचिद् व्यवस्थापकं युक्तम्। भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधः प्रकाशमानवपुस्तथाऽप्यसौ

१ प्रमेयक० पृ० १७ द्वि० प० १४। २ भेदे अ-वा० बा० भा० मां०। ३-नस्य द-भा० मा० विना। ४-दाभेद्-आ० हा०।-दावेकं भा० मा०। ५-भावे भे-वा० बा०। ६-पा भावा-आ० हा० वि०। -पानुभवा ना-वा० बा०। ७-तोऽन्यनि-वा० बा०। ८-ता या दृक् वा० बा०। अत्र 'सा दृक्' इति स्यात्। ९-दनधिग-मां० भा० वा० बा०। १०-दनुप्र-वा० बा०। ११-रूपे भे-हा० वि०। १२-दार्थस्य स्व-भा० मा०। १३ प्रमेयक० पृ० १८ प्र० प० १। १४ बोधात्मपु-आ० ह० वि०। १५-शरीरं चा-। "शरीरं चावलम्बमानोऽनुभूयते न पुनस्तद्व्यतिरिक्त बोधस्वरूपम्"-प्रमेयक० पृ० १८ प्र० पं० ३। १६ तत्र त-हा० नि० विना। १७-रूपेणे वा-वा० बा०।-रूपेण चा-वि०। १८-कं भवति। भवतु भा० मां०।

स्वरूपनिमग्नत्वा[1]न्न नीलादेर्भिन्नस्य ग्राहको युक्तः; नहि बोधकाले नीलादिर्नाभातीति तस्य बोधो ग्राहको भवेत् नीलादेरपि बोधं प्रति ग्राह[2]कतापत्तेः ।

अथ बोधात्मा पुरःस्थेषु नीलादिषु प्रत्यक्षतां प्रति व्याप्रियमाण उपलभ्यत इति ग्राहकः नीलादिस्तु तद्विषयत्वाद् ग्राह्यः, तदप्यसत्; व्यापारस्य तद्व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्—नहि प्रकाशमाननील–सुखादिरूपबोधाभ्यामन्यो व्यापार उपलभ्यते; उपलम्भे वा तस्य तत्राप्यपरो व्यापारो बोधस्याभ्युपगन्तव्यः पुनस्तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था । अथ स्वत एवासौ व्यापार उपलभ्यते; नन्वेवं तस्य स्वातन्त्र्येणोपलम्भाद् व्यापारताऽनुपपत्तिः, न हि बोधावभाससमये स्वतन्त्रतनुरुद्भासमानः पदा[3]र्थबोधव्यापार इति युक्तम्, बोधस्यापि तद्व्यापारताप्रसङ्गात् । बोधपरतन्त्रत्वाद् व्या[4]पारस्तद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न; समानकालावभासिनस्तस्य पारतन्त्र्यायोगात् । न हि स्वरूपेण बोधकाले प्रतीयमानतनु तत् परतन्त्रं भवितुं युक्तम्, बोधस्यापि व्यापारपरतन्त्रतापत्तेः । [5]अनिष्पन्नरूपस्तु व्यापारः सुतरां न परतन्त्रः, नहि खरविषाणं तथाव्यवहारभाग् लोके प्रसिद्धम् । तस्मादुभयथाप्यसत् पारतन्त्र्यम् । तन्न कस्यचिद् व्यापारः । किञ्च, असावपि व्यापारः किमर्थं व्याप्रियते न वा इति कल्पनाद्वयम् । यदि न व्याप्रियते कथं तस्मिन् सत्यप्यर्थस्य ग्राह्यता बोधस्य च ग्राहकता ? अथ व्याप्रियते तदा तत्राप्यपरो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः तत्राप्यपर इति सै[6]वानवस्था । अथ व्यापा[7]रस्य स्वरूपमेव व्यापारः; ननु नीलादेरपि व्यापृतिकाले स्वरूपमस्तीति तत् तस्य व्यापारः स्यात् तस्माद् बोध–नील–व्यापारलक्षणस्य त्रितयस्यैककालमुपलम्भान्न कर्तृ–कर्म–क्रियाव्यवहृतिः सम्भवतीति न ग्राह्य–ग्राहकभावः समस्ति तत्त्वतः । भिन्नकालयोस्तु ज्ञान–ज्ञेययोः परस्परसन्निधिनिरपेक्षोपलम्भप्रवर्तनान्न वेद्य–वेदकतासम्भवः । तन्न बोधात्मा तुल्यकालयोर्नील–पीतयोर्भेदस्य साधकः तस्य स्वरूपनिष्ठत्वात् । किञ्च, सोऽपि नीलादेर्भिन्नः प्रत्येतव्यः तदप्रतीतौ तेन नील–पीतादेर्भेदवेदनायोगात् । नहि भिन्नेर्ना[8]त्मनाऽप्रतीयमानो बोधोऽर्थान् भिन्नान् प्रतिपादयितुं समर्थः, शशविषाणादेरपि व्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात् । भिन्नस्तु बोधात्मा प्रत्ययान्तरेण किं प्रतीयते, उत स्वात्मनैव ? यदि 'प्रत्ययान्तरेण' इति पक्षः, सोऽनुपपन्नः; यतस्तदपि प्रत्ययान्तरमन्येन प्रत्ययान्तरेण भिन्नं प्रत्येतव्यम् तदप्यन्येने[9]त्यनवस्थाप्रसक्तिः स्यात् । अथात्मनैव, तदा स्वरूपनिमग्नत्वान्न नीलावभासं भिनत्ति तत् कुतो भेदसंवित् ?

अथ स्वत एव नीलादेर्भेदवेदनम्, तदपि न युक्तम्; यतो यदि स्वत एव नीलादयः प्रकाशन्ते तदा स्वप्रकाशास्ते प्र[10]सजन्ति; स्वप्रकाशत्वे च नीलादेर्नीलस्वरूपं स्वात्मनि निमग्नं न पीतरूपसंस्प[11]र्शि पीतस्वरूपं च स्वस्वरूपावभासं न नीलरूपसंस्पर्शि, तत् कुतः परस्प[12]राऽसंवेदनात् स्वरूपतोऽपि भेदसंवित्तिः ? भेदो हि द्विष्ठो द्वयसंवेदने सति विदितो भवेत्, नीलस्वरूपे वा परोक्षे [13]नीलं न पीतमाभाति तथात्वे सत्यैकतापत्तेः । अथ अप्रतिभासनमेव भेदवेदनम्; ननु नीलस्वरूपप्रतिभासे नीलं विदितम् पीतादिकं त्वनवभासमानं तत्र नास्तीति न शक्यं वक्तुम्, नास्ति[14]त्वावेदने च कुतो भे[15]दसिद्धिः स्वरूपमात्रस्य प्रतिभासनात् ?

किञ्च, नीलादेरपि स्थूलावभासिनोऽनेकदिक्सम्बन्धात् परमाणुरूपतया व्यवस्थापनात् स्वरूपभेदः स्यात् पुनर्नीलादिपरमाणूनामपि भिन्नदिक्सम्बन्धात् स्वरूपभेदो भवेत् तथा चानव[16]स्थानान्न भेदस्थितिः । भेदो हि कस्मिंश्चिदेकरूपे सिद्धे तद्विपर्ययात् स्व[17]रूपस्थितिमासादयेत्, न चानन्तरेण न्यायेन किञ्चिदप्येकं सिद्धम् परमाणोर[18]प्यभेदासिद्धेर्भेदवदभ्युपगमेन । न च नीलस्वरूपं सुखाद्यात्मतया नानुभूयत इति भेदवद् अभेदस्यापि प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धिः, यतो नीलादिप्रतिभासस्य भेदाऽवेदनमे[19]वाऽभेदवेदनम् । अथ नीलादीनामात्मस्वरूपावेदनमेव भेदवेदनमिति परेणापि वक्तुं शक्यत एव,

---

१–त्वान्नीला–आ० हा० वि० । २–हकापत्तेः आ० हा० वि० । ३–दार्थः बो–भां० मां० । ४–पारस्त–आ० हा० वि० ।–'पारस्य तद्व्या'–वि० स० । ५ अनुत्पन्न–भा० मा० वा० वा० । ६ प्र० पृ० पं० ६ । ७–रस्व–आ० हा० वि० वा० वा० । ८–नात्माऽप्र–वा० वा० ।–नात्मा प्र–आ० हा० वि० । ९–प्यपरेणेत्यन–आ० हा० वि० । १०–सजन्ति वा० वा० । ११–स्पर्शि तत् कुतः आ० हा० वि० । १२–स्परसं–वा० वा० । १३ नीलं पी–वा० वा० । १४–स्तितावे–आ० वि० । १५–दसिद्धिः स्वरूपसिद्धिः स्वरूपमात्र–आ० हा० वि० । १६–स्था नात्र भे–भां० मा० । १७–रूपे स्थि–आ० वि० । १८–प्यभेदसि–भा० मा० विना । १९–भेदावे–वा० वा० ।

ततश्च कः स्व-परपक्षयोर्विशेषः[1] ? तथाहि–न देश-काल-सन्तानाकारैरेकत्वं जगतः प्रतीयते परस्परोपलम्भपरिहारेण देशादीनां प्रतिभासनात्, असदेतत्, अन्योन्यपरिहारेणोपलब्धेरद्वैतवादिनोऽप्रसिद्धत्वात्। न च परस्परानुप्रवेशोपलब्धिरपि[3] भेदवादिनोऽसिद्धेति वक्तुं शक्यम्[2], सन्मात्रोपलब्धेः सर्वत्र सद्भावेन परस्परानुप्रवेशोपलब्धेरनुप्रसिद्धेः। तथाहि–अस्ति तावदयं प्रतिभासः अत एवाद्वैतमस्तु, न ह्यत्र भेदप्रतिभासः, नापि भेदाभेदप्रतिभासः, अपि त्वभेदप्रतिभास एव बहिर्नीलादेर्भिन्नस्य भिन्नाभिन्नस्य चाऽयोगात्। अथ अभिन्नस्यापि बहिर्नीलादेरयोगः तर्हस्तु ज्योतिर्मात्रं प्रकृतिपरिशुद्धं परमार्थसत् तत्त्वम्। न च नीलादेर्बहीरूपतया प्रतिभासमानस्यापि असत्त्वे[4] ज्योतिर्मात्रस्यापि परमार्थसतस्वरूपस्यासत्त्वमस्तु इति वक्तुं शक्यम्, नीलादेरविद्यावेद्यत्वेनाऽतत्त्वरूपव्यवस्थितेः ज्योतिर्मात्रस्य तु विद्यावेद्यत्वेन[5] तद्विपर्ययरूपत्वेनावस्थानात्। तन्न प्रत्यक्षतः कथमपि भेदवेदनम्, स्मरणाद् वा उक्तन्यायेन।

अथ सामग्री सा तादृशी[6] दर्शन-स्मरणरूपा यतः प्रत्येकावस्थाऽसम्भवि भेदवेदनाख्यं कार्यमुदयमासादयति, असदेतत्; यतः सामग्र्यपि कार्यजनने समर्था[7] नात्मस्वरूपप्रादुर्भावे भेदवेदनलक्षणे। न च स्मरण-प्रत्यक्षव्यतिरिक्तमपरं भेदग्रहणम् येन सामग्री तद् जनयेत्। अथ भेदनिश्चयजनने द्वयं व्याप्रियते, तदयुक्तम्, ग्रहणमन्तरेण निश्चयस्यायोगात्। ग्रहणं (?) च न भेदव्यापारवत् स्मरणसहायं ग्रहणम् कथं ग्रहण एव व्यापारवद् युक्तम् न च निश्चयस्यापि स्मरणादन्यस्तन्निश्चयः ततो निश्चयात् स्मरणभेदानिश्चय इति न न्यायसङ्गतमेतत्। तस्मान्न पूर्वाऽपरयोर्भेदग्रहणं[8] दर्शन-स्मरणसामग्रीविशेषादपि।

न च समानकालप्रतिभासयोर्नील-पीतयोरितरेतराभावग्रहणे भेदग्रहणं सम्भवति अभावप्रमाणस्येतरेतराश्रयत्वेनानवतारात्[9]। तथाहि–

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

[श्लो० वा० सू० ५ श्लो० २७ अभावप०] इति तस्य लक्षणम्।

न च ग्रहणमन्तरेण प्रतियोगिस्मरणम्[10], न च प्रतियोगिस्मरणमन्तरेण भेदसाधकाभावप्रमाणावतार इति कथं नेतरेतराश्रयदोषः? भेदग्राहकप्रत्यक्षाभावेऽनुमानस्यापि न भेदग्राहकत्वेन प्रवृत्तिः तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्, अनुमानपूर्वकत्वे[11] इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तन्न कुतश्चित् प्रमाणाद् भेदसिद्धिः[12]। न च(चा)प्रामाणिका वस्तुव्यवस्था अतिप्रसङ्गात्।

न चात्रेदं प्रेरणीयम्–सल्लक्षणमेकं[13] ब्रह्म विद्यास्वभावं चेत् न किञ्चिन्निवर्त्यम् अवाप्तव्यं वा भवेत् ततश्च तदर्थानि शास्त्राणि प्रवृत्तयश्च तत्प्रयोजना व्यर्थाः स्फुरद्विद्यायाः[14] (?) प्रभावात् द्वितीयस्या अविद्यास्वभावत्वे वा न सत्त्वम् नापि ब्रह्मरूपता, यतो[15] नाऽविद्यास्वभावं ब्रह्म, नापि[16] विद्यास्वभावत्वे शास्त्राणां प्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यम्, अविद्याया व्यापारनिवर्त्यत्वात्[17]। न त्व(न्व)विद्या नैव ब्रह्मणोऽन्या तत्त्वतोऽस्ति अतः कथमसौ यत्ननिवर्त्तनीयस्वरूपा? अत एव तस्यास्तत्त्वतः[18] सद्भावे कः स्वरूपं[19] निवर्त्तयितुं शक्नुयात्? न चास्माकमेव पुरुषप्रयत्नोऽविद्यानिवर्तको मुमुक्षूणाम् किन्तु सर्वत्र[20] प्रवादेष्ववार्त्तिका[21]ऽनाद्यविद्योच्छेदार्थो मुमुक्षुयत्नः।

---

१–हारोप–वि०। २–क्यं तन्मा–वा० वा० विना। ३–लब्धिरसि–भा० मा०। ४–सत्व–आ० वि०। ५–यत्वेन तद्विप–आ० हा० वि०। ६–तः सा साम–आ० हा० वि०। ७–मर्थनात्मस्व–आ०।–मर्थानात्मस्व–हा० वि०। ८–स्स्मर–वा० वा०। ९–द् गृही–भा० मा०। १०–गिनः स्म–भा० मा०। ११–कत्वेन इत–वा० वा० विना। १२–दसिद्धिः तदा प्रा–भा० मा०। १३ "अथ एकत्वब्रह्मणो विद्यास्वभावत्वे तदर्थाना शास्त्राणा प्रवृत्तीना च वैयर्थ्यम् निवर्त्य–प्राप्तव्यस्वभावाभावात्, अविद्यास्वभावत्वे च असत्यत्वप्रसङ्गः"–प्रमेयक० पृ० १८ प्र० पं० ४। १४ स्फुरद्विद्याया अभावा–भा० मा०। स्फुरतिविद्यायाः प्रभावा–आ० वि०। स्फुरतिविद्याया प्रभावा–हा०। अत्र–'र्था स्यु अविद्याया अभावात्। द्वितीयेऽस्याऽविद्यास्वभावत्वे वा (च) न सत्त्वम्' इत्यय पाठ प्रेक्षावद्भिः कल्पयित्वा विचार्यः। १५–यतो नो वि–भा० मा०। १६ प्रमेयक० पृ० १८ प्र० पं० ५–७। १७–त् न च वि–आ०।–त् तत्ववि–भा० मा०। १८–स्यासत्व–वा० वा०। १९ रूपं यिनि–भा० मा०। २० सर्वप्र–भा० मा० वा० वा०। २१–र्त्तिकोऽना–वा० वा० विना।

अथापि स्यात् न ब्रूमोऽनादेर्नोच्छेदः किन्तु नित्यस्य ब्रह्मणः किमविद्या स्वभावः, आहोस्विद् अन्यथा ? न तावत् स्वभावः ब्रह्मणस्तद्विपरीतविद्यास्वभावत्वात्, अर्थान्तरत्वे तस्यास्तत्त्वतः सद्भावे नोच्छेदः द्वैतप्रसङ्गश्च । अथ मतम्-अग्रहणमविद्या; सा कथमर्थान्तरम् ? न चाऽनिवर्त्या सर्वप्रमाणव्यापाराणामग्रहणनिवृत्त्यर्थत्वात्, तदयुक्तम्; तत्त्वाऽग्रहणस्वभावा अविद्या तत्त्वग्रहणस्वभावया विद्यया निवर्त्यते; सा तु नित्या ब्रह्मणि, न च ब्रह्मणोऽन्योऽस्ति यस्य तत्त्वाऽग्रहणं ब्रह्मणि प्रयत्नलभ्यया विद्यया निवर्त्येत; ब्रह्मणि तु युगपद् ग्रहणाऽग्रहणे विप्रतिषिद्धे अविरोधे वा न विद्यया तत्त्वाऽग्रहणव्यावृत्तिः । यस्य त्वन्यथाग्रहोऽविद्या तस्य ब्रह्मणः तदतत्स्वभावत्वे उक्तं दूषणम्—तत्स्वभावत्वे तद्वदनिवृत्तिः, अर्थान्तरत्वे द्वैतापत्तिः । नित्यप्रबुद्धत्वे च ब्रह्मणः कस्यान्यथात्वग्रह इति वाच्यम् तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याऽसत्त्वात्, तस्य च विद्यास्वभावत्वान्न तद्विपरीताऽविद्यास्वभावता विरुद्धधर्मसमावेशायोगात्, अविरोधे विद्यया नाविद्याव्यावृत्तिः ।

अत्राहुः-नाविद्या ब्रह्मणोऽनन्या, नापि तत्त्वान्तरम्, न चैकान्तेनाऽसती एवमेव इयमविद्या माया मिथ्याभास इत्युच्यते । वस्तुत्वे तत्त्वाऽन्यत्वविकल्पावसरः, अत्यन्तासत्त्वेऽपि खपुष्पवद् व्यवहारानङ्गम्; अतोऽनिर्वचनीया सर्वप्रवादिभिश्चैवमेवाभ्युपगन्तव्या । तथाहि-शून्यवादिनो यथादर्शनं सत्त्वे नाऽविद्या, खपुष्पतुल्यत्वे न व्यवहारसाधनम्, सदसत्पक्षस्तु विरोधान्नात इत्यनिर्वचनीयाऽविद्या । ज्ञानमात्रवादिनो यथाप्रतिभासज्ञानसद्भावे न बाह्यार्थापह्नवः घटादेरर्थाकारस्य ग्राहकाकाराद् विच्छेदेनावभासमानस्यापह्नवायोगात्, अत्यन्तासत्त्वे बहिरवभासाभावात् खपुष्पादेरिव, उभयपक्षस्य चासत्त्वम् विरोधात् । बाह्यार्थवादिनामपि रजतादिभ्रान्तयोऽवभासमानरूपसद्भावान्नाऽविद्यात्वमश्नुवीरन्, अत्यन्तासत्त्वे न तन्निबन्धनः कश्चिद् व्यवहारः स्यात्, सदसत्पक्षस्तु कृतोत्तरः । तत्रैतत् स्यात्-अवभासमानं रूपं तत्र मा भूत् ग्राहकाकारस्तु सन्नेवं नासावविद्या, असदेतत्; ग्राह्याकारासत्त्वे च तदवभासोऽपि ग्राहकाकारः सत्यतया न निरूपयितुं शक्यः, न च प्रतिभासस्य शून्यः प्रतिभासो नाम कश्चित् । तस्मान्नाऽविद्या सती, नाप्यसती, नाप्युभयरूपा । अत एव निवृत्तिरस्या अदृढस्वभावत्वेन मायामात्रत्वात् अन्यथा दृढस्वरूपत्वेऽवस्थितायाः कथमन्यथास्व(त्वं) स्वभावापरित्यागात् शून्यत्वेऽपि स्वयं निवृत्तत्वात् । एवं च नाद्वैतहानम्, नापि निवर्त्तनीयाभावः ।

यच्च कस्यासावविद्येति चोद्यम् तत्र जीवानामिति ब्रूमः; ननु तेषामपि न ब्रह्मणोऽर्थान्तरता, सत्यम्; न परमार्थतः काल्पनिकस्तु भेदस्तेषां ततो न प्रतिषिध्यते, ननु कल्पनापि कस्य भेदिका ? न तावद् ब्रह्मणः तस्य विद्यास्वभावत्वेन सकलविकल्प्या(ल्पा)तीतत्वात्, नापि जीवानाम् कल्पनायाः प्राक् तेषामसत्त्वात् इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च-'कल्पनातो जीवविभागः तद्विभागे सति कल्पना' इति ।

अत्र ब्रह्मवादिनोऽभिदधति—"वस्तुत्वे सत्येष दोषः स्यात् नासिद्धं वस्तु वस्त्वन्तरसिद्धये सामर्थ्यमासादयतीति, मायामात्रे तु नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । नहि मायायाः कथञ्चिदनुपपत्तिः-

---

१-त् न च यु-मा० मा० । २-वर्तते वा० वा० । ३-वर्त्यते वा० बा० । ४-प्रतिषेधे अ-वा० ब्रा० वि० । ५ तदसतत्-मा० मा० वा० वा० विना । ६-बुद्धस्य च वा० बा० । ७-स्यास-आ० हा० वि० । ८ अविरोधे विद्याव्या-वा० वा० । अविरोधे विद्यया विद्यया विद्याव्या-हा० । अविरोधे विद्यया विद्यव्या-आ० । ९ प्रमेयक० पृ० १८ प्र० प० ९ । १० तथान्य-वा० वा० । ११-वमत्राभ्यु-मा० ।-वमेत्वाभ्यु-वा० वा० । १२ प्र० पृ० पं० १४-१७ । १३-च भासा-आ० हा० वि० । १४-कारस-वि० । १५-कारस-वि० ।

१६ "नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका । सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी" ॥

'सौरादि'वाक्यत्वेन निर्दिष्टोऽयं श्लोक.-साङ्ख्यप्र० भा० अ० १ सू० २६ पृ० २५ पं० ३ ।

१७-स्या दृ-वि०, हा० ।-स्याऽदृष्ट-वा० वा० । १८ दृष्टस्व-वा० वा० । १९-रूपेऽव-वा० वा० । २०-थार्थस्वभा-मां० मां० ।-था स्वभा-हा० ।-था स्वं स्वभावात् प-आ० । २१-यां भावा न मां० मा० । २२ सकल्पाती-आ० हा० । सङ्कल्पाती-वि० । २३-त् न त्व सिद्धं- आ० ।-त् निसिद्धं वा० वा० ।-त् न सिद्धं हा० ।

अनुपपद्यमानार्थैव हि माया लोके प्रसिद्धा उपपद्यमानार्थत्वे तु यथार्थभावान्न माया" [ ] इति केचित् ।

अन्ये तु वर्णयन्ति—"अनादित्वात् मायायाः जीवविभागस्य च बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिरत्र । तथा चाहुः—"अनादिरप्रयोजनाऽविद्या, अनादित्वादितरेतराश्रयदोषपरिहारः, निष्प्रयोजनत्वे न भेदप्रपञ्चसंसर्गप्रयोजनपर्यनुयोगावकाशः" [ ] अतोऽपरैर्यत् प्रेर्यते—"दुःखरूपत्वान्नानुकम्पया प्रवृत्तिः अवाप्तकामत्वान्न क्रीडार्था" [ ] इत्येतदपि परिहृतमविद्यात्वेन, यतो नासौ प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते, नहि गन्धर्वनगरादिविभ्रमाः समुद्दिष्टप्रयोजनानां प्रादुर्भवन्ति" [ ]।

न च भवतु कल्पनातो जीवविभागः किन्तु तेऽपि तत्त्वतो ब्रह्मतत्त्वादव्यतिरिक्तत्वाद् विशुद्धस्वभावा इति तेष्वपि नाऽविद्यावकाशं लभत इति वक्तव्यम्, यतो विशुद्धस्वभावादपि बिम्बात् कल्पनाप्रदर्शितं कृपाणादिषु यत् प्रतिबिम्बं तत्र श्यामतादिरशुद्धिरवकाशं लभत एव । अथ विभ्रमः स इति न दोषः, असदेतत्; जीवात्मस्वप्यस्य तुल्यत्वात्–तेष्वप्यशुद्धिर्विभ्रम एव अन्यथा तेष्वपि विशुद्धिर्दुरापैव स्यात् । अथ मुखात् कृपाणादीनामर्थान्तरत्वे भ्रान्तिहेतुता युक्तैव अत्र पुनर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निमित्तस्याभावात् कथं विभ्रमो युक्त इति, एतदप्यनालोचिताभिधानम्; अनादित्वेन परिहृतत्वात् । अनादित्वेऽपि चोच्छेदः शक्यत एव विधातुम् यथा भूमेरूपरस्य । अथ तत्र भूव्यतिरिक्तेन संस्कारान्तरेण स्वाभाविकस्यापि तस्य निवृत्तिः, न त्वेकात्मवादिनां तद्व्यतिरिक्तः आगन्तुको विलक्षणप्रत्ययोपनिपातः सम्भवति द्वैतापत्तेः । नन्वात्मन एव विद्यास्वभावत्वात् कथमनाद्यविद्याविलक्षणप्रत्ययोपनिपातो नास्तीति उच्यते, उक्तमत्र तेन तथाभूतेनात्मस्वभावेनाविद्याया विरोधाभावात् विरोधे वा नित्यमुक्तं जगद् भवेत् । नहि निवर्त्तकविरोधिसमवधाने विरोधिनः कदाचिदपि सम्भवः विरोधाभावप्रसङ्गात् । न चात्मव्यतिरिक्तं विद्यान्तरमागन्तुकमविद्यानिवृत्तिसाधनम् एकात्मवादिनस्तस्यायोगात् । तदुक्तम्—

"स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ।
विलक्षणोपपाते हि नश्येत् स्वाभाविकं क्वचित्" ॥ [ ]
"न त्वेकात्मन्युपेयानां हेतुरस्ति विलक्षणः" । [ ]

परिहृतमेतत्—"जीवानामविद्यासम्बन्धः न परात्मनः असौ सदा प्रबुद्धो नित्यप्रकाशो नागन्तुकार्थः अन्यथा मुक्त्यवस्थायामपि नाविद्यानिवृत्तिः । यतोऽस्मिन् दर्शने ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च अनेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः अभेदात् परमात्मनः, यतस्तस्य भेददर्शनेन संसारः अभेददर्शनेन च मुक्तिः, अत एकस्यैव परमात्मनः परमस्वास्थ्यमापतितम् । तस्मान्न ब्रह्मणः संसारः । जीवात्मान एवाऽनाद्यविद्यायोगिनः संसारिणः कथञ्चिद् विद्योदये विमुच्यन्ते तेषां स्वाभाविकाऽविद्याकलुषीकृतानां विलक्षणप्रत्ययविद्योदये नाऽविद्यानिवृत्तेरनुपपत्तिः यतो न तेषु स्वाभाविकी विद्या अविद्यावत् अतस्तया निवृत्तिः स्वाभाविक्या अप्यविद्यायाः" [ ] इत्येवं केचित् ।

अन्ये तु "ब्रह्म-जीवात्मनामभेदेऽपि बिम्ब-प्रतिबिम्बवत् विद्याऽविद्याव्यवस्थां वर्णयन्ति । कथं पुनः संसारिषु विद्याया आगन्तुक्याः सम्भवः श्रवण-मनन-ध्यानाऽभ्यास-तत्साधनयम-नियम-ब्रह्मचर्यादिसाधनत्वात्, तस्य पूर्वमसत्त्वादविद्यावत् । स च श्रवण-मननपूर्वकध्यानाभ्या-

---

१-नार्थै तु भा० मा० । २-स्य वा बी-वि० । ३-नादिप्रयोजनाऽविद्या आ० हा० वि० ।-नादिप्रयोजना च विद्या भा० मा० । ४-ञ्चसंसप्र-आ० हा० वि० ।-ञ्चवर्प्रप्र-वा० वा० । ५-मविद्यत्वे-वा० वा० आ० । ६ "नहि द्विचन्द्रालातचक्रगन्धर्वनगरादिविभ्रमाः समुद्दिष्टप्रयोजना भवन्ति"-ब्रह्मसू० अ० २ पा० १ सू० ३३ शाङ्क० भा० भाम० पृ० ४८३ पं० ७ । ७-भाव इति वा० वा० ।-भावादिति भा० मा० । ८ नापि वि-आ० हा० वि० । ९-त्मस्वरूप्य-वा० वा० मा० । १०-शुद्धिवि-वा० वा० ।-शुद्धेर्वि-हा० ।-शुद्धे वि-आ० वि० । ११-त् प्रमाणा-वा० वा० । १२-स्य विपर्ययनि-भां० मां० । १३ भूमे-पुरुषस्याथ-भा० मा० । १४ तत्र भूतव्य-वा० वा० । तत्र व्य-आ० हा० वि० । १५ न चैका-भा० मा० । १६ न स्वात्म-वा० वा० । १७-द्यालक्षण-वा० वा० । १८ न नि-भा० मां० विना । १९-क वि-आ० हा० वि० । २०-त् उक्तं च वा० वा० । २१ परमात्म-भा० मा० । २२-दये न वि-आ० हा०वि० । २३-या वि-आ० हा० वि० ।

सोऽखिलभेदप्रतियोगी सुव्यक्तमेव वेदे दर्शितः—"स एषं नेति नेति" [बृहदा० उ० अ० ३, ब्रा० ९, मं० २६] इत्यादिना सप्रतियोगित्वाद् भेदप्रपञ्चं निवर्त्तयताऽऽत्मनापि प्रलीयते, यतः श्रोतव्यादीनामभावे न श्रवणादीनामुपपत्तिः, स तु तथाभूतोऽभ्यस्यमानः स्वविषयं प्रविलापयन्नात्मोपघाताय कल्पते तदभ्यासस्य परिशुद्धात्मप्रकाशफलत्वात् यथा रजःसम्पर्ककलुषे उदके द्रव्यविशेषचूर्णरजः प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि संहरत् स्वयमपि संह्रियमाणं स्वस्थां स्वरूपावस्थामुपनयति एवं श्रवणादिभिर्भेदतिरस्कारविशेषात् स्वगतेऽपि भेदे समुच्छिन्ने स्वरूपे संसार्यवतिष्ठते यतोऽविद्ययैव परमात्मनः संसार्यात्मा भिद्यते तन्निवृत्तौ कथं न परमात्मस्वरूपता यथा घटादिभेदे व्योम्नः परमाकाशतैव भवत्यवच्छेदकव्यावृत्तौ? तदेतत् स्यात्—श्रवणादिभेदविषयत्वादविद्यास्वभावः कथं वा अविद्यैव अविद्यां निवर्त्तयति? उक्तमत्र यथा रजसा रजसः प्रशमः एवं भेदातीतब्रह्मश्रवण मनन-ध्यानाऽभ्यासानां भेददर्शनविरोधित्वादविद्याया अप्यविद्यानिवर्त्तकत्वम्। तथा च तत्त्वविद्भिरत्रार्थे निदर्शनान्युक्तानि—"यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति" [ ] एवं श्रवणादिषु द्रष्टव्यम्"। [ ]

स्यादेतन् अभेदस्य तात्त्विकत्वे भेदस्यासत्यता, असत्यरूपश्च भावः कथं सत्यप्राप्तिसाधनम्? यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानात् 'धूमः' इति गृहीताद् न तात्त्विकी दहनप्रतिपत्तिः।

अत्राभिदधति—नायं नियमः—असत्यं न किञ्चित् सत्यं कार्यं जनयति यथा मायाकारप्रदर्शिता माया प्रतीतेर्भयस्य च निमित्तं तथा रेखा कादीनाम्, तन्नै(न्वे)तद् भवेत्—रेखाकादि स्वरूपेण सत् न खपुष्पसदृशम्, अभेदवादिनस्तु भेदस्य खपुष्पतुल्यत्वात् कथं सत्योपायता? नैष दोषः, सन्तु स्वरूपेण रेखाकादयः येन तु रूपेण गमकास्तदसत्यम्। तथाहि—कादिरूपेण ते गमकाः तच्च तेषामसत्यम्—कार्योपयोगरहिता तु स्वरूपसत्यता व्यर्था। किञ्च, अभेददृष्ट्युपायोऽपि न स्वरूपेणाऽसन् यतो ब्रह्मैवास्य रूपम् तत्र ब्रह्मैवाविद्यानुबद्धं स्वात्मप्रतिपत्त्युपायः यथा रेखाकादयः 'ककारोऽयम्' 'गवयोऽयम्' इत्यविद्यारूपेणैव कादीनां गमकाः। येऽप्याहुः—

"न रेखाकादयः कादित्वेन कादीनां गमकाः, एवं रेखागवयादयोऽपि न गवयत्वेन सत्यगवयादीनाम्, अपि तु सारूप्यात् एवंरूपा गवयादयः सत्याः, वर्णप्रतिपत्त्युपाया अपि रेखाकादयः पुरुषसमयात् वर्णानां स्मारकाः न तु तेषां वर्णत्वेन वर्णप्रतिपादकत्वम्, रेखादिरूपेण च सत्त्वाद् गृहीतसमयानां पुनरुपलभ्यमानाः समयं स्मारयन्ति समयग्रहणाद् यथैव व्युत्पन्नानां बालादिषु प्रवृत्तिः" [ ], तेऽपि न सम्यगाचक्षते; लोकविरोधात् बाला हि रेखासु व्युत्पन्नैर्वर्णत्वेनैव व्युत्पाद्यन्ते, तथैवोपदेष्टृणां व्यपदेशः—'अयं गकारादिः' इति, प्रतिपत्तुश्च प्रतिपत्तिरभेदेनैव, एवं रेखागवयादिष्वपि द्रष्टव्यम्। त(य)थाऽसत्यात् (असत्यात् प्रतिबिम्बात् सत्यस्य) प्रतिबिम्बहेतोर्विशिष्टदेशावस्थस्यानुमानं न मिथ्या तथा शब्दादपि नित्यादसत्यदीर्घा·

---

१–प्रतियोगीसुव्य–हा० ।–प्रतियोगीतुव्य–आ० ।–प्रतियोगीपुव्य–भा० मा० । २–ष ते नित्यादि–वा० बा० । ३ बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० २ मं० ४, ब्रा० ४ मं० २२, ब्रा० ५ मं० १५ । गौडपा० का० २६ पृ० १३५ । ४ स्वच्छां भा० ।

५ "घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा । आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि" ॥

गौडपा० का० ४ पृ० १०७ अद्वैताख्यप्र० ।

६–कस्य व्यावृत्त्या भां० मां० । ७ तत्रैतस्या–वा० बां० आ० हा० । ८ कथं चा–भां० मां० । ९–त्त्वविद्भिन्द्रि–भां० मा० । १०–नि पयो यथा पयो आ० हा० वि० । ११ "यथा पय पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति, स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथ करोति एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमपि अपगच्छति"—ब्रह्मसू० अ० १ पा० १ सू० १ शाङ्क० भा० भाम० पृ० ५८ पं० १३–१६ । १२–जीर्यते आ० वि० । १३–था मायाप्रती–वा० बा० । १४–न्तं रे–भां० मा० विना । "तथा अकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः"–ब्रह्मसू० अ० २ पा० १ सू० १४ शाङ्क० भा० पृ० ४६० पं० ७ । १५ सत्सु भा० मा० । सत्त्व हा० । १६–न्तु सरू–वा० बा० । १७–कारं ग–भा० मां० । १८ स ग–भा० मां० विना । १९ गवाद–भां० मा० । २०–यान् आ० हा० वि० ।

दिविशिष्टादर्थविशेषप्रतिपत्तिर्नासत्या। अलीका अहिदंशादयः सत्यमरणहेतवस्तत्त्वविद्भिरुदाहृता एव–यथा–सत्याद् दंशाद् मरण–मूर्च्छादि कार्यं तथा कल्पितादपि, न तयोर्विशेषः तस्माद् यथा दंशादेर-सत्यात् सत्यकार्यनिष्पत्तिस्तथा भेदविपर्ययात् श्रवण–मनन–ध्यानाऽभ्यासादेरसत्यादपि क्षेमप्राप्तिः।

नन्वेवम् अभेदे व्यवस्थिते कथं सुख–दुःखोपलम्भव्यवस्था कथं वा बद्ध–मुक्तव्यवस्थेति? [3]नैष दोषः, समारोपितादपि भेदात् सुखादेर्व्यवस्थादर्शनात्–यथा–द्वैतिनां शरीरे[4] एक एवात्मा सर्वगतो वा शरीरपरिमाणो वा, तस्य समारोपितभेदनिमित्ता व्यवस्था दृश्यते–'पादे मे वेदना' 'शिरसि वेदना' इति, न च वक्तव्यम्–पादादीनामेव वेदनाधिकरणत्वात् तेषां च भेदाद् व्यवस्था युक्तेति, यतस्तेषामज्ञत्वेन कथं भोक्तृत्वम्? भोक्तृत्वे वा सुरगुरुमतानुप्रवेशः आत्मनः सद्भावेऽपि कर्मफलस्य सुखादेरनुपलम्भात्। तत्रैतत् स्यात्–अद्वैतपक्षे यथैकभेदाश्रितस्यात्मनः कालान्तरे भोगानुसन्धानम् तथा देहान्तरोपभोगस्य भेदान्तरे अनुसन्धानं भवेत्, एतदपि न किञ्चित्; यतो द्वैतिनामपि पादादिप्रदेशो न प्रदेशान्तरवेदनामनुसन्दधाति तथा क्षेत्रज्ञोऽपि कुतश्चिन्निमित्तात् समारोपितभेदो न क्षेत्रज्ञान्तरवेदनामनुसन्धास्यति। तथा, मणि–कृपाण–दर्पणादिषु प्रतिबिम्बानां वर्णसंस्थानान्यत्वं दृश्यते भेदाभावेऽपि,[6] मुक्त–संसारिव्यवहारोऽप्युपपद्यते अभेदपक्षेऽपि। तथाहि–द्वैतिनामप्यात्मा कल्पितैः प्रदेशैः सुखादिभिर्युज्यमानः क्वचित् सुखादियोगाद् बन्धः (द्धः) क्वचित् तद्वियोगाद् मुक्त इति दृश्यते, यथा मलीमसादर्शे मुखं मलीमसम् विशुद्धे विशुद्धम् दर्पणरहितं च गम्यमानं तदुपाधिदोषासंयुक्तम्। तत्रैतत् स्यात्–कल्पना प्रतिपत्तुः प्रत्ययस्य धर्मो न वस्तुव्यवहारव्यवस्थानिबन्धनम्, न खलु वस्तूनि पुरुषेच्छामनुरुन्धते, न चोपचरितात् कार्यं दृश्यते, नोपचरिताग्नित्वो माणवकः पाकादिष्व(ष्व्)पयुज्यते, एतत् परिहृतं भ्रान्तीनामपि सत्यहेतुत्वं प्रदर्शयद्भिः–"प्रतिसूर्यश्च काल्पनिकः प्रकाशक्रियां कुर्वन् दृष्ट एव" [ ]इति 'सर्वमेकं सत्, अविशेषात्' इति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः

[ २ सांख्यमतप्रतिपादकः अशुद्धद्रव्यास्तिकनयः ]

अशुद्धस्तु[11] द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाऽचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रितः। अत एव तन्मतानुसारिणः साङ्ख्याः प्राहुः–

"[12]अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात्।
कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तद्रूपा एव भावतः॥" [ तत्त्वसं० का० ७ ]

यद् अशेषाभिर्महदादिकार्यग्रामजनिकाभिरात्मभूताभिः शक्तिभिः प्रचितं युक्तं सत्त्व–रजस्–तमसां साम्यावस्थालक्षणं प्रधानम् तत एव महदादयः कार्यभेदाः प्रवर्तन्त इति कापिलाः। '[13]प्रधानादेव' इत्यवधारणं काल–पुरुषादिव्यवच्छेदार्थम्। 'केवलात्[14]' इति वचनं सेश्वरसाङ्ख्योपकल्पितेश्वरनिराकरणार्थम्। '[15]प्रवर्तन्ते' इति साक्षात् पारम्पर्येण[16]ोत्पद्यन्ते इत्यर्थः। तथाहि–तेषां प्रक्रिया––प्रधानाद् बुद्धिः प्रथममुत्पद्यते, बुद्धेश्चाहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धात्मकानि––इन्द्रियाणि चैकादशोत्पद्यन्ते–पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्र–त्वक्–चक्षुर्जिह्वा–घ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्–पाणि–पाद–पायु–उपस्थसंज्ञकानि, एकादशं मनश्चेति––पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि–शब्दाद् आकाशः, स्पर्शाद् वायुः, रूपात् तेजः, रसाद् आपः, गन्धात् पृथिवीति। तदुक्तमीश्वरकृष्णेन–

---

१–काऽहि–भा० मा०। "कथं तु असत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत? न हि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानाऽवगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति, नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्"– ब्रह्मसू० अ० २ पा० १ सू० १४ शाङ्क० भा० पृ० ४५८ पं० १२। २–पयश्च–आ० हा० वि०। ३ नै दो–वा० बा०। न दो–आ० हा० वि०।४–रे एवा–वा० बा०। ५ यदेक–वा० बा०। ६ अत्र 'तथा' 'एव' इत्यादे कस्यचित् पदस्याध्याहार समुचितो भाति। ७–मसादर्शे मुखं विशुद्धे हा० वि०।–मसा मुखं विशुद्धे वा० बा०।–मसे दर्पणतले मलीमसं मुखं विशुद्धे भा० मा०। ८–श्च कादि काल्प–वा० बा०। ९ पृ० २७२ पं० १७। १०–शुद्धद्र–आ० हा० वि०। ११–णः संख्याः भा० हा० विना। १२ इदं सपूर्णं साङ्ख्यप्रकरणं तत्त्वसग्रहपञ्जिकाया वर्तते–का० ७–१५, पृ० १६–२२ प्रकृतिपरीक्षा। १३ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १६ पं० १७। १४ तत्त्वस० पञ्जि० पृ० १६ पं० १७। १५ "'प्रवर्तन्ते' इति साक्षात् पारम्पर्येण वा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १६ पं० १८। १६–णोत्पाद्य–भा० मा० विना।

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" ॥ [ साङ्ख्यका० २२ ]

अत्र च 'महान्' इति बुद्ध्यभिधानम्, बुद्धिश्च 'घटः' 'पटः' इत्यध्यवसायलक्षणा। अहङ्कारस्तु 'अहं सुभगः' 'अहं दर्शनीयः' इत्याद्यभिधानस्वरूपः। मनस्तु सङ्कल्पलक्षणम्—तद्यथा—कश्चिद् बटुः शृणोति—'ग्रामान्तरे भोजनमस्ति' इति, तत्र तस्य सङ्कल्पः स्यात्—'यास्यामि' इति, 'किं तत्र दधि स्यात्, उतस्विद् दुग्धम्' इत्येवं सङ्कल्पवृत्ति मन इति। तदेवं बुद्ध्यहङ्कार-मनसां परस्परं विशेषोऽवगन्तव्यः। महदादयः प्रधान-पुरुषौ चेति पञ्चविंशतिरेषां तत्त्वानि। यथोक्तम्—

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः" ॥ [ ] इति ।

महदादयश्च कार्यभेदाः प्रधानात् प्रवर्तमाना न कारणादत्यन्तभेदिनो भवन्ति बौद्धाद्यभिमता इव कार्यभेदाः; किन्तु प्रधानरूपात्मान एव त्रैगुण्यादिना प्रकृत्यात्मकत्वात्। तथाहि—यदात्मकं कारणम् कार्यमपि तदात्मकमेव, यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः, शुक्लैः शुक्ल उपलभ्यते एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम्। तथा, बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि त्रिगुणात्मकमुपलभ्यते तस्मात् तद्रूपम्। किञ्च, अविवेके(कि)। तथाहि—'इमे सत्त्वादयः' 'इदं च महदादिकं व्यक्तम्' इति पृथक् न शक्यते कर्तुम्; किन्तु ये गुणास्तद् व्यक्तम् यद् व्यक्तं ते गुणा इति। तथा, उभयमपि विषयः भोग्यस्वभावत्वात्। सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात् पण्यस्त्रीवत्। अचेतनात्मकं च सुख-दुःख-मोहोऽवेदकत्वात्। प्रसवधर्मि च। तथाहि—प्रधानं बुद्धिं जनयति; साऽप्यहङ्कारम्, सोऽपि तन्मात्राणि—इन्द्रियाणि चैकादश—तन्मात्राणि महाभूतानि जनयन्तीति। तस्मात् त्रैगुण्यादिरूपेण तद्रूपा एव कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते। यथोक्तम्—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" ॥ [ साङ्ख्यका० ११ ] इति ।

अथ यदि तद्रूपा एव कार्यभेदाः कथं शास्त्रे व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैलक्षण्योपवर्णनम्—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्" ॥ [ साङ्ख्यका० १० ]

इति क्रियमाणं शोभेत? {अत्र ह्ययमर्थः—"हेतुमत् कारणवद् व्यक्तमेव। तथाहि—प्रधानेन

---

१ "प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तम् बहुधात्मकम् माया इति पर्यायाः"-माठर० पृ० ३६ पं० १०। २ "महान् बुद्धिः मतिः प्रज्ञा संवित्तिः ख्यातिः चितिः स्मृतिः आसुरी हरिः हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः"-माठर० पृ० ३६ पं० १२। ३ "अध्यवसायो बुद्धिः"-साङ्ख्यका० २३। ४ "तस्माद् महतः अहङ्कार उत्पद्यते, तस्य इमे पर्यायाः-वैकृतः तैजसः भूतादिः अभिमानः अस्मिता इति। चतुष्षष्टिवर्णैः परादिवैखरीपर्यन्ताभिधेयैर्यत् किमपि अभिधीयते बुद्ध्या समर्थ्य तत् सकलम् आद्यन्ताऽकार-हकारवर्णद्वयग्रहणेन उपरिस्थितपिण्डीकृतानुकारिणा बिन्दुना भूषितं प्रत्याहारन्यायेन अ-हंकार इत्यभिधीयते"-माठर० पृ० ३६ पं० १३-१७। ५ अभिमानोऽहङ्कारः"-साङ्ख्यका० २४ तथा माठर० पृ० ४१ पं० १५। ६ "मनः सङ्कल्पकम्"-साङ्ख्यका० २७। ७ "किं तत्र गुडदधि स्यात्, उतस्विद् दधि इति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १६ पं० २८। ८ "जटी मुण्डी शिखी"-माठरवृ० पृ० ३८ पं० ३, शास्त्रवा० स० स्त० ३ श्लो० ३७ पृ० ११३ प्र० पं० ८, तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० ४, "तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्" इति निर्दिश्य श्लोकोऽयं समुद्धृतः—साङ्ख्यसं० तत्त्वयाथा० पृ० ६१ पं० ४ तत्र अस्येत्थं पाठः-"यत्र कुत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वाऽपि"-न्यायाव० टिप्प० पृ० १४ पं० १७। ९ "यथा कृष्णतन्तुः कारणम् पटः कार्यमपि कृष्णमेव भवति"-माठरवृ० पृ० १९ पं० २४। १० "शुक्लैस्तु शुक्लः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० ९। ११ "किञ्च, अन्यत्-अविवेकि व्यक्तम्।" 'अमी गुणाः इदं व्यक्तम्' इति विवेक्तुं न पार्यते"-माठरवृ० पृ० २० पं० २। "किञ्च, अविवेकि"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० ११। १२ "किञ्च, द्वयमपि व्यक्तमव्यक्तं च विषयः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० १३। १३ "गणिकावत्"-माठरवृ० पृ० २० पं० ७। "मल्लदासीवत्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० १४। १४ "सुख-दुःख-मोहान् न चेतयति"-माठरवृ० पृ० २० पं० ८। १५-ह्रावे-आ० हा० वि०। १६ "ननु यदि तद्रूपा एव कार्यभेदाः तत् कथं शास्त्रे"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० १९। १७ -"क्षण्यमुपवर्णितम्? तथाहि-ईश्वरकृष्णोक्तम्-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० २०। १८ पृ० २८२ पं० ६। "सक्रियम्"-माठरवृ० पृ० १९ पं० २। तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० २०। १९ अत्रत्यो भावो माठरवृत्तावपि तथैव व्यावर्णितो दृश्यते।

हेतुमती बुद्धिः, अहङ्कारो बुद्ध्या हेतुमान्, पञ्च तन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि हेतुमन्ति अहङ्कारेण, भूतानि तन्मात्रैः। न त्वेवमव्यक्तम् कुतश्चित् तस्यानुत्पत्तेः। तथा, व्यक्तमनित्यम् उत्पत्तिधर्मकत्वात्, तद्विपर्ययाद् न त्वेवमव्यक्तम्। प्रधान-पुरुषौ दिवि भुवि चान्तरिक्षे च सर्वत्र व्याप्तितया यथा वर्तेत(ते) न तथा व्यक्तं वर्तते इति तदव्यापि। यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियलक्षणेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीराश्रितं व्यक्तं संसारि न त्वेवमव्यक्तम् तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात्। बुद्ध्यहङ्कारादिभेदेन चानेकविधं व्यक्तमुपलभ्यते नाव्यक्तम् तस्यैकस्यैव सतस्त्रिलोकीकारणत्वात्। आश्रितं च व्यक्तम्—यद् यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात्, न त्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात् तस्य। 'लयं गच्छति' इति कृत्वा लिङ्गं च व्यक्तम्। तथाहि—प्रलयकाले भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते; तन्मात्राणि इन्द्रियाणि चाहङ्कारे· सोऽपि बुद्धौ; साऽपि प्रधाने। न त्वेवमव्यक्तं क्वचिदपि लयं गच्छतीति। लीनं वा अव्यक्तलक्षणमर्थं गमयति व्यक्तं कार्यत्वाल्लिङ्गम्, न त्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात् तस्य। सावयवं च व्यक्तम् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्, न त्वेवमव्यक्तम् तत्र शब्दादीनामनुपलब्धेः। अपि च, यथा पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात् परतन्त्रम्, नैवमव्यक्तम् अकारणाधीनत्वात् सर्वदा तस्येति {नः परमार्थतस्ताद्रूप्येऽपि प्रकृतिविकारभेदेन तयोर्भेदाविरोधात्। तथाहि—स्वभावतस्त्रैगुण्यरूपेण प्रकृतिरूपा एव प्रवर्तन्ते विकाराः, सत्त्व-रजस्-तमसां त्त(तू)त्कटाऽनुत्कटत्वविशेषात् सर्गवैचित्र्यं महदादिभेदेन न विरोत्स्यत इति कारणात्मनि कार्यमस्तीति प्रतिज्ञातं भवति। नन्वेवं कुतो ज्ञायते प्रागुत्पत्तेः सत् कार्यमिति? हेतुकदम्बकसद्भावात्। तत्सद्भावश्च—

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्" ॥ [ साङ्ख्यका० ९ ] इति ईश्वरकृष्णेन प्रतिपादितः।

अत्र च 'असदकरणात्' इति प्रथमो हेतुः—सत्कार्यसाधनायोपन्यस्तः—एवं समर्थितः—यदि हि कारणात्मनि उत्पत्तेः प्राक् कार्यं नाभविष्यत् तदा न तत् केनचिदकरिष्यत, यथा गगनारविन्दम्। प्रयोगः—यद् असत् तद् न केनचित् क्रियते, यथा नभोनलिनम्, असत्त्व(च्च) प्रागुत्पत्तेः परमतेन· कार्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः, न चैवं भवति, तस्मात् यत् क्रियते तिलादिभिस्तैलादि कार्यं तत् तस्मात् प्रागपि सत् इति सिद्धं शक्तिरूपेणोत्पत्तेः प्रागपि कारणे कार्यम्, व्यक्तिरूपतया च तत् तदा कापिलैरपि नेष्यते।

'उपादानग्रहणात्' इति द्वितीयहेतुसमर्थनम्—यदि असद् भवेत् कारणे कार्यम् तदा पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात्, शालिफलार्थिनस्तु शालिबीजमेवोपाददते न कोद्रवबीजम्। तत्र यथा शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्त्वम् तथा यदि कोद्रवबीजादिष्वपि, किमिति तुल्ये सर्वत्र शालिफलादीनामसत्त्वे प्रतिनियतान्येव शालिबीजानि गृह्णन्ति न कोद्रवबीजादिकम्, यावता कोद्रवादयोऽपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन् असत्त्वाविशेषात्। अथ तत्फलशून्यत्वात् तैस्ते नोपादीयन्ते,

---

१ "व्यापितया यथा वर्तते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १७ पं० २६। २–तस्त्रैलोक्यका–आ०। ३ माठरवृत्तौ तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां च नैषा व्युत्पत्तिर्दृश्यते। ४–कारा मे–भा० मा० वा० बा०। "प्रकृतिविकारभेदेन"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८ पं० १०। ५ "अथवा 'भावत' इति स्वभावतस्त्रैगुण्यरूपेण"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८ पं० ११। ६ "सत्त्व-रजस्-तमसा तूत्कटाऽनुत्कटत्वविशेषात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८ पं० ११। ७–रोत्स्य–भा० मा०। ८–ति ज्ञातं आ० वा० बा०। ९ नन्वेतत् कु–भा० मा०। १० तत्स्वभा–वा० बा० हा०। ततश्च स्वभा–आं० वि०। ११ माठरवृ० पृ० १६ पं० २५।

१२ "यदि त्वसद् भवेत् कार्यं कारणात्मनि शक्तितः। कर्तुं तन्नैव शक्येत नैरूप्याद् वियदब्जवत्" ॥

तत्त्वसं० का० ८ पृ० १८।

१३–सत्त्वा प्रा–भा० मां० विना।–सच्च प्रा–वि० स०। "असच्च प्रागुत्पत्ते परमतेन कार्यमिति"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १८ पं० २१। १४–त्या तत् तदा आ० हा० वि०। १५ माठरवृ० पृ० १७ पं० ४।

१६ "कस्माच्च नियतान्येव शालिबीजादिभेदतः। उपादानानि गृह्णन्ति तुल्यसत्त्वेऽपर न तु" ॥

तत्त्वसं० का० ९ पृ० १८।

१७–त्त्वेति प्र–आ०। १८–जादीनि भां० मां०।

यद्येवं शालिबीजमपि शालिफलार्थिना तत्फलशून्यत्वान्नोपादेयं स्यात् कोद्रवबीजवत्, न चैवं भवति, तस्मात् तत्र तत् कार्यमस्तीति गम्यते।

'सर्वसम्भवाभावात्' इति तृतीयो हेतुः—यदि हि असदेव कार्यमुत्पद्यते तदा सर्वस्मात् तृण-पांश्वादेः सर्वं स्वर्ण-रजतादिकार्यमुत्पद्येत, सर्वस्मिन्नुत्पत्तिमति भावे तृणादिकारणभावात्मतानिरंहस्याऽविशिष्टत्वात्। पूर्वं कारणमुखेन प्रसङ्ग उक्तः सम्प्रति तु कार्यद्वारेणेति विशेषः। न च सर्वं सर्वतो भवति, तस्मादयं नियमः 'तत्रैव तस्य सद्भावात्' इति गम्यते।

स्यादेतत् कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु शक्तयः प्रतिनियताः तेन कार्यस्यासत्त्वेऽपि किञ्चिदेव कार्यं क्रियते—न गगनाम्भोरुहम्—किञ्चिदेव चोपादानमुपादीयते तदेव समर्थं न तु सर्वम् किञ्चिदेवं च कुतश्चिद् भवति न तु सर्वं सर्वस्मादिति, असदेतत्; यतः शक्ता अपि हेतवः कार्यं कुर्वाणाः शक्यक्रियमेव कुर्वन्ति नाशक्यम्।

ननु केनैतदुक्तम्—'अशक्यं कुर्वन्ति' इति येनैतत् प्रतिषिध्यते भवता किन्तु 'असदपि कार्यं कुर्वन्ति' इत्येतावदुच्यते। तच्च तेषां शक्यक्रियमेव, असदेतत्; असत्कार्यकारित्वाभ्युपगमादेव अशक्यक्रियं कुर्वन्ति। तथाहि—यद् असत् तत् नीरूपम् यच्च नीरूपं तत् शशविषाणादिवद् अनाधेयातिशयम् यच्च अनाधेयातिशयं तद् आकाशवद् अविकारि; तथाभूतं चाऽसमासादितविशेषरूपं कथं केनचिच्छक्येत कर्तुम्? अथ सदवस्थाप्रतिपत्तेर्विक्रियत एव तत्, एतदप्यसत्; विकृतावात्महानिप्रसक्तेः—यतो विकृताविष्यमाणायां यस्तस्यात्मा निरूपाख्यो वर्ण्यते तस्य हानिः प्रसज्येत न ह्यसतः स्वभावापरित्यागे सद्रूपतापत्तिर्युक्ता परित्यागे वा नासदेव सद्रूपतां प्रतिपन्नमिति सिद्ध्येत्-अन्यदेव हि सद्रूपम् अन्यच्च असद्रूपम् परस्परपरिहारेण तयोरवस्थितत्वात्। तस्मात् यद् असत् तद् अशक्यक्रियमेव, अतस्तथाभूतपदार्थकारित्वाभ्युपगमे कारणानामशक्यकारित्वमेवाभ्युपगतं स्यात्। न चाशक्यं केनचित् क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, अतः 'शक्तिप्रतिनियमात्' इत्यनुत्तरमेतत्। एतेन 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इति चतुर्थोऽपि हेतुः समर्थितः।

"कार्यस्यैवमयोगाच्च किं कुर्वत् कारणं भवेत्।
ततः कारणभावोऽपि बीजादेर्नावकल्पते॥" [ तत्त्वसं० का० १३ ]

इति पञ्चमहेतुसमर्थनम्। अस्यार्थः—एवं यथोक्ताद्धेतुचतुष्टयाद् असत्कार्यवादे सर्वथाऽपि कार्यस्यायोगात् किं कुर्वद् बीजादि कारणं भवेत्? ततश्चैवं शक्यते वक्तुम्—न कारणं बीजादिः, अविद्यमानकार्यत्वात्, गगनाब्जवद्, न चैवं भवति, तस्माद् विपर्ययः इति सिद्धं प्रागुत्पत्तेः सत् कार्यमिति।

स्यादेतत् यदि नाम 'सत् कार्यम्' इत्येवं सिद्धम्, 'प्रधानादेव महदादिकार्यभेदाः प्रवर्तन्ते' इत्येतत् तु कथं सिद्धिमासादयति? उच्यते—

---

१ माठरवृ० पृ० १७ पं० ६।

२ "सर्वं च सर्वतो भावाद् भवेद्धत्तिधर्मकम्। तादात्म्यविगमस्येह सर्वस्मिन्नविशेषतः"॥
तत्त्वसं० का० १० पृ० १९।

३-त्मना वि-भा० हा० विना। ४ द्वितीयहेतुसमर्थनावसरे पृ० २८१ पं० २७। ५ "यदेव समर्थं न तु यत् किञ्चित् किञ्चिदेव तु कुतश्चिद् भवति"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० १९ पं० २०। ६-र्थं किञ्चि-भा० मा० विना। ७-व कु-भा० मा० विना।

८ "शक्तीनां नियमादेषां नैवमित्यप्यनुत्तरम्। शक्यमेव यतः कार्यं शक्ताः कुर्वन्ति हेतवः"॥
तत्त्वसं० का० ११ पृ० १९।

९ "अकार्यातिशयं यत् तु नीरूपमविकारि च। विकृतावात्महान्याप्तेस्तत् क्रियेत कथं नु तैः?"॥
तत्त्वसं० का० १२ पृ० २०।

१० तच्च शश-भा० मां० विना। ११-योरेव स्थि-भां० मां० विना। १२ प्र० पृ० पं० ७। १३-क्यका-भा० मां० विना। १४-जादेर्न विक-भां० मां० हा० वि०।-जादेर्न च क-भा०।-"जादेर्न वि"-तत्त्वसं०। १५ तस्यैवं भा० मां० विना।

१६ "सुखाद्यन्वितमेतच्च व्यक्तं व्यक्तं समीक्ष्यते। प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्यस्येहोपलब्धित॥
"ततस्तन्मयसम्भूतं तद्भावान्वयदर्शनात्। कुटादिभेदवत् तच्च प्रधानमिति कापिलाः"॥
तत्त्वसं० का० १४-१५ पृ० २०-२२।

"भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य" ॥ [ साङ्ख्यका० १५ ]
"कारणमस्त्यव्यक्तम्" [ साङ्ख्यका० १६ ]

इति पञ्चभ्यो वीतप्रयोगेभ्यः ।

तथाहि—अस्ति प्रधानम्, भेदानां परिमाणात्, इह लोके यस्य सत्ता भवति तस्य परिमाणं दृष्टम्, यथा कुलालः परिमितात् मृत्पिण्डात् परिमितं घटमुत्पादयति प्रस्थग्राहिणम् आढकग्राहिणं वा, इदं च महदादि व्यक्तं परिमितमुपलभ्यते—एका बुद्धिः एकोऽहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च भूतानि—ततोऽनुमानेन साधयामः—अस्ति प्रधानम् यत् परिमितं व्यक्तमुत्पादयति यदि च प्रधानं न स्यात् निष्परिमाणमिदं व्यक्तं स्यात् ।

इतश्चास्ति प्रधानम्, भेदानामन्वयदर्शनात्, यज्जातिसमन्वितं हि यदुपलभ्यते तत् तन्मयकारणसम्भूतम्, यथा घट-शरावादयो भेदा मृज्जात्यन्विता मृदात्मककारणसम्भूताः, सुख-दुःख-मोहादिजातिसमन्वितं चेदं व्यक्तमुपलभ्यते प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्योपलब्धेः । तथाहि—प्रसाद-लाघवाऽभिष्वङ्गोद्धर्ष-प्रीतयः सत्त्वस्य कार्यम् सुखमिति च सत्त्वमेवोच्यते । ताप-शोष-भेद-स्तम्भोद्वेगा रजसः कार्यम् रजश्च दुःखम् । दैन्याऽऽवरण-सादन-ध्वंस-बीभत्स-गौरवाणि तमसः कार्यम् तमश्च मोहशब्देनोच्यते । एषां च महदादीनां सर्वेषां प्रसाद-ताप-दैन्यादि कार्यमुपलभ्यते इति सुख-दुःख-मोहानां त्रयाणामेते सन्निवेशविशेषा इत्यवसीयते, तेन सिद्धमेतेषां प्रसादादिकार्यतः सुखाद्यन्वितत्वम्, तदन्वयाच्च तन्मयप्रकृतिसम्भूतत्वं सिद्धिमासादयति, तत्सिद्धौ च सामर्थ्याद् याऽसौ प्रकृतिः तत् प्रधानमिति सिद्धम्—अस्ति प्रधानम् भेदानामन्वयदर्शनात् ।

इतश्चास्ति प्रधानम्, शक्तितः प्रवृत्तेः । इह लोके यो यस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यथा तन्तुवायः पटकरणे अतः प्रधानस्यास्ति शक्तिर्यया व्यक्तमुत्पादयति, सा च शक्तिर्निराश्रया न सम्भवति तस्मादस्ति प्रधानं यत्र शक्तिर्वर्तते इति ।

इतश्चास्ति प्रधानम् कारणकार्यविभागात् । इह लोके कार्य-कारणयोर्विभागो दृष्टः, तद्यथा—मृत्पिण्डः कारणम् घटः कार्यम् स च मृत्पिण्डाद् विभक्तस्वभावः । तथाहि—घटो मधू-दक-पयसां धारणसमर्थः न मृत्पिण्डः एवमिदं महदादिकार्यं दृष्ट्वा साधयामः—अस्ति प्रधानं कारणम् यस्मादिदं महदादिकार्यमिति ।

इतश्चास्ति प्रधानम् वि(वै)श्वरूप्यस्याविभागात् । 'वैश्वरूप्यम्' इति त्रयो लोका उच्यन्ते, एते हि प्रलयकाले क्वचिदविभागं गच्छन्ति । तथाहि—पञ्च भूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु अविभागं गच्छन्ति, तन्मात्राणि इन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारस्तु बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने तदेवं प्रलयकाले त्रयो लोका अविभागं गच्छन्ति । अविभागोऽविवेकः यथा-क्षीरावस्थायाम् 'अन्यत् क्षीरम्' 'अन्यद् दधि' इति विवेको न शक्योऽभिधातुम् तद्वत् प्रलयकाले 'इदं व्यक्तम्' 'इदमव्यक्तम्' इति विवेकोऽशक्यक्रिय इति मन्यामहे—अस्ति प्रधानम् यत्र महदादिलिङ्गमविभागं गच्छतीति । सत्त्व-रजस्तमोलक्षणं सामान्यमेकमचेतनं द्रव्यम् अनेकं च चेतनं द्रव्यमर्थोऽस्तीति द्रव्यार्थिकः-अशुद्धो व्यवहारनयाभिप्रेतार्थाभ्युपगमस्वरूपः-बोद्धव्यः । वक्ष्यति चाचार्यः—

---

१ कार्यकारणवि-भा० मा० । २ "तत्र प्रथमम्-अनुमानम्-तावद् द्विविधम्-वीतम् अवीतं च । अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमान निषेधकम् अवीतम्××वीत द्वेधा-पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट च"-साङ्ख्यकौ० पृ० ३० पं० ५ तथा पृ० ३१ पं० ४ । ३ माठरवृ० पृ० २५ पं० २४ । ४ "लोके यत्र कर्ताऽस्ति तस्य परिमाणं दृष्टम्"-माठरवृ० पृ० २५ पं० २५ । "इह लोके यस्य कर्ता भवति तस्य परिमाण दृष्टम्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २१ पं० २ । ५ माठरवृ० पृ० २६ पं० ७ । ६-"सादन-ध्वंस"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २१ पं० १२ । ७ माठरवृ० पृ० २६ पं० १२ । ८ माठरवृ० पृ० २६ पं० १६ । ९-कस्तथा-आ० हा० वि० । १० माठरवृ० पृ० २६ पं० २२ । ११ "विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यम्-बहुरूपमित्यर्थ"-माठरवृ० पृ० २६ पं० २३ । तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २१ पं० २३ । १२ "प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र अखिलम् इति प्रधानम्"-माठरवृ० पृ० २७ पं० ६ । १३ माठरवृ० पृ० २७ पं० १६ । १४-नं अनेकं च भा० मा० । १५ पृ० २७१ पं० १५ ।

'जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं' । [ तृ० का० गा० ४८ ] इति ।

नैगमनयाभिप्रायस्तु द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया आचार्येण न प्रदर्शित एव नैगमस्य ग्राहिणः संग्रहेऽन्तर्भूतत्वात् विशेषग्राहिणश्च व्यवहारे इति नैगमाभावादिति प्रत्ययराशिमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थितः ।

## [ पर्यायास्तिकनयनिरूपणम् ]

### [ १ सदद्वैतप्रतिक्षेपकः पर्यायास्तिकनयः ]

अत्र पर्यायास्तिक ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूतनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी शुद्धाऽ व्यवस्थितः पर्यायलक्षणविषयव्यवस्थापनपरो द्रव्यास्तिकनयाभिप्रेतवस्तुव्यवस्थापनयुक्ति पति—यदुक्तं द्रव्यास्तिकेन 'सर्वमेकं सत् अविशेषात्' तत् किं भेदस्य आहोश्विदभेदे प्रमाणसद्भावात्? न तावद् भेदस्य प्रमाणबाधितत्वम् यतः प्रमाणं भेदमुपोद्वलयति न पुनस्तद्बाधया प्रवर्त्तते, भेदमन्तरेण प्रमाणेतरव्यवस्थितेरेवाभावात् । च प्रत्यक्षानुमानादिभेदेन भिन्नं सद् भेदसाधकमेव न पुनस्तद्बाधकम् । तथाहि—प्रत्यक्षं व्यापारसमनन्तरभावि वस्तुभेदमधिगच्छत् उत्पद्यते यतो भेदो भाव एव तं च । ऽध्यक्षेण कथं भेदो न अधिगतः? यच्चोक्तम्-'भेदस्य कल्पनाविषयत्वम् 'इदमस्माद् इत्येवं तस्य व्यवस्थापनात् अभेदस्तु निरपेक्षाध्यक्षधीसमधिगम्यः' इति, तदयुक्तम् । समानम्' इत्यनुगतार्थप्रतिभासस्यैवेतरसव्यपेक्षस्य कल्पनाज्ञानमन्तरेणानुपपत्तेरभेद एव कल्पना ज्ञानविषयः भेदस्तु परस्पराऽसंसिश्रवस्तुबलोद्भूततदाकारसंवेदनाधिगम्यः तदाभासाध्यक्षस्या नुभवसिद्धत्वात्, अध्यक्षस्य भावग्रहणरूपत्वाच्च । भावाश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितयो नात्मानं कल्पनाज्ञानमन्तरेण योजयन्ति, एवं परस्परासङ्कीर्णरूपप्रतिभासतो भावानां नान्यथा । तदुक्तम्—"अनलार्थ्यनलं पश्यन्नपि न तिष्ठेत् नापि प्रतिष्ठेत" [ ] पुनरप्युक्तम्-"तत् परिच्छिनत्ति अन्यद् व्यवच्छिनत्ति प्रकारान्तराभावं च सूचयति" [ ] इति एतेन 'आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्' इत्यादि पराकृतम् । यतो विधातृत्वं किं प्रत्यक्षस्य भावस्वरूपग्राहित्वम्, आहोश्विदन्यत्? यदि भावस्वरूपग्राहित्वम् न तर्हि भेदग्रहणस्य विरोधः भेदस्य तद्रूपत्वात् । अथान्यत्, तन्न; तस्य स्वभावानिर्देशात् । अथ वस्त्वन्तराद् वस्त्वन्तरस्यान्यत्वं प्रत्यक्षं न प्रतिपादयति, तदप्यसत्; भावानां सर्वतो व्यावृत्तत्वात् तथैव चाध्यक्षे प्रतिभासनात् । तथाहि-पुरोऽव्यवस्थिते घट-पटादिके वस्तुनि चक्षुर्व्यापारसमुद्भूतप्रतिनियतार्थप्रतिभासादेव सर्वेभ्योऽन्यतो भेदः प्रतिपन्नोऽध्यक्षेण अन्यथा प्रतिनियतप्रतिभासायोगात् । न ह्यघटरूपतयाऽपि प्रतिभासमानो घटः प्रतिनियतप्रतिभासो भवति, अघटरूपपदार्थाप्रतिभासने च तत्र कथं न ततो भेदप्रतिभासः स्यात्? नहि तदात्मा भवति, स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वभावानाम्; अन्यथा सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसङ्ग इति अन्याप्रतिभासनमेव घटादेः प्रतिनियतरूपपरिच्छेदः । यदि पुनः प्रतिनियतरूपपरिच्छेदेऽपि नान्यरूपपरिच्छेदस्तदा प्रतिनियतैकस्वरूपस्याप्यपरिच्छेदप्रसङ्गः । तथाहि-घटरूपं-(प)प्रतिनियताध्यक्षप्रत्ययेनाप्यघटरूपविवेको नाधिगतो यदि तदाऽघटरूपमपि घटरूपं स्यादिति न

---

१-यप्रस्तरमूल-आ० । २ पृ० २७२ पं० १७ । ३ प्रमेयक० पृ० १८ प्र० पं० १५ । ४ भावस्वभाव एवं (एतं) चाधि-गा० वा० विना । ५ पृ० २७२ पं० १९ । ६-इत्येव त-मां० । ७-मभिग-वा० धा० ।-मभिगम्यत इति आ० हा० वि० । ८-सस्य वेत-हा० । ९-क्षक-भा० मां० विना । १०-स्तु परासंसि-आ० हा० वि० । ११-च्छिनदन्य-भां० भा० हा० वि० ।-च्छिदन्य-गा० । १२ पृ० २७३ पं० १७ । १३-त्याद्यपि प-भां० मां० । १४-दस्यात-वा० वा० । १५-ततस्त तस्य भा० मां० । १६-स्यादेवमन्य- भा० आ० हा० वि० ।-स्यादेकमन्य-भा० । १७-क्षेणा प्र-आ० हा० वि० । १८-या प्र-भां० मां० । १९ कथं ततो भेदः प्रति-वा० बा० । कथं भेदप्रति-हा० वि० । कथं भेदः प्रति-आ० । २०-ति स्वभा-आ० वा० बा० । २१ सर्वत्राप्रयो-भा० मा० । २२-नः प्रतिनियतरूपपरिच्छेदस्तदा वा० वा० आ० । २३-दः सदा भां० मां० । २४ घटादिरूपं वा० वा० विना । २५-ना घ-वा० वा० ।

प्रतिनियतघटरूपप्रतिपत्तिः स्यात्। ततश्च य एष कस्यचित् प्रतिनियतपदार्थदर्शनात् क्वचित् प्राप्ति-परिहारार्थी व्यवहारः स न स्यात्। न च तत्राऽसतो रूपस्य प्रतिभासो युक्तः अप्रतिभासने च कथं न ततः प्रतिभासमानरूपस्य विवेकप्रतिभासः? न च भेदः कल्पनाज्ञानविषयः अबाधितानुभव-गोचरत्वात्; अत एव 'इतरेतराभावरूपत्वान्न भेदः प्रत्यक्षविषयः' इति प्रत्युक्तम् भावस्वरूपग्रहणे इतरेतराभावरूपस्य भेदस्य प्रतिभासनात्।

अनुमानागमयोः स्वरूपस्य तु भेदनिबन्धनत्वान्न भेदबाधकता। एवं प्रमेयभेदनिश्चये प्रमाणादपि प्रमेयस्य भेदो निश्चित एव भवतीति न प्रमाणनिश्चये भेदेऽबाधितत्वाद् भेदस्याभेदाभ्युपगमो युक्तः।

यदपि 'देश-काला ऽऽकारभेदैर्भेदो न प्रत्यक्षादिभिः प्रतीयते' इत्याद्युक्तम्, तदप्यसङ्गतमेव, अभेदप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-अभेदोऽपि पदार्थानां यदि देशाभेदात् तदाऽनवस्था-दिदूषणं समानम्। किञ्च, भिन्नदेशसम्बन्धितया प्रतिभासमानानां घट-पटादीनां सद्रूपतया सर्वेषां प्रतिभासनात् तस्याश्च सर्वत्र सर्वदाऽप्रत्यपायादबाधितप्रत्ययविषयत्वेन पारमार्थिकत्वम्, घटादिभेदानां च प्रच्यवनाद् देशान्तरादौ बाधितप्रत्ययगम्यत्वादपारमार्थिकत्वमभ्युपगतम्, तत्रैकदेशस्थघटादिभेदाध्यक्षप्रतिपत्तिकाले यत(त्) स्वरूपं तद्भेदपरिष्वक्तवपुः परिस्फुटमध्यक्षे प्रति-भाति न तद् देशान्तरस्थघटादिभेदपरिगतमूर्तितया प्रतिभाति, तत्र तद्भेदानामसन्निधानेन प्रति-भासायोगात् तदप्रतिभासने च तत्परिष्वक्तताऽपि तस्य नाधिगतेति कथं देशान्तरस्थभेदानुगतत्वं तस्य भातम्? यदेव हि स्पष्टदृगवगतं तद्भेदनिष्ठं तस्य रूपं तदेवाऽभ्युपगन्तुं युक्तम् अन्यदेशभेदानु-गतस्य तद्दर्शनासंस्पर्शिनः स्वरूपस्यासम्भवात् सम्भवे वा तस्य दृश्यस्वभावाभेदप्रसङ्गात्, तदेकत्वे सर्वत्र भेदप्रतिहतेरनानैकं जगत् स्यात्। दर्शनपरिगतं च तद्देशभेदक्रोडीकृतं सद्रूपं न भेदान्तर-परिगतमिति न तदस्ति। यदि तु तदपि भेदान्तरपरिगतं सद्रूपमाभाति तथासति सकलदेशपरिगता भेदाः प्रतिभासन्ताम्। अथ न प्रथमदेशभेदप्रतिभासकाले देशान्तरपरिगतभेदसम्बन्धिसद्रूपत्व-माभाति किन्तु यदा भेदान्तरमुपलभ्यते तदा तद्गतं सद्रूपत्वमाभातीत्यभेदप्रतिपत्तिः पश्चाद् भव-तीति, एतदप्ययुक्तम्, यतो भेदान्तरप्रतिभासेऽपि तत्क्रोडीकृतमेव सद्रूपत्वमिति न पूर्वभेदसंस्प-र्शितया तस्याधिगतिः, पूर्वभेदस्याऽसन्निहिततयाऽप्रतिभासने तत्परिष्वक्तवपुषः सद्रूपस्यापि दर्शना-तिक्रान्तत्वात् कथमपरापरदेशभेदसमन्वयिसद्रूपत्वावगमः सम्भवी?

२५ अथ प्रत्यभिज्ञानादन्वयि सद्रूपत्वं भिन्नदेशभेदेषु प्रतीयते तदा वक्तव्यं केयं प्रत्यभिज्ञा? यदि प्रत्यक्षम् तत् कुतस्तदवसेयं सद्रूपत्वमपरापरदेशघट-पटादिष्वेकं सिद्ध्यति? अथाक्षव्यापा-रादुपजायमाना प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम्? भेदग्राहिणो विकल्पव्यतिक्रान्तमूर्तेर्विशददर्शन-स्याप्यक्षप्रभवत्वेनैवाऽध्यक्षत्वं भेदवादिभिरप्यभ्युपगम्यते तदत्रापि समानम्, असदेतत्; यद्यक्ष-व्यापारसमासादितवपुरेषा प्रतीतिः तथासति प्रथमभेददर्शनकाल एवापरदेशभेदसमन्वयिसद्रू-पपरिच्छेदोऽस्तु। अथ तदा स्मृतिविरहान्नैकत्वावगतिः, यदा त्वपरदेशभेददर्शनमुपजायते तदा पूर्वदर्शनाऽऽहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मृतिसहकृतमिन्द्रियमभेददृशमुपजनयति, तदप्यसत्, यतः स्मृतिसहायमपि लोचनं पुरः सन्निहित एव घटादिभेदे तत्क्रोडीकृतसद्रूपत्वे च प्रतिपत्तिं जन-यितुमलम् न पूर्वदर्शनप्रतिपन्ने भेदान्तरे, तस्याऽसन्निधानेनाऽतद्विषयत्वात् गन्धस्मृतिसह-कारिलोचनवत् 'सुरभि द्रव्यम्' इति प्रतिपत्तिं गन्धवद्द्रव्ये। तत्र सद्रूपत्वप्रतिपत्तिरत्र भेदे स्फुट-वपुः प्रतिपत्तिमभिसन्धत्ते। अर्थेन्द्रियवृत्तिर्न स्मरणसमवायिनी करणत्वात् इति नासौ

१–निश्चिते वि० स०। २–त्वाद्भेदस्याभ्युप–वा० बा०। ३ पृ० २७३ पं० १९–पृ० २७४ पं० २७। ४ तत्रैक–आ०। ५–काले त्स्वरूपं तद्भेद–वा० बा०। ६ यत् सद्रूपत्वं त–भा० मा०। ७–स्थपटादि–भा० मा० वा० बा०। ८–स्यत्वस्व–आ०। ९–लदेशाप–भा० मा०। १०–पत्वं नाभा–हा० वि०। ११–त्वमाभाति न भा० मा०। १२–पत्वमभिन्नदेश–भा० मा०।–पत्वं देश–आ० हा० वि०। १३–क्षं कु–आ० हा० वि०। १४ स्मृतिसहकारिवि–भा० मा०। १५–दा च प–भा० मा०। १६–ददर्शनमुप–भा० मा०। १७–दे न क्रो–आ०। १८–पन्नमे–भा० मा० वा० बा०। १९ तस्य सन्नि–भा० मा० विना। २०–सहायलो–भा० मा०। २१–पत्तिम–भा० मा० विना। २२ तत्र स–वा० बा० आ० विना। २३–पन्नमभिसं–मा०।–पत्तिमतिसं–आ० हा० वि० वा० बा०।

प्रतिसन्धानविधायिनी पुरुषस्तु कर्तृतया स्मृतिसमवायी तेन चक्षुषा परिगतेऽर्थे तद्दर्शितपूर्वभेदात्मसात्कृतसद्रूपत्वं संधास्यति, तदप्यसत्; यतः सोऽपि न स्वतन्त्रतयैकत्वं प्रतिपत्तुं समर्थः किन्तु दर्शनसव्यपेक्षः दर्शनं च न प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाव्यपरापरदेशव्यवस्थितघट-पटादिभेदक्रोडीकृतसन्मात्राभेदग्रहणमिति[2] न तदुपायतः आत्माप्यभेदप्रतिपत्तिसमर्थः। यदि पुनः दर्शननिरपेक्ष एवात्मा अभेदग्राहकः स्यात् तदा स्वाप-मद-मूर्च्छाद्यवस्थायामपि तस्य सद्भावाभ्युपगमादभेदप्रतिपत्तिर्भवेत्, न च स्मरणसव्यपेक्षोऽसौ तद्ग्राहकः स्मरणस्य बहिरर्थे प्रामाण्यानुपपत्तेः। गृहीतार्थाध्यवसायि हि स्मरणम्, न चाभेदः पूर्वापराध्यक्षाधिगत इति न स्मरणस्यापि तत्र प्रवृत्तिर्युक्तिमती। न च[1] प्रत्यभिज्ञानसव्यपेक्षोऽसौ तत्र प्रवर्त्तत इति कल्पना सङ्गता, प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य देशभिन्नघट-पटादिपरिष्वक्तसद्रूपाभेदावगमहेतुत्वेन निषिद्धत्वात्[3]। न चात्मनोऽपि व्यापित्वं सिद्धम्, तस्य पूर्वं निषिद्धत्वात्[4]। तच्च[5] देशाभेदादभेदः[6] सन्मात्रस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तुं शक्यः[7]।

नापि पूर्वापरकालसम्बन्धित्वं सन्मात्रस्याभेदः प्रत्यक्षविषयः। तथाहि-प्रत्यक्षं पूर्वापरविविक्तवर्तमानमात्रपरिच्छेदस्वभावं न[8] कालान्तरपरिगतिमुद्द्योतयितुं प्रभुरि(भु इ)ति न तदवसेयोऽभेदः। अध्यक्षमात्रपरिगतमेव[9] वस्तुरूपं[10] गृह्यत इति तदेवास्तु। तथाहि[11]—उपलम्भः सत्तोच्यते उपलब्धिश्च सर्वाक्षान्वया वर्त्तमानमेव रूपमुद्भासयति अक्षस्य वर्त्तमान एव व्यापारोपलम्भात् तदनुसारिणी[12] चाध्यक्षप्रतीतिरक्षगोचरमेव पदार्थस्वरूपमुद्भासयितुं प्रभुरिति दर्शनविषयो वर्तमानमात्रं[13] सदिति स्थितम्। अथापि स्यात् यद्यप्यक्षानुसारिणि दर्शनोद्भेदे साम्प्रतिकरूपप्रतिभासस्तथापि कथमध्यक्षावसेयः पूर्वापरक्षणभेदः? मध्यमक्षणस्य[14] परमाणोरण्वन्तरात्ययकालतुलितमूर्तिः क्षणभेदः[15] स चाध्यक्षस्य मध्यक्षणदर्शित्वेऽपि न तद्गम्यः सिद्ध्यति, न सदेतत्; यतो यस्य न पूर्वत्वम् नाप्यपरकालसम्बन्धः समस्ति स पराकृतपूर्वापरविभागः क्षणभेदव्यवहारमासादयति, न हि पूर्वापरकालस्थायितया[16]ऽगृह्यमाणो भावो[17]ऽभेदव्यपदेशभाग् भवति। कालान्तरव्यापितामनुभवन्तो हि भावा 'नित्याः' 'अभेदिनो वा' इति व्यपदेशमाकृत्वमासादयन्ति। न च तत्राध्यक्षप्रत्ययः प्रवर्तते, भावि-भूतकालतायामनुमानस्मृत्योरेव व्यापारदर्शनात्। तथाहि—'इदं पूर्वं[18] दृष्टम्' इति स्मरन्नध्यवस्यति जनस्तथास्थिरावस्थादर्शनात्, भाविकालस्थितिमधिगच्छत्यनुमानात् दर्शनपथमवतरतोऽर्थस्येति न परिस्फुटसंवेदनपरिच्छेद्यः कालभेदः। न हि भूतावस्था भाविकालता वा स्फुटदृशां विषय इति कथमध्यक्षगम्योऽभेदः? ननु क्षणभेदोऽपि न संविदोल्लिख्यत इति कथं तद्ग्राह्यः? असदेतत्, यतोऽभेदविपर्यासः क्षणभेद उच्यते, कालान्तरस्थितिविपर्यासे च मध्यक्षणसत्त्वमेव गृह्णता प्रत्यक्षेण कथं न क्षणभेदोऽधिगतः? अथ यदि नामाध्यक्षधीरभेदं नाधिगच्छति तदुत्थापितमनुमानं तु[19] प्रत्याययिष्यति। तथाहि-स्थिरावस्थामर्थानामुपलभ्य वर्षादिस्थितिमधिगच्छन्ति व्यवहारिणः 'यतो यदि ध्वंसहेतुरस्य न सन्निहितो भवेत् तदा वर्षादिकमेष स्थास्यति' इति अतो यस्य सहेतुको विनाशस्तस्य तद्धेतुसन्निधानमन्तरेण स्थितिसद्भाव इति कालाभेदः यस्य तु मन्दरादेर्नाशहेतुर्न विद्यते स सर्वदा स्थितिमनुभवतीत्युभयथाप्यभेदोऽनुमानावसेयः, असदेतत्; यतो यत्राध्यक्षं न प्रवृत्तम् नापि प्रवर्त्तते नापि प्रवर्त्स्यते[20] अभेदे न तत्रानुमितिः प्रवर्त्तते। न च कालान्तरस्थायी भावोऽक्षजप्रत्ययेनावगतः यदि पुनर्वर्त्तमानकालतावभास्यक्षजप्रत्ययः कालान्तरस्थितिमवभासयति[21] तदा स्पष्टदृगवगत एवाभेद इति किमनुमानेन? अथ कालान्तरभाविनाऽध्यक्षेण कालान्तरस्थितिरधिगम्यते, तदप्ययुक्तम्; यत उत्तरकालभाव्यपि दर्शनं तत्कालमेवार्थमधिगन्तुं प्रभुर्न (भु न) पूर्वसत्तावगाहीति कथं तदप्यभेदाव-

---

१-नं न च प्र-भां० मां० विना। २-हणमिति भां० मां०। ३ पृ० २८६ पं० २५। ४ पृ० १३४ पं० ३२। ५ तत्र दे-वा० बा० विना। ६-भेदाः सन्मात्रस्य-भां० मां० विना। ७ शक्याः भां० मां० विना। ८-न परि-आ० हा० वि०। ९-गतमु-भां० मां०। १० वस्तुस्वरू-भां० मां०। ११-थाप्युप-आ० हा० वि०।-थाभ्युप-वा० बा०। १२-णी वाध्य-वि० विना। १३-मात्रमिति स्थि-भां० मां० विना। १४-णस्याप-भां० मां०। १५ क्षणाभेदः स चाध्य-वा० बा०। क्षणभेदा वाध्य-आ०। क्षणभेदात् स चाध्य-हा० वि०। १६-या गृ-वा० बा०। १७ भावो भेदव्यपदेशभाग् न भ-आ०। १८ पूर्वंदृ-भां० मां०। १९ तु भेदमर्थानां प्र-भां० मां०। २०-ते अभेदेन न तत्रा-भां० मां०।-ते भेदेन न तत्रा-आ० हा० वि०। २१-भावय-भां० मां० विना।

भासि? न च वर्त्तमानाध्यक्षेण प्रतिभाति वस्तुनि अतीतादिकालसम्बन्धिताधिगमं विना तदभेदावगमः सम्भवति, न चाध्यक्षं पूर्वाऽपरसमयसमन्वयमर्थसत्त्वम्–अविषयत्वात्–अधिगन्तुमक्षममिति न तद् उद्भासयतीति सन्देह एव तत्र युक्तः नासत्त्वमिति वक्तव्यम्, यत उभयावलम्बी सन्देह उभयदर्शने सत्युपजायते यथा ऊर्ध(र्ध्व)तावगमात् पूर्वदृष्टौ एव स्थाणु–पुरुषौ परामृशत्(न्) सन्देहः प्रतिभाति, न च कालान्तरस्थायित्वं कदाचिदप्यवगतम्, तत् कुतस्तत्र सन्देहः? यः पुनर्भवतां 'कालान्तरस्थायी' इति सन्देहः स सदृशापराऽपरार्थक्रियाकारिपदार्थान् संस्पृशति, 'ते च तथा क्वचिद् दृष्टाः क्वचिन्न' इत्युभयावलम्बी सन्देहो युक्तस्तत्र। इति यत् प्रतिभाति तत् सकलं क्षणान्तरस्थितिविरहितमिति पदार्थानां सिद्धः क्षणभेदः। अथ ध्वंसहेतुसन्निधिविकलोऽध्यक्षगोचरातिक्रान्तोऽपि पदार्थस्तिष्ठतीति कथं क्षणभेदः? तथाहि–यद्यपि अध्यक्षोदयो न पूर्वापरकालसंस्पर्शी तथापि तस्यैव तत्रापि सामर्थ्यान्न क्षणाभेदग्राहित्वम् तदभावस्तु नाभ्युपगन्तुं युक्तः न हि ग्रहणाभावादेव अर्था न सन्ति अतिप्रसङ्गात्, असदेतत्, यतः 'किं स्थिरमस्थिरतया वस्तु अक्षजे प्रतिभासे प्रतिभाति उताऽस्थिरम्' इति सन्देह एव युक्तः। अपि च, स्थिरमूर्तिर्यद्यसौ भावः कथमस्थिरतया दृक्प्रभवे दर्शनेऽवभासेत? नहि शुक्लं वस्तु पीततया परिस्फुटेऽदुष्टाक्षजे प्रत्यये प्रतिभाति तयोः परस्परविरोधात्। एवं न स्थिरमस्थिरतया परिस्फुटदर्शने प्रतिभासेत तोऽ(अतोऽ)स्थिरतया प्रतिभासनादध्यक्षगृहीत एव क्षणभेदो भावानाम्। न चापेक्षितहेतुसन्निधिर्भावानां विनाशस्तदभावे न भवतीति 'स्थायिनो भावाः' इति वक्तुं युक्तम्, यतो न नाशहेतुस्तेषां सम्भवति अदर्शनस्यैवाभावरूपत्वात्। आह च–"अनुपलब्धिरसत्ता" [ ] इति। प्रतिभासमाने च पुरोव्यवस्थिते वस्तुनि पूर्वापररूपयोरदर्शनमस्तीति कथं ध्वंसस्य मुद्गरादिहेतुत्वम् मुद्गराद्यन्तरेणाप्यदर्शनस्य सम्भवात्? न च तदानीमदर्शनमेव नाभाव इति, मुद्गरव्यापारानन्तरं तु घटादेरभावः नादर्शनमात्रम्। यतः कोऽयमभावो नाम–अस्तमयः, अर्थक्रियाविरहो वा? यद्यस्तमयः तदा पर्यायभेद एव 'अदर्शनम्' 'अभावः' इति। अर्थक्रियाविरहोऽप्यभाव एव, स च परिदृश्यमानस्य 'नास्ति' इत्यदर्शनयोग्य एव विद्यते। तथा चादर्शनमेवाभावः भावादर्शनस्वरूपो नाशः मुद्गरादिव्यापारात् प्रागपि भावस्यास्तीति न तज्जन्यो ध्वंस इति 'अदृश्यमानोऽप्यस्ति' इति विरुद्धमभिहितं स्यात्। यदपि 'मुद्गरपातानन्तरमदर्शने न पुनः केनचिद् दृश्यते घटादिः अक्षव्यापाराभावे तु नरान्तरदर्शने प्रतिभाति तथा स्वयमप्यक्षव्यापारे पुनरुपलभ्यते मुद्गरव्यापारवेलायां तु चक्षुरुन्मीलनेऽपि न स्वयम् पुरुषान्तरेण वा गृह्यत इति तदेव तस्य नाशः' इति, तदप्यसङ्गतम्; यतः पुनर्दर्शनं किं पूर्वदृष्टस्य, उतान्यस्येति कल्पनाद्वयम्। यदि पूर्वाधिगतस्यैवोत्तरकालदर्शनम् तदा सिद्ध्यत्यभेदः किन्तु 'तस्यैवोत्तरदर्शनम्' इत्यत्र न प्रमाणमस्ति। अथापरस्य दर्शनम् न तर्ह्यभेदः। अथ यदनवरतमविच्छेदेन ग्रहणं तदेव स्थायित्वग्रहणम्; नन्वविच्छेददर्शनं नामानन्यदर्शनम् तच्चासिद्धम्, परस्पराऽसङ्घटितवर्त्तमानसमयसम्बद्धपदार्थप्रतिभासनात्। अथ वर्तमानदर्शने पूर्वरूपग्रहणम्; ननु न प्रत्यक्षेण पूर्वरूपग्रहणम् तत्र वर्त्तमाने ग्रहणप्रवृत्तस्य तस्य पूर्वत्राऽप्रवर्तनात्। न चाऽप्रवर्त्तमानं तत् तत्र तदविच्छेदं स्वावभासिनोऽवगमयितुं समर्थम् येन नित्यताधिगतिर्भवेत्। वर्तमानग्रहणपर्यवसितं ह्यध्यक्षं तत्कालार्थपरिच्छेदकमेव, न पूर्वाऽपरयोस्तेन एकताऽधिगन्तुं शक्या। न स्मृतिरेव पूर्वरूपतां तत्र सङ्घटयति, सा च स्वग्रहणपर्यवसितव्यापारत्वाद् बहिरर्थमनुद्भासयन्ती न पूर्वापरयोस्तत्त्वसङ्घटनक्षमा। तन्न निरन्तरदर्शनेऽप्यभेदावगतिरध्यक्षतः। न च पूर्वाऽपरदर्शनयोरभेदप्रतिपत्ताव[13]सामर्थे(र्थ्ये)ऽप्यात्मा वर्तमानसमयसङ्गतस्य पूर्वकालतामधिगच्छति, दर्शनरहितस्य स्वापाद्यवस्थास्विव तस्याप्यभेदप्रतिप[14]त्तिसामर्थ्यविकलत्वात्। प्रत्यक्षा च संविद् न पूर्वापरयोर्वर्त्तते तदप्रवृत्तौ चानुमानमपि न तत्र प्रवर्तितुमुत्सहते, स्मरणस्य च प्रामाण्यमतिप्रसङ्गतोऽनुपपन्नमिति नात्मापि स्थायितामधिगच्छति। न चात्मनोऽप्यात्मा कालान्तरानुगतिमवगमयति, वर्तमानकालपरिगतस्यैव परिस्फु-

---

१–ध्यक्षे प्र–वा० बा० विना। २–यथार्थता–बा० वा० विना। ३ पूर्वं दृ–आ०। ४–न्तरास्था–भा० मा० विना। ५–दृ० सद–भा० मा० विना। ६–न्ति इति प्र–भा० मा० विना। ७–र्यायाभेद–भां० मा० विना। ८–ति तज्ज–आ० हा० वि०। ९–ति वदता ध्वंश्रस्तीति विरुद्ध–भा० मा०। १०–केचि–आ० हा० वि० बा० वा०। ११ तु दर्श–आ० हा० वि०। १२–स्तत्वनसं–आ० हा० वि०। १३–वसामर्थ्योऽप्या–बा०वा०। १४–पत्यसा–भा० मा०।

ष्टरूपतया तस्यापि प्रतिभासनात्। न च स्वसंविदेव आत्मनः स्थायितामुद्भासयति, अतीताऽनागतसकलदशावेदनप्रसक्तेः अतीताऽनागतजन्मपरम्परापरिच्छेदः स्यात्। न चातीताऽनागतावस्था तत्संवेदने[3] न प्रतिभाति तत्सम्बन्धी तु पुमांस्तत्रावभासत इति वक्तुं क्षमम्, यतस्तदवस्थाऽनवगमे तद्व्यापितया तस्याप्यनवगमात्। वर्तमानदशा हि स्वसंवेदने प्रतिभातीति तत्परिच्छन्नमेवात्मस्वरूपं तद्विषयः भूत-भाविदशानां तु तत्राप्रतिभासने तद्ग(द्गत)त्वेनात्मनोऽप्यप्रतिभासनमिति न स्वसंवेदनादपि तदभेदप्रतिपत्तिः।

अथ प्रत्यभिज्ञा पदार्थानां स्थायितालक्षणमभेदमवगमयति। ननु केयं प्रत्यभिज्ञा? अथ 'स एवायम्' इति निर्णयः; नन्वयमपि प्रत्यक्षम् अनुमानं वा? न तावत् प्रत्यक्षम्, विकल्परूपत्वात्। नाप्यनुमानम्, अवगतप्रतिबन्धलिङ्गानुद्भूतत्वात्। न चाक्षव्यापारे सति 'स एवायम्' इति पूर्वापरतामुल्लिखन्[5] प्रत्ययः समुपजायत इति कथं नाक्षजः इति वक्तव्यम्, अक्षाणां पौर्वापर्येऽप्रवृत्तेः—पूर्वापरसम्बन्धविकले वर्तमानमात्रेऽर्थेऽक्षं प्रवर्त्तत इति तदनुसार्यपि दर्शनं तत्रैव प्रवृत्तिमत् नातीताऽनागतयोरिति न ततस्तच्छेदनम्। न च 'पूर्वदृष्टमिदं पश्यामि' इत्यध्यवसायादतीतसमयपरिव्यक्तभाववेदनमिति युक्तम्, यतः 'वर्तमानमेव पश्यामि' इत्युल्लेखस्तत्र स्यात् दर्शने तस्य प्रतिभासनात् पूर्वरूपता तु न तत्र प्रतिभातीति—कथमध्यक्षोल्लेखं बिभर्ति? इति—न तदवसेया भवेत्। यदि तु पूर्वरूपताऽपि तदवसेया तदा स्मृतिमन्तरेणापि प्रतिभासताम् यतो न पूर्वरूपतैव स्मृतिमपेक्षते न वर्तमानतेति वक्तुं क्षमम् तयोरभेदात्। यदि पूर्वता-वर्तमानतयोर्भेदो भवेत् तदा वर्तमानतावभासेऽपि पूर्वरूपता न प्रतिभाता इति स्वप्रतिपत्तौ सा स्मृत्यपेक्षा भवेत्। यदा तु यदेव वर्तमानं तदेव पूर्वरूपम् तदा तद्दर्शने तदपि दृष्टमिति न स्मरणं फलवत् तत्र स्यात्—नहि दृश्यमाने स्मृतिः फलवती, स्मृतिर्हि व्यवहारप्रवर्तकत्वेन सप्रयोजना, दृश्यमाने चार्थे दर्शनमेव व्यवहारमुपरचयतीति किं तत्र स्मृत्या? न च पूर्वरूपता अध्यक्षे न प्रतिभासत इति स्मृतिस्तत्र सार्थिका; यतः पूर्वरूपताया अध्यक्षाप्रतिभासे सद्भाव एव न सिद्ध्येत्, सद्भावे वा कथं तत्र साधनं (सा न) प्रतिभासेत? अपि च, इदानीन्तनाक्षजप्रत्ययावभासिनी यदि न पूर्वरूपता स्मृतिरपि कथं तामवभासयितुं क्षमा दर्शनविषयीकृत एव हि रूपे स्मृतेः प्रवृत्त्युपलम्भात्? पूर्वरूपता तु सती अपि नेदानीन्तनदर्शनावभातेति न स्मृतिगोचरमुपगन्तुमीशेति[10] न दृष्टमात्रमेव स्मृतिपथमुपयाति। अथ पूर्वदर्शनेन पूर्वरूपता विषयीकृतेति स्मृतिरपि तां परामृशति, असदेतत्; पूर्वरूपतायाः पूर्वदर्शनेनाप्यपरिच्छेदात्, यतः सकलमेवाध्यक्षं वर्तमानमात्रावभासं परिस्फुटं संवेद्यत इति वर्तमानतामात्रमध्यक्षविषयः। ननु यदि पूर्वरूपता नाध्यक्षगोचरः कथं स्मर्यते? न ह्यदृष्टे स्मृतिरुपपन्ना, नैतत्; दृष्टमेव हि सकलं नीलादिकं स्मृतिरुल्लिखति स्मर्यमाणं स्फुटं चाकारमपहाय नान्या काचित् पूर्वरूपता स्मृतौ भाति अन्यत्र वा संवेदने, केवलं स्मर्यमाणोऽर्थः 'पूर्वः' इति नाममात्रमनुभवति वर्तमानमपेक्ष(क्ष्य) 'पूर्वः' इति नाममात्रकरणात्। न च यथा स्फुटाध्यक्षप्रतिभासिन्यपि क्षणभेदे तत्र व्यवहारप्रवर्तकमनुमानं फलवत् तथा पूर्वरूपे दृश्यमानेऽपि वर्तमानदर्शने तत्र व्यवहारकारितया स्मृतिः फलवतीति वक्तुं युक्तम्, यतो विद्युदादावध्यक्षेऽपि प्रतिक्षणं त्रुट्यत्प्रतिभासोऽनुभूयते पूर्वरूपता तु स्मृतिमन्तरेण न क्वचित् प्रतिभाति येन क्षणिकत्ववदनुभवविषयत्वेऽपि प्रतिक्षणं स्मृतिर्व्यवहारमुपरचयन्ती तत्र सफला भवेत्। किञ्च, वर्तमानवस्तुनि दर्शनाद् यदि पूर्वरूपतायां स्मृतिर्भवेत् भाविरूपतायामपि भवेत् अभेदात्। तथाहि—भिन्नवस्तुनि तस्योपलम्भो नास्तीति तत्र स्मृतिर्न भवेदिति युक्तम्, अभिन्ने तु पूर्वरूपतेव भाविरूपता दर्शनेनाऽनुभूतेति पूर्वरूपतायामिव मरणावधिसकलभाविरूपतायामपि स्मृतिर्भवन्ती केन वार्येत अभेदेनानुभूतत्वाविशेषात्? न च पूर्वमनुभूतमपि पुनर्दर्शनोदये स्मृतिपथमुपयातीति पुनर्दर्शनसङ्गतं स्मृतिहेतुः, पूर्वदृष्टे गिरिशिखरादाविदानीमनुभवाभावेऽपि स्मृतेरुदयदर्शनात्। यदि पुनः स्मृतिरिदानीन्तना-

---

१-त्मनि स्था-भां० मां०। २-स्थास्तत्सं-भां० मा० विना। ३-ने प्र-वा० बा०। ४-मानमनव-आ०। ५-रमु-भा० मां० वा० बा०। ६-णां पूर्वा-भां० मा० वा० बा०। ७ यतो वर्तमानता स्मृतिमपेक्षते स्वप्रतीतौ नेदानींतनुरूपतेति वक्तुम् भा० मां०। यतो न वर्तमानता स्मृतिमपेक्षा न च पूर्वरूपतैव स्मृतिमपेक्षते इति वक्तुम् वा० बा०। ८ सा च न प्रतिभासेवापि च वा० बा०। ९ स्मृतिप्र-भा० मा०। १०-ति इ-वा० बा०। ११-नपेक्ष-आ०। १२ दर्शनानु-आ०।

नुभवाभावेऽप्युपजायते तर्हि भाविदर्शनपरिगतेऽपीदानीन्तनदृक्संस्पर्शभाजि स्मृतिरुदीयताम्। अथापि पूर्वरूपता पूर्वमनुभूतेति इदानीन्तनदर्शनाभावेऽपि पूर्वतामात्रे स्मृत्युदयः, नन्वेवं पूर्वतामात्रमेव पूर्वदर्शनावगतम् नेदानीन्तनरूपव्यापितयापि तद् अवगतं स्यात्। तन्न पूर्वाऽपररूपतयोरेकतावगमः सिद्धः। न च पुनर्दर्शने सति 'स एवायं मया यः प्राक् परिदृष्टः' इति प्रतिपत्तेरभेदावगमः पूर्वाऽपरयोः यतः पूर्वाऽपराभ्यां प्रत्ययाभ्यां न पूर्वापररूपग्रहणम् सर्वस्य स्वकालावधिपदार्थस्वरूपग्राहकत्वाद् दर्शनस्य। न च तत्कालभाविस्वरूपं पूर्वं परं वा भवितुमर्हति, साम्प्रतिकरूपव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः। न च 'साम्प्रतिकरूपं पूर्वं मया परिदृष्टम्' इति निश्चयो युक्तः तस्य वैतथ्यप्रसङ्गात्। नन्वेवं पूर्वरूपता वर्त्तमाने रूपे कथमवसीयते 'इदं मया पूर्वं दृष्टम्' इति भेदसद्भावात्? तर्ह्यभेदेऽपि कथं वर्त्तमानस्य रूपस्य पूर्वदृष्टताऽवगमः? पूर्वदृष्टत्वात् इति न वक्तव्यम्; यतो दृष्टता पूर्वदर्शनगोचरीकृतं रूपम् तद्दर्शनं चेदानीमतीततयाऽसत् तद्दृष्टताप्युपरतेति नाऽसती वर्तमानदर्शनपथमवतरतीति। न च तद्दर्शने प्रच्युते तद्दृश्यमानताप्युपरतेति न सा साम्प्रतिकदर्शनावसेया, दृष्टता तूत्पन्नेति वर्तमानदर्शनावसेया, यतो यदि दृष्टता पदार्थानां तदात्वे सन्निहिता तदा यथा नीलता सन्निहिता तदानीमनुत्पन्नेऽपि पूर्वदर्शने प्रतिभाति तथा दृष्टतापि सकलतनुभृतामनुत्पन्नेऽपि पूर्वदर्शने स्फुटवपुषि दर्शने प्रतिभासताम् न किञ्चित् पूर्वदर्शनस्मरणेन? एवं च येनाप्यसावर्थः पूर्वान्नावगतः सोऽपि दृष्टतामवगच्छेत्। ततो 'नीलादिकमेतत्' इति पश्यति 'पूर्वदृष्टम्' इत्येतच्च स्मरणादध्यवस्यति न तु 'पूर्वदृष्टमेतत्' इत्येका प्रतीतिः। ननु 'इदं प्रतिभासमानमतीतसमये मया दृष्टम्' इत्येवं स्मृतिरनुभूयते न च पूर्वदृष्टताऽनुभवव्यतिरेकेण दृश्यमानस्य स्मृतिः सम्भवत्येवमाकारा, असदेतत्; यतो 'दृष्टम्' इति मतिः स्मृतिरूपमासादयन्ती तत्कालावधि दर्शनविषयमध्यवस्यन्ती लक्ष्यते न नु (न तु) वर्तमानकालपरिगतमर्थस्वरूपमधिगच्छति, वर्तमानकालतां तु दर्शनमनुभवति पूर्वरूपासङ्गतामिति न काचित् प्रतिपत्तिरस्ति या वर्तमानं 'पूर्वं दृष्टम्' इत्यवगच्छति। तन्न प्रत्यभिज्ञाऽपि पूर्वापरयोरभेदमधिगन्तुं समर्था।

अथ असद्दर्शनविरतावप्युपलभ्यते वज्रोपलादिरर्थो नरान्तरेणेत्यभिन्नः, नैतत् सारम्, मद्दर्शनानु(नाप)गमे नैरन्तर्यदर्शनमवतरतीति नात्र किञ्चित् प्रमाणमस्ति। तथाहि–न प्रत्यक्षं परदृग्गोचरमर्थमवगमयितुमलम् परदृशोऽनवगमात्, तदनवगमे च तत्प्रतिभासितत्वस्याप्यनवगतेः। न च तद्विषयव्यवहारदर्शनात् परोऽपि 'इदमर्थजातं पश्यति' इत्यनुमानात् परदृष्टतां स्वदर्शनविषयस्य प्रतिपद्यते जनः अनुमानेनाभेदाऽप्रतिपत्तेः। तद्धि सदृशव्यवहारदर्शनादुदयमासादयत् स्वदृष्टतुल्यतां परदृग्विषयस्यावगन्तुमीशं न पुनरभेदम्, यथा धूमान्तरदर्शनादुद्भवन्त्यनुमितिः पूर्वदहनसदृशं दहनान्तरमध्यवस्यति न पुनस्तमेव दहनविशेषम् सामान्येनान्वयपरिच्छेदात्। यदि पुनः सदृशव्यवहारदर्शनात् स्व-परदृष्टस्याभेदावगमस्तदा रोमाञ्चलक्षणतुल्यकार्यदर्शनात् स्व-परसु(सु)खाभेदानुमितिप्रसक्तिः। अथ पुलकोद्गमादौ तुल्येऽपि सन्तानभेदात् भेदः स्व-परस्थप्रीतेः, ननु सन्ततेरपि कुतो भेदः? यद्यपरसन्ततिभेदात् तदाऽनवस्था। अथ स्वभावभेदात् सन्तानभेदः तथा सति सुखमपि स्वरूपभेदाद् भिद्यताम्, यथा च स्वरूपभेदात् स्व–परसन्ततिवर्तिनः सुखस्य भेदः तथा कालभेदात् स्व-परदृष्टस्यार्थस्य किं न भेदः? न च परस्परपरिहारेणोपलम्भप्रवृत्तेः स्व-परसन्ततिवर्तिन्याः प्रीतेर्भेदः, अर्थस्यापि स्व-परदृष्टस्याऽयुगपदन्योन्यपरिहारेणोपलम्भप्रवृत्तेर्भेदप्रसक्तेः। यतो यदा स्वदृग्गोचरचारी न तदा परदृशि प्रतिभाति यदा चोत्तरसमये परसंवेदनमवतरति न तदा स्वसंवेदनमिति कथं न भेदः? अतो विच्छिन्नदर्शनस्यार्थस्य पुनर्दर्शने दलितोद्गतनखशिखरदर्शन

१ पूर्वरूपता–भा० मा०। २–स्य च तत्–भा० मा० विना। ३ पूर्वप–आ० हा० वि०। ४ पूर्वदृ–भा० मा० विना। ५–ष्टत्वादिति दर्श–आ० हा० वि०। ६ प्रच्यवते आ०। ७–ति न साम्प्र–वा० बा०।–ति ता साम्प्र–हा० वि०।–ति साम्प्र–आ०। ८–रणेनैवं वा ये–भा०। ९–तस्वस–वा० बा०। १० न नु भां० मा० हा० विना। ११ नत्विदं प्रतीभा–वि०। नत्विदं प्रतीतिभा–भा० मा०। १२–क्ष्यते तनु च–हा०। १३ सार मद्दर्शनानुगमे च न–हा० वि०। १४ नगरा–भा० मा०। १५ दृष्टगो–भा० मा०। १६–गमे तत्–आ० हा० वि०। १७–षते यथो नु–वा० बा०। १८–यत् तद्दृष्ट–आ० हा० वि०। १९–र्शनाद् भ–आ० हा० वि०। २०–हनं वि–भां० मा० विना। २१–नः सादृश्यव्य–भा० मा०। २२–पि समान–भा० मा० विना। २३–स्यतातेः वा० बा०।–स्यप्रतेः हा० वि०।–स्यर्थतेः आ०। २४ यथा स्व–भा० मा० वा०।

इथ प्रतिभासभेदाद् भेदः। प्रत्यभिज्ञा त्वभेदाध्यवसायिनी प्रतिभासभेदेन बाध्यमाना लूनपुनर्जातकेशादिष्विव भ्रान्तेति न तत्प्रतिपाद्योऽभेदः पारमार्थिकः। न च यत्राऽविच्छिन्नं दर्शनं बहिरर्थमवतरति तत्र प्रतिभासभेदाभावात् कथं पौर्वापर्या(र्य)भेदावगम इति वक्तव्यम्, यतः प्रतिभासमानतैव पदार्थानां सत्ता। यदाह—"उपलब्धिः सत्ता सा चोपलभ्यमानवस्तुयोग्यता तदाश्रया वा ज्ञानवृत्तिः" [ ] इति। तत्र यदि क्षणिकं दर्शनम् तथासति तत्र स्फुटप्रतिभासस्यार्थस्य क्षणभेद एवाऽवभाति न क्षणाभेदावगमः। यतः क्षणिकं दर्शनं स्वकालमर्थमवगन्तुं क्षमम् न कालान्तरपरिष्वक्तम्, तस्य तदानीमभावात्। न हि यदा यन्नास्ति तदा तत् तत्कालमर्थमवगच्छति, सकलातीतपदार्थग्रहणप्रसङ्गात्। अतोऽविच्छिन्नदर्शनेऽपि प्रतिफलमपरापरज्ञानप्रसवैरवगतस्याप्यर्थस्य भेदः। न च दृगेव प्रतिक्षणमपरापरा अर्थवस्त्व(र्थस्त्व)भिन्न एवेति वक्तव्यम्, दृग्भेदादेव दृश्यमानस्यार्थस्य भेदसिद्धेः। तथाहि–यदैका दृक् स्वकालावधिमर्थगत्तां वेत्ति न तदा परा यदा चापरोत्तरकालमर्थमवगमयति न तदा पूर्वेति न तत्प्रतिभासितत्वम्—यतो वर्तमानसंविदस्तीति तदुपलभ्यमानतैवास्तु न तु पूर्वदृगुपलभ्यमानता—अतश्चोपलम्भभेदादुपलभ्यमानताभेदः। न च पूर्वाऽपरदर्शनोपलभ्यमानता भिन्नैव उपलभ्यमानं तु रूपमभिन्नम्, यतो यदा पूर्वोपलभ्यमानतायुक्तोऽर्थः प्रतिभाति न तदोत्तरोपलभ्यमानतासङ्गतः, यदा चोत्तरोपलभ्यमानतां(त)या परिगतो वेद्यते न तदा पूर्वोपलभ्यमानतयेति कथं पूर्वापरोपलम्भोपलभ्यमानस्य रूपस्य न भेदः? न चोपलभ्यमानताऽतिरिक्तमुपलभ्यमानं रूपमस्ति, तथाऽननुभवात्। अतः कथं नोपलभ्यमानताभेदादपि तद्भेदः? तत् स्थितमविच्छिन्नविशददर्शनपरम्परायामपि प्रतिक्षणमर्थभेदः। प्रत्यभिज्ञानात्तत्त्व(नात् त्व)भेदोऽध्यारोप्यमाणो दलितपुनरुदितनखशिखरादिष्विव प्रतिभासभेदेनापाक्रियमाणो न वास्तवः। न चापरापरसंविन्मात्रव्यतिरिक्तार्थाभिन्नात्मनोऽभावे क्रमवत्संवेदनाभावादर्थक्रमस्याप्यभाव इति, यतोऽनेकत्वे सति यथा पूर्वाऽपरयोरपत्ययोः क्रमस्तथा दर्शनयोरप्यनेकत्वमस्तीति कथं न क्रमः? न चानेकत्वं न प्रतीतिविषयः एकत्वप्रतिभासाभावप्रतिभासस्यानेकत्वप्रतिभासरूपत्वात् तस्य च संवेदनसिद्धत्वात्। न च कालमन्तरेण पौर्वापर्याभावादनेकत्वमात्रमवशिष्यत इति कथं क्रम इति वक्तुं युक्तम्, यतो भेदाविशेषेऽपि दृश्यमानस्मर्यमाणतया पौर्वापर्यसद्भावात् क्रमसङ्गतिरविरुद्धैव। यद्वा हेतुसन्निधानाऽसन्निधानाभ्यां क्रमः कार्याणाम् तत्सन्निधानाऽसन्निधानेऽपि हेतुसन्निधानाऽसन्निधानात् इत्यनादिर्हेतुपरम्परा अतस्तत्स्वभावविशेष एव क्रम इति न किञ्चित् कालेन तस्याप्यन्यकालापेक्षे क्रमेऽनवस्था, स्वतः क्रमे पदार्थानामपि स स्वत एव युक्तः। तदेवं क्रमेणोपलभ्यमानमपरापरस्वभावमिति सिद्धः स्वभावभेदः। न च क्षणिकेऽपि संवेदने युगपत् पदार्थजातं प्रतिभाति न क्रमेणेति न क्षणभेदः यतोऽनेकक्षणस्थितिः कालाभेदलक्षणं नित्यत्वमुच्यते, न चानेकक्षणस्थितिर्युगपदवभाति, यतो यदैका क्षणस्थितिरवभासते यदि तदैव द्वितीयक्षणस्थितिरपि तद्विविक्ता प्रतिभाति तथासति क्षणद्वयस्य परस्परविविक्तस्य युगपत् प्रतिभासनात् कथं नित्यतालक्षणः कालाभेदः? अथ तद्व्यव्यतिरिक्ता क्षणान्तरस्थितिः प्रतिभासते, तत्राप्याद्यक्षणस्थितिरूपतया वा द्वितीया प्रतिभाति, यद्वा द्वितीयक्षणस्थितिरूपतया आद्यक्षणस्थितिरिति कल्पनाद्वयम्। तत्राद्ये पक्षे प्रथमक्षणस्थितिरेव प्रतिभातीति न पूर्वापरक्षणाभेदः। द्वितीयेऽपि विकल्पे क्षणान्तरस्थितिरेव प्रतिभाति नाद्यक्षणस्थितिप्रतिपत्तिर्भवेत्। अथैकक्षणस्थितिर्नावभाति सर्वदा स्थितेरवभासनात्, नन्वेकक्षणस्थितिप्रतिपत्त्यभावे कथमनेकक्षणस्थितिसङ्गतरूपप्रतिपत्तिरिति क्षणिके दर्शने क्षणावस्थानमेव प्रतिभातीति तदेव सदनु(दस्तु) न कालान्तरस्थि-

---

१ यत्र वि–भा० मा०। २–च्छिन्नं च द–वा० वा० हा० वि०। ३ अतो वि–आ० हा० वि०। ४–तिसकलपरा–आ० हा० वि०।–तिकमलपरापरप्रभवैरव–वा० वा०। ५–वधिसर्वसत्तां आ० हा० वि०। ६–सितम् वा० वा०। ७–नताभे–आ० हा० वि०।–नताऽतस्चोपलम्भभेदादुपलभ्यमानभे–वा० वा०। ८–तापरि–भां० मां० विना। ९–तो विद्य–आ० हा० वि०। १०–परोपलभ्यमानस्य वा० वा०। ११–मानरू–आ० हा० वि०। १२–स्ति यथाऽनुभ–वा० वा०। १३–ज्ञाततत्त्वभेदाध्या–आ० हा० वि०। १४–न चापरसं–वा० वा० भा०। १५–त्मनोऽविक्र–भां० मां० विना। १६–चादेकत्व–आ० हा० वि०। १७–तस्तत्सद्भा–आ० हा० वि०। १८–तदैव क्र–हा० वि०। तथैवं क्र–वा० वा०। १९–क्षणिकेस्य सं–भा० मा०। २० तद्व्यति–हा०। तद्व्यति–वा० वा०। २१–स्थितिरेव–वा० वा० विना। २२–सद न भा० मा०। सद न आ० हा० वि०।

तिः । अथापि स्यात् न क्षणिकं दर्शनम्—येन तद्भेदात् तद्ग्राह्यस्यापि भेदः—किन्तु तदपि कालान्तर स्थितिमत् कालान्तरानुपक्तमर्थमवगमयति, असदेतत्; यतः स्थिरं दर्शनमनेककालतां युगपदवभास यति, आहोस्वित् क्रमेणेति ? तत्र न तावद् युगपदवभासयति । तथाहि—यदा दर्शनं घटिकाद्वयारम्भपरि गतमर्थमनुभवति न तदैव तदवभासनसम्बन्धिनम्, तदनुभवे च तस्य वर्तमानतापत्तेर्न कालान्तरता यदि च प्रथमदर्शनमेव भाविरूपतामवगच्छति तथासति ग्रहणविरतौ किमिति न जानाति 'पदार्थ स्तिष्ठति' इति ? न च तदा ग्रहणमुपरतमिति नावगच्छति, यतः तदर्थग्रहणमुदितमिति कथमसत् अथ पूर्वमुदितं तद् ऽधुना प्रच्युतमिति न गृह्णाति ननु तदा ग्रहणाभावे कथं तत्कालत्वं परिगृहीत भवति ? अथ यदा दर्शनं विरमति न तदा तद्रूपं प्रतिभाति किन्तु यदा तदुदितं विद्यते तदा भावि रूपपरिच्छेदः, तदप्यसत्, यतस्तथापि तत्कालतैव तेन परिगृह्यते न भाविरूपम् असन्निहितत्वात् सन्निधाने वा भाविरूपतानुपपत्तेः । यदि हि तद् दर्शनकाले प्रतिभासमानमस्ति स्वरूपेण तथासति वर्तमानतैवेति तदपि प्रत्युत्पन्नम् न भाविरूपम्; भावित्वे वा तदाऽसन्निधेः कथमसत् प्रतिभाति यदि त्वसन्निहितमपि तद् भाति तथासति सकलभाविभावरूपपरम्परा प्रतिभासताम् इति धर्मा देरपि सर्वस्य भविष्यद्रूपस्य प्रतिपत्तिरस्तु । न च प्रतिभासमानाऽव्यतिरिक्तं भाविरूपमाभाति धर्मा दिकं तु तद्व्यतिरिक्तमिति न तद्ग्रहः, यतोऽत्रापि यदि भाविरूपं वर्तमानतया प्रतिभाति तथा सति वर्तमानमेव तद् इति कथं कालान्तरस्थायिता ? अथ वर्तमानं भाविरूपतया गृह्यते, नन्वे भाविरूपमेव तद् भवति न च वर्तमानं किञ्चिन्नाम, तथा चाऽवर्तमानमपि भाविरूपं वर्तमानतय प्रत्यक्षे प्रतिभातीति सर्वं दर्शनं विपरीतख्यातिर्भवेत्, ततो विशदतया यत् प्रतिभासते वस्तु स तद् वर्तमानमेवेति कथं स्थायितालक्षणः पौर्वापर्यभेदः ?

अथ क्रमेण कालान्तरस्थायि दर्शनं स्थायितां प्रत्येष्यति, नन्वेवमपि वर्तमानताप्रकाशकाले कालान्तरस्थितिर्न प्रतिभाति, तदवभासकाले तु न पूर्वकालताप्रतिपत्तिरिति परस्परासंस्पर्शिन दर्शनमवतरन्ती क्षणपरम्परैव स्यात् । यदि पूर्वरूपता सम्प्रति दर्शने प्रतिभाति तथासति प्रथममा गैतस्तावगच्छत् ( स्तामवगच्छेत् ) । न च तत्र पूर्वदर्शनं नोदितमिति सामग्र्यभावान्न तद्ग्रहणम् यतः पूर्वदर्शनासन्निधिस्तदा निरन्तरदर्शनेऽपि समान इति कथमभेदग्रहणं प्रति सहकारी ? अथ निरन्तरदर्शिनः 'तदेवं( व ) दर्शनम्' इत्यभेदप्रतिपत्तिर्भविष्यति, ननु यदि नाम तदेव द तथापि तत् प्रतिभातं पूर्वम् अधुना न प्रतिभाति । तथाहि-दृश्यमानाद् रूपात् ताद्रूप्यं भिन्नमा भाति, अभिन्नं वा इति कल्पनाद्वयम् । यदि भिन्नम् तदा न तद्रूपाऽभेदः । अथाभिन्नं भाति, तत् दृश्यमानतया वा पूर्वरूपम्, पूर्वरूपतया वा दृश्यमानं भातीति वक्तव्यम् । तत्र यदि पूर्वरूपतो(त) या दृश्यमानं प्रतिभाति तथासति पूर्वरूपानुभव एव. न वर्तमानरूपाधिगतिरिति सर्वोऽप्यर्थमति स्मृतिरूपतामासादयेत् । अथ दृश्यमानतया पूर्वरूपाधिगतिः तत्रापि स्फुटमनुभूयमानमेव रूपम् पूर्वरूपता, न हि सा तिरोहिताऽप्रतिभासमानमूर्तिरस्तीति शक्यं वक्तुम्, यदेव हि तत्र दृशि त भाति वर्तमानं रूपं तदेव सद् युक्तम् ।

न च पूर्वरूपताऽपि तत्र भात्येवेति वक्तव्यम् यतः सा किं तस्यामेव दृशि प्रतिबद्धा प्रतिभा यद्वा पूर्वस्याम्, अथ स्मृतौ इति कल्पनात्रयम् । तत्राद्यकल्पनायां पूर्वरूपतामसन्निहितामा दृग् अनृता भवेत् । अथ पूर्वकालता सन्निहितैव; नन्वेवंसति सापि सन्निहिता तत्र वर्तमानेव भवेत् नातीतो( ता ), तथा च न पूर्वापररूपभेदं( दः ) यदि तत् स्मरणाध्यक्षं रूपं द वर्तमानरूपता( तां ) पूर्वरूपतां च पदार्थस्य प्रत्येति तथासति सन्निहितासन्निहितस्वरूपग्राहि संवि द्वयं परस्परभिन्नं भवेत् । तथाहि—वर्तमानतासाक्षात्कारि संवित्स्वरूपं न पूर्वरूपग्राहिस्वरू तया भाति, नापि पूर्वरूपतावेदकं साम्प्रतिकरूपसाक्षात्कारिरूपतया चकास्ति कथं न भेदः

१-रानुपक्त-आ० वि० ।-रानयुक्त-हा० । २-भासान-वा० बा० । ३-भवे त-भा० मा० विना० ४-कं तद्वय-भां० मां० वा० बा० विना । ५-सर्वद-भा० मा० । ६-प्रत्येति भां० मा० । गच्छेत्-वा० बा० विना । ८ अयानि-वा० बा० । ९ तदेदं द-वा० बा० । १० रूपात् ताद्रूपं भि-आ हा० वि० । रूपाद्रूपं भि-वि० । रूपताद्रूपं भि-वा० बा० । ११ तायां दृ-वा० बा० विना । १२-क्षमिति स्मृ-वा० बा० विना । १३ पूर्वता वा० बा० । १४ भवेन्नातीतैव बा० । १५ दर्शनव-वा० बा० आ विना । १६-पता पूर्वरूपता च पदा-आ० ।-पतामर्थरूपतां च पदा-भां० ।-पतां च पदा-वा० बा० ।

अन्यथासर्वत्र भेदोपरतिप्रसक्तिः? नापि द्वितीयकल्पना, यतः तत्रापि पूर्वदृगधुना नास्तीति कथमसती सा ग्राहिका भवेत्? अथ पूर्वं तया गृहीतमित्युच्यते तत्रापि किं वर्तमानं रूपं तया गृहीतम्, उतान्यत्? यद्यन्यत् कथमेकता? अथ तदेव, तत्रापि न प्रमाणमस्ति, पूर्वाऽपरदृशोरसंस्पर्शास्तु प्रतिभासभेदात् प्रतिभास्यमपि भिनत्ति। नापि तृतीया कल्पना, यतः स्मृतिरेव पूर्वरूपतां निरन्तरदर्शिनोऽवभासयति न दृगिति प्राप्तम्; तच्चेष्टमेव। तथाहि—यस्य स्मृतिर्नास्ति तदैवागतस्य, नासौ मासादिपरिगतमर्थमध्यवस्यति। ननु च स्मृतावपि पूर्वरूपता यदि चकास्ति तथापि सत्येव "उपलब्धिः सत्ता" [ ] इति वचनात्, असदेतत्; यतः स्मृतिरपि न वर्तमानकालपरिगतमवतरति तमनवतरन्ती च त(न त)दभिन्नं पूर्वं रूपमादर्शयितुं समर्थेति न साप्यभेदग्रहदक्षा। तस्मात् पूर्वदृगनुसारिणी स्मृतिरपि वर्तमानदृशो भिन्नविषयैव।

अथ 'तदेवेदम्' इति दर्शनसमानाधिकरणतया स्मृत्युत्पत्तेः पूर्वापराभिन्नार्थता; ननु किमिदं सामानाधिकरण्यम्? यदि दर्शन-स्मृत्योरभिन्नावभासिता, तदयुक्तम्; प्रतिभासभेदात्। तथाहि—दर्शनं स्फुटप्रतिभासं वर्तमानार्थविषयतयाऽवभाति, स्मरणमप्यस्पष्टप्रतिभासं बिभ्राणं परोक्षोल्लेखवदा(दाभा)ति तत् कथमेकः प्रतिभासः? प्रतिभासवभेदाव(भासनभेदे च) रूप-स्पर्शसंविदोरिव विषयभेदः, तेन एवैकत्वं न क्वचिदपि भातीति न वस्तु सत्। भवतु वा कल्पनोल्लेखविषयोऽभेदः तथापि प्रतिभासभेदान्नाभेद इत्युक्तम्।

अनेनैव न्यायेन दर्शनस्याप्यभेदो निषेद्धव्यः। तथाहि—दर्शनमपि निरस्तबहिरर्थप्रतिभासमात्मानमेवोद्द्योतयितुं समर्थम् तत्रैव पर्यवसितत्वात् न बहिरर्थम् नापि त(न)रान्तरसंवेदनम्; तदवेदने च न ततोऽभिन्नमात्मानमाख्यातुमलम्। न च ततो भेदावेदनमेवाभेदवेदनम् विपर्ययेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि—भेदवादिनाऽप्येतच्छक्यते वक्तुम्-अन्यतोऽभेदावेदनमेव भेदवेदनं संवेदनस्य। किञ्च, स्वसंवेदनेऽन्यानुद्भासनमेव ततो भेददर्शनम्। तथाहि—यद् यथा प्रतिभाति तत् तथाऽभ्युपगन्तव्यम्, यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तथैवाभ्युपगमविषयः बहिरर्थनरान्तरसंवेदनविविक्ततया च दर्शनं स्वसंवित्तौ प्रतिभातीति तथैव तद्व्यवहारविषयः अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। न च स्वदर्शनमेवाऽपरोक्षतया स्ववपुषि प्रतिभातीति तदेव सद्वस्तु परसंविदादयस्तु न निर्भान्ति कथं ता (ताः) सत्याः? कथं वा ततः स्वसंविदो भेदः? अनुमानेनापि न तासामधिपे(ग)तिः प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्रानुमानानवतारात् तदवतारेऽपि न तद् वस्तुसत्तां साधयितुं क्षमम् व्यवहारमात्रेणैव तस्य प्रामाण्यादिति वक्तव्यम्, यतो यदि स्वदर्शनं परदर्शनसंविदादौ(परसंविदादौ) न प्रवर्तते परसंवेदनमपि स्वदर्शनादौ न प्रवर्तत इति कथं स्वदर्शनस्यापि सत्यता? अथ स्वदर्शनमपरोक्षतया स्ववपुषि प्रतिभातीति सत्यम्; नन्वेवं परदर्शनमपि तथैव प्रतिभातीति कथं न सत्यम्? नहि स्वविषयं प्रतिभासमाबिभ्राणा भावा अन्यत्रान्यथा प्रतिभासमनवतरन्तः स्वरूपेणाप्यसन्तो नाम। यथा च परसंविदादीनामसत्यत्वे न ततः स्वदर्शनस्य भेदसिद्धिः तथाऽभेदस्यापीत्युक्तम्। परसंवेदने च प्रत्यक्षानवतारेऽप्यनुमानप्रवृत्तिरुपपन्नैव, स्वसन्ततौ निश्चितसंवेदनप्रतिबन्धव्यापारव्याहारादेर्लिङ्गस्य परसन्तताबुपलम्भात् परसंवेदनप्रसिद्धिरनुमान-

---

१-तीया क-मां०। २ पूर्वतया का०। ३-ता तथा तदे-मां०।-ता तथा तत्रा-मां०। ४-पि प्र-वा० वा०। ५-म् नवेष्ट-मा० मा०।-म् नन्वेष्ट-वा० वा०। ६-तदेवा-वा० वा०। ७-तरार्पित तमनव-मां० मां०। ८-दभिन्नं सर्वरू-वा० वा०।-दभिन्नपूर्वरू-आ० हा० वि०। ९ तदैवे-मा० मां०। तदेवसि-वा० वा०। १०-भास विभ्राण प-मां०। ११-खद। भाति वा० वा०। १२-भासेव भेदाव रूप-हा०।-भासे च भेदाच्च रूप-मां० मां० आ० वि०। १३ तत एव कत्वं-मां० मां० हा०। तत एकत्वं-वा० वा० श्रा०। १४ प्र० पृ० पं० ४। १५-पि ररा-वा० वा०। १६-दने च ततो-वा० वा०।-दने च नं ततो-हा० वि०।-दने व ने ततो मां० मां०। १७ किञ्चास्वे सं-वा० वा०। किञ्च स्वे सं-मां० मां०। १८ नीलनी-मां० मां० हा०। १९ बहिरर्थान्तरान्तर-वा० वा० विना। २०-भाति वा० वा० हा० वि०। २१-थं नास-कां०। २२-पत्तिः मां० मां०। २३ यदि स्वदर्शनं संविदादौ न प्र-मां० मां०। यदि परदर्शनं संविदादौ ननु वर्त-वा० वा०। यदि स्वदर्शनं परदर्शनसंविदादौ न प्र-कां०। य स्वदर्शनपरदर्शनं संविदादौ न प्र-आ०। २४-क्षया वा० वा० विना।-क्षया वपु-आ०। २५-वा अन्यथा वा० वा०। २६ स्वसंवित्तौ नि-वा० वा०। २७-दम-मां० कां० विना।

निबन्धना युक्तैव, अतिसूक्ष्मेक्षिकया सन्तानान्तरप्रतिपत्त्यभावाभ्युपगमे स्वसंविन्मात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः ज्ञानाद्वैतवादस्य दत्त एव जलाञ्जलिः। तदेवं संविदो देशाभेदो नावगन्तुं शक्यः।

नापि काल(ला)भेदोऽवगमार्हः। तथाहि—यदा संविद् वर्तमाना भाति तदा न पूर्विका; तदनवभासे च न तदपेक्षया 'अभिन्ना' इत्यवसातुं शक्या। अथ पूर्वसंवित्[2] स्मरणे प्रतिभातीति प्रकाशमान-स्मर्यमाणयोः संविदोरभेदावगमः, अयुक्तमेतत्; यतः स्मृतावपि संविद् वर्तमाना न [3]प्रथते[4] पूर्वदर्शनमेव(न एव) स्मृतेर्व्यापारात्। सा हि पूर्वदर्शनमेवाध्यवस्यन्ती प्रतिभातीति कथमप्रतिभासमानं वर्तमान[5]संवेदनं पूर्वसंविदाऽभिन्नमा(पूर्वसंविदात्मानमभिन्नमा)[6]दर्शयितुं प्रभुः? अपि च, स्मरणमपि स्वतत्त्वमुद्भासयत् तत्रैवोपरतव्यापारं प्रतिभाति, न तु तत्र पूर्वं दर्शनं स्वरूपेण चकास्ति प्रच्युतस्वरूपत्वात् तस्य। न चोपरतस्वरूपमपि पूर्वदर्शनं स्मृतौ प्रतिभातीति युक्तम् चकासतो रूपस्य स्मृतावपायात्। चकासद्रूपसम्भवे[7] च वर्तमानं तद् दर्शनं स्यात् नातीतम् यत इदमेवातीतस्यातीतत्वं यत् चकासद्रूपविरहः। [8]तथात्वाभ्युपगमे च न ग्रहणमिति कथमभेदावगमः? अथ [9]यदा स्मृतौ न पूर्वदर्शनावभासः तथासति प्रतिभासविरहात्[10] स्मृतिरेव स्वरूपेणाऽऽभाति, [11]सा च स्वरूपेणाभिन्नयोगक्षेमत्वादभिन्नेति कथं नाभेदप्रतिभासः? असदेतत्, अन्यानुप्रवे[12]शेन प्रतिभासे सति तदपेक्षयाऽभेदव्यवस्थितेः। यदा च स्मृतौ पूर्वदर्शनं नावभाति तदा तदपेक्षया कथं तस्याऽभेदावगतिः इति न कालाभेदोऽपि संविदः प्रत्येतुं शक्यः। भेदस्त्वेकस्मिन्नेव काले बहिर्नीलात्मा प्रतिभासमानवपुः अन्तश्च सुखादि[13]संवेदनं स्वप्रकाशतनु प्रतिभातीति कथं न प्रतीतिगोचरः? तथा, मधुर-शीतादिसंवेदनमनेकं स्वप्रकाशवपुर्युगपत् सर्वप्राणिनां प्रसिद्धमिति न तद्भेदः पराकर्तुं शक्यः यतः सुखादिसंवेदनमात्मनि पर्यवसितम्—तदात्मकत्वात्[14]—न नीलनिर्भासे[15]मवैति नीलनिर्भासोऽपि—अप्रत्यक्षनीलात्मकत्वात्—तत्रैव [16]परिनिष्ठित इति कथं परस्पररूपानवभासने सुख-नीलसंविदोर्न भेदावगतिः? अभेदो ह्यन्यापेक्ष इत्यन्यानवगमेऽवगन्तुमशक्यः भेदस्तु सकलान्यपदार्थव्यावृत्तभावस्वरूपः; सोऽन्यप्रतिभासरहित[17]स्वरूपप्रतिभाससंवेदनादेवावगत इति कथं न स्वप्रतिभासेऽपरसंवेदनाऽप्रतिभासनमेव स्वसंविदो भेदवेदनम्?

पूर्वाऽपरसंवेदनादपि स्वसंवेदनस्य भेदोऽवगम्यत एव। तथाहि—तदपि वर्तमानाऽपरोक्षाकारं स्वसंवेदने प्रतिभाति न पूर्वापररूपतया, संनिहितग्रहणं हि पूर्वापररूपग्रहणम्। न च तत् संनिहितस्वरूपसाक्षात्कारणस्वभाव[18]स्वसंवेदनमात्मसात्करोति तयोर्विरोधात्। तदेवं स्वसंवेदनमपि न पूर्वा[19]परभावे वृत्तिमदिति[20] सर्वं विशदप्रतिभाससङ्गतं वर्तमानमेव। यच्च मनागपि न पूर्वापरभावसंस्पर्शि तत् क्षणभेदसङ्गतिमनुभवतीति सिद्धः संविदोऽपि कालभेदः। तथा, एकक्षणनियतोऽपि प्रति[21]भासः प्रतिपरमाणुभिन्नः इतरेतरसंवित्परमाण्वननुप्रवेशे वा एकाणुमात्रः संवित्परमाणुपिण्डः स्यात्। ततश्च पुनरप्यपरसंवित्परमाणोरभा[22]वेनाप्रतिभासने भेदावगम एव। तदेवं देश-कालाऽऽकारैर्जगतः परस्परपरिहारेणोपलम्भप्रवृत्तेर्भेदाधिगतिर्व्यवस्थिता। न वा(चा)ऽभेदवादिनः परस्परपरिहारेण देशादीनामुपलम्भोऽसिद्धः अध्यक्षसिद्धे असिद्धतोद्भावनस्य [23]वैय(या)त्यप्रकटनपरत्वात्। भेद[24]वादिनोऽपि परस्परं तदनुप्रवेशः स्यादित्यभिहितत्वाच्च।

यदपि 'अथा[25]कारा(र)भेदाद् भेदः स च समानासमानसमयभिन्नसंवेदनाग्राह्योऽभिन्नसंवेदनानवसेयश्च' इत्यादि दूषणमभ्यधा[26]यि, तदपि प्रतीतिबाधितत्वादनुद्घोष्यम्, विज्ञान-शून्यवा-

१-भिन्ने सत्य-वा० बा० विना। २ पूर्वं सं-भा० मा०। ३ प्रवर्तते वा० बा०। प्रथमाते वि०। प्रथमते हा०। ४-ते पूर्वदर्शनमेवाध्यवस्यती प्रतिभातीति भा० मा०। ५-मानसंवेदनसंवेदनं चिदात्मानमभिन्नं वा दर्श-भा० मा०।-मानसंवेदनं विदात्मानमभिन्नं वा दर्श-आ० हा० वि०। ६ पूर्वदर्शनस्वा-भा० मा० विना। ७-सद्रूपं संभवे वर्त-भा० मा० हा०। ८ तत्वाभ्यु-वा० बा० विना। ९-गमो घ टादा स्मृतो न पूर्वं-वा० बा० विना। १०-हा स्मृ-वा० बा०। ११ सा च स्वरूपनवा स्वरूपेण भिन्नयोग-वा० बा०। १२-प्रवेशनप्र-वा० बा० वि० विना। १३ -संवेदं स्व-वा० बा०। १४-त्वाद् नील-वा० बा० विना। १५-समवेति भा० मा० हा० वि०। १६ परिनिश्चित-वा० बा०। १७-हितास्व-वा० बा०। १८-वसंवे-वा० बा०। १९-परामावे वा० बा० विना। २०-ति पूर्वं वा० बा०। २१-भास प्र-वा० बा० विना। २२-भावेन प्रति-वि०। २३ वैयावृत्य-वा० बा० विना। २४-दवेदिनो-भां०। २५-कारादू भेदाद् भेदः भा०।-कारादू भेदः वि०। २६ पृ० २७४ पं० २७।

दानुकूलतया च पर्यायास्तिकमतानुसारिणो न क्षतिमावहति। यदपि 'आमाऽऽरामादिभेदप्रतिभासोऽविद्याविरचितत्वादपारमार्थिकः' इत्यभिधानम्, तदप्यसम्यक्; इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। तथाहि–अविद्याविरचितत्वं भेदप्रतिभासस्य अपारमार्थिकस्वरूपसङ्गत्यधिगतेः तत्सद्भावाच्च अविद्यानिर्मितत्वप्रतिपत्तिरिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अभेदप्रतिभासेऽपि कुतः पारमार्थिकत्वम् इति च वक्तव्यम्, यदि विद्यानिर्मितत्वात् इत्युच्येत तदाऽत्रापीतरेतराश्रयत्वं तदवस्थमित्यलमतिप्रसङ्गेन। तत्र भेदे प्रमाणबाधा। तत्सद्भावप्रतिपादकप्रमाणभावस्तु दर्शितः। अभेदस्तु न प्रमाणावसेय इत्यपि दर्शितम्। अपि च, अद्वैते प्रमाण-प्रमेयव्यवहारस्य प्रत्यस्तमयान्न तदभ्युपगमो ज्यायान्, यतस्तद्व्यवहारश्चतुष्ट्याक्षेपपूर्वकः। तदुक्तम्—"चतसृषु भेदविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते यदुत प्रमाता प्रमेयम् प्रमाणम् प्रमितिः" [ ] इति कुतोऽद्वैतस्य प्रमाणाधिगम्यता? यश्चागमो मन्त्र-ब्राह्मणरूपो भेदनिषेधायोदाहृतः तस्यार्थवादत्वेन प्रतीयमानार्थे प्रामाण्यमागमप्रमाणवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा प्रमाणविरुद्धत्वेन तदाभासत्वप्रसङ्गात्। यच्चाभेदपक्षे दूषणमाशङ्क्योत्तरमभ्यधायि 'अद्वैते किल शास्त्राणाम् मुमुक्षुप्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यम्' इत्याशङ्क्य परिहाराभिधानम्—'अविद्यानिवर्त्तकत्वात् मुमुक्षुप्रवृत्तेः तस्याश्चातत्त्वरूपत्वान्न द्वैतापत्तिः नाप्यनिवर्त्यत्वम् वस्तुत्वे ह्येतद् द्वयं भवेत्' इति, तदप्यसारम्; यतो यदि अवस्तुसती अविद्या कथमेषा प्रयत्ननिवर्त्तनीया स्यात्? न ह्यवस्तुसन्तः शशशृङ्गादयो यत्ननिवर्त्तनीयत्वमनुभवन्तो दृष्टाः। अथ सत्त्वेऽपि कथं निवृत्तिः? तदनिवृत्तौ वा कथं मुक्तिः? न सदेतत्; नहि सतां घटादीनां(नाम)–निवृत्तिः तथाऽविद्याया अपि भविष्यति। अथ घटादीनामपि न परमार्थसत्त्वम् तेषामतादवस्थ्यात्, असदेतत्; यतोऽतादवस्थ्यात् तेषामनित्यताऽस्तु नासत्त्वम् अन्यथा तेषां व्यवहाराङ्गता न स्यात्। अथ न तेषां परमार्थसत्त्वाद् व्यवहाराङ्गता किन्तु संवृत्येति व्यवहाराङ्गत्वेऽपि घटादयोऽपि न परमार्थसद्रूपभाजः, असदेतत्; संवृतेः स्वभावासंवेदनात्। तथाहि—सांवृतमुपचरितं काल्पनिकं रूपमभिधीयते, यच्च कल्पनानिर्मितं रूपं तद् बाधकप्रत्ययेन व्यावर्त्यत इति कथं व्यवहाराङ्गतामश्नुवीत? यच्च अपरमार्थसतामपि सत्यकार्यनिर्वर्त्तकत्वमुपदर्शितम् तत् स्वरूपसङ्गतेद्वैतपक्षे कथञ्चिदुपपत्तिमत् स्यात्। अभेदपक्षे तु सत्यव्यतिरिक्तस्यासत्यस्याभावात् न कथञ्चित् कार्यसाधकत्वमुपपत्तिमत्। यदप्यभ्यधायि 'भेदविषयाणामुपायानां ब्रह्मरूपेण सत्त्वात् कार्यका(क)रणम्', एतदप्ययुक्तम्; यतो येन रूपेण सत्त्वं तेन कार्यसामर्थ्यम् यच्च कार्योपयोगं रूपं तेषाम् तदसदेवेति न ब्रह्मरूपेणापि सन्त उपायात्(याः) कार्यकरणक्षमाः ततः सकलव्यवहारप्रच्युतेरभेदस्य न प्रमाणगम्यता। यदपि 'सर्वमेकं सत्, अविशेषात्' इत्युक्तम्, अन्यत्रापि(अत्रापि) किमयमध्यक्षव्यापारो निर्दिष्टः, आहोस्विदनुमानम्? यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; सकलाद्वैतग्राहकत्वेनाध्यक्षस्य प्रतिषिद्धत्वात्। द्वितीयोऽप्ययुक्त एव, यतोऽनुमानं दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभेदे सति प्रवृत्तिमासादयति, स चेत् पारमार्थिकः कुतोऽद्वैतम्? अपारमार्थिकश्चेत् कथं ततः पारमार्थिकाद्वैतसिद्धिः? तथा, हेतुरपि तत्साधको यदि भिन्नस्तदाऽपि कथमद्वैतम् असतो भेदानुपपत्तेः शशविषाणादिवत्? अभिन्नश्चेत् न ततः साध्यसिद्धिः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वेनागमकत्वात्। न च कल्पितभेदादपि ततस्तत्सिद्धिः, कल्पनाविरचितस्य कार्यनिर्वर्त्तनाऽक्षमत्वात्। कल्पिताऽहिदंश-रेखागवयादीनामपि यत् असत्त्वे मरणादिकार्यकर्तृत्वं प्रतिपादितम्, तदपि न युक्तिक्षमम्; तेषामपि केनचिद् रूपेण पारमार्थिकत्वसङ्गतेः अत्यन्तासतस्तु षष्ठभूतस्यै(स्ये)व कार्यकारितानुपलब्धेः। तथा, वादि-प्रतिवादि-प्राश्निकानामभावे नाद्वैतवादावतारः सम्भवी; तत्सद्भावे वाऽद्वैतविरोधो न्यायानुगत

---

१ पृ० २७६ पं० ८। २-सम्मत्यधिगतिस्तत्स-वा० बा०। ३-माणाभाव-भा० मां० आ०। ४ "प्रमाता ××× प्रमाणम् ××× प्रमेयम् ××× प्रमिति चतसृषु चैवंविधासु अर्थतत्त्वं परिसमाप्यते'—वात्स्या० भा० पृ० २ पं० २। ५-ति कुतोऽद्वैतस्य प्रमाणं प्रमितिरिति कुतोऽद्वैतस्य प्रमाणाधिगम्यता भा० मां०। ६ पृ० २७३ पं० ५-६। ७-णत्वयादिना-आ० वि०। ८ यच्च भे-भा० मा० आ०। यत्त्वभेद-वि०। ९ पृ० २७६ पं० २७-पृ० २७७ पं० २। १० अधीते किल वा० बा०। ११-सत्ये ह्ये-वा० बा० विना। १२-वर्त्तत-भां० विना। १३-सत्ताम-वा० बा० विना। १४-कमु-वा० बा० विना। १५ पृ० २७९ पं० १५। १६ पृ० २७९ पं ३०। १७-स्यात् कारणं-वा० बा० विना। १८-पयोगरूपं आ० वि०। १९ कार्यकार-वा० बा०। २० पृ० २८० पं० ११।-कान्यत्रापि वा० बा०। २१ पृ० २८० पं० १।

इति न तत्पक्षोऽभ्युपगमार्हः । यच्च 'भेदाः सत्तातो यदि भिन्नाः खरविषाणवदसन्तः प्रसक्ताः अभिन्नाश्चेत् सत्तामात्रकमेव न विशेषा नाम । तथाहि—यद् यतोऽव्यतिरिक्तम् तत् तदेव, यथा सत्तास्वरूपम्, अव्यतिरिक्ताश्च ते सत्तातः, तथासति सत्तामात्रकमेव' इत्यभ्यधायि, तद् भेदवादिनोऽपि समानम्; यतस्तेनाप्येतद् शक्यं वक्तुम्—यदि विशेषेभ्यो व्यतिरिक्ता सत्ता खरविषाणवदसती प्राप्ता, अव्यतिरिक्ता चेत् विशेषा एव न सा इति न्यायस्य समानत्वात् । तदेवमभेदे प्रमाणाभावात्—भेदस्य वा (चा)ऽबाधितप्रमाणविषयत्वात्—न तदभ्युपगमो ज्यायानिति शुद्धद्रव्यास्तिकमतप्रतिक्षेपिपर्यायास्तिकाभिप्रायः ।

[ २ सांख्यमतप्रतिक्षेपकः पर्यायास्तिकनयः ]

अशुद्धद्रव्यास्तिकसाङ्ख्यमतप्रतिक्षेपकस्तु पर्यायास्तिकः प्राह–यदुक्तं कापिलैः 'प्रधानादेव महदादिकार्यविशेषाः प्रवर्तन्ते' इति, तत्र यदि महदादयः कार्यविशेषाः प्रधानस्वभावा एव कथमेषां कार्यतया ततः प्रवृत्तिर्युक्ता ? न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत् तस्य कार्यम् कारणं वेति व्यपदेष्टुं युक्तम्, कार्य-कारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात् अन्यथा हि 'इदं कारणम् कार्यं च' इत्यसङ्कीर्णव्यवस्थोत्सीदेत् । ततश्च यदुक्तं प्रकृतिकारणिकैः–"मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणस्य षोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, महदहंकारतन्मात्राणां च पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्व-कारणत्वे च" [ ] इति तत् सङ्गतं न स्यात् । आह चेश्वरकृष्णः—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥" [ साङ्ख्यका० ३ ] इति ।

यतः सर्वेषां परस्परमव्यतिरेकात् कार्यत्वम् कारणत्वं वा प्रसज्येत, अन्यापेक्षित्वाद् वा कार्यकारणभावस्य अपेक्षणीयस्य रूपान्तरस्य चाभावात् पुरुषवन्न प्रकृतित्वम् विकृतित्वं वा सर्वेषां वा स्यात् अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृतिविकारव्यपदेशप्रसक्तिः । उक्तं च-

"यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च ।
वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यवासिना ॥" [ ] इति ।

'हेतुमत्त्वादिति(मत्त्वादि)धर्मासङ्गि विपरीतमव्यक्तम्' इत्येतदपि बालप्रलापमनुकरोति, न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत् ततो विपरीतं युक्तम् वैपरीत्यस्य रूपान्तरलक्षणत्वात् अन्यथा भेदव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति सत्त्व-रजस्-तमसाम् चैतन्यानां च परस्परभेदाभ्युपगमो निर्निमित्तो भवेत् ततश्च विश्वस्यैकरूपत्वात् सहोत्पत्तिविनाशप्रसङ्गः अभेदव्यवस्थितेरभिन्नयोगक्षेमलक्षणत्वादिति । व्यक्तरूपाऽव्यतिरेकाद् अव्यक्तमपि हेतुमदादिधर्मासङ्गि प्रसक्तम् व्यक्तस्वरूपवत्, अहेतुमत्त्वादिधर्मकलापाध्यासितं वा व्यक्तम् अव्यक्तरूपाव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत् अन्यथातिप्रसक्तिः ।

अपि च, अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावः प्रसिद्धः, न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्त्यवगमनिबन्धनः अन्वयः व्यतिरेको वा प्रतीतिगोचरः सिद्धः, यतः 'प्रधानाद् महान् महतोऽहङ्कारः' इत्यादिप्रक्रिया सिद्धिसौधशिखरमध्यास्त । तस्मान्नि वे(न्निर्निब)न्धन एवायं प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिप्रक्रमः । न च नित्यस्य हेतुभावः सङ्गतः यतः प्रधानाद् महदादीनामुत्पत्तिः स्यात् नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

अथ नास्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या कार्यकारणभावोऽभ्युपगतः यतो रूपभेदादसौ विरुध्यते किन्तु प्रधानं महदादिरूपेण परिणतिमुपगच्छति सर्पः कुण्डलादिरूपेणेवेति 'प्रधानं महदादिकार-

---

१ यच्चाभेदाः भा० मा० ।

२ इह साङ्ख्यप्रक्रियाप्रतिविधानं तत्त्वसङ्ग्रहगत का० १६-४५, पृ० २२-४० । ३ पृ० २८० पं० २४ ।

४ तदत्र सुधियः प्राहुस्तुल्या सत्त्वेऽपि चोदना । यत् तस्याप्युत्तरं व स्यात् तद् तुल्यं सुधियामपि ॥

तत्त्वस० का० १६ पृ० २२ ।

५ माठरवृ० पृ० १ पं० १८ । ६–रव्य–वा० बा० । ७ "पुरुषवन्न प्रकृतित्वं नापि विकृतित्वं स्यात्"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २२ पं० २६ । ८ "वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २२ पं० २८ । ९ "अथेदम् 'हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि व्यक्तम् विपरीतमव्यक्तम्' "–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २३ पं० १ । १० पृ० २८१ पं० २३ । ११ "हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २३ पं० ७ । १२ पृ० २८१ पं० १ । १३–त्रिव-न्धन–वा० बा० । १४–पाल्पासे–वा० बा० ।

णम्' इति व्यपदिश्यते महदादयस्तु तत्परिणामरूपत्वात् तत्कार्यव्यपदेशमासादयन्ति न च परिणामोऽभेदेऽपि विरोधमनुभवति एकवस्त्वधिष्ठानत्वात् तस्येति, असम्यगेतत् परिणामासिद्धेः । तथाहि-असौ पूर्वरूपप्रच्युतेर्भवेत्, अप्रच्युतेर्वेति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि अप्रच्युतेरिति पक्षः तदा अवस्थासाङ्कर्यात् वृद्धाद्यवस्थायामपि युवत्वाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गः । अथ प्रच्युति(ते)रिति पक्षः तदा स्वरूपहानिप्रसक्तिरिति पूर्वकं स्वभावान्तरं निरुद्धम् अपरं च तदुत्पन्नमिति न कस्यचित् परिणामः सिद्ध्येत् ।

अपि च, तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्भिर्वर्ण्यते; स चैकदेशेन, सर्वात्मना वा ? न तावत् एकदेशेन, एकस्यैकदेशासम्भवात् । नापि सर्वात्मना, पूर्वपदार्थविनाशेन पदार्थान्तरोत्पादप्रसङ्गात् । अतो न तस्यैवान्यथात्वं युक्तम्, तस्य स्वभावान्तरोत्पादनिबन्धनत्वात् । व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युपगम्यते न तु स्वभावान्यथात्वमिति चेत्, असत्; यतः प्रच्यवमानः उत्पद्यमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा धर्मिण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाऽऽविर्भावासम्भवात् । तथाहि—यस्मिन् वर्तमाने यो व्यावर्त्तते स ततो भिन्नः, यथा घटेऽनुवर्तमाने ततो व्यावर्त्यमानः पटः, व्यावर्त्तते च धर्मिण्यनुवर्तमानेऽप्याविर्भावतिरोभावाऽऽसङ्गी धर्मकलाप इति कथमसौ ततो न भिन्न इति धर्मी तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम ? यतो नार्थान्तरभूतयोः कट-पटयोरुत्पाद-विनाशेऽचलितरूपस्य घटादेः परिणामो भवति अतिप्रसङ्गात्; अन्यथा चैतन्यमपि परिणामि स्यात् । तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पाद-विनाशात् तस्यासावभ्युपगम्यते नान्यस्येति चेत्, न; सदसतोः सम्बन्धाभावेन तत्सम्बन्धित्वायोगात् । तथाहि-सम्बन्धो भवत्(न्) सतो वा भवेत्, असतो वा भवेदिति कल्पनाद्वयम् । न तावत् सतः समधिगताऽशेषस्वभावस्यान्यानपेक्षतया क्वचिदपि पारतन्त्र्यासम्भवात् । नाप्यसतः, सर्वोपाख्याविरह(हि)ततया तस्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः; नहि शशविषाणादिः क्वचिदप्याश्रित उपलब्धः । न च व्यतिरिक्तधर्मान्तरोत्पाद-विनाशे सति परिणामो भवद्भिर्व्यवस्थापितः, किं तर्हि ? यत्रात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः अवस्थाभेदश्च तत्रैव तद्व्यवस्था । न च धर्मिणः सकाशाद् धर्मयोर्व्यतिरेके सति एकस्वभावानुवृत्तिरस्ति, यतो धर्म्येव तयोरेक आत्मा; स च व्यतिरिक्त इति नात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः । न च निरुद्ध्यमानोत्पद्यमानधर्मद्वयव्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृग्गोचरमवतरति कस्माद् इति तादृशोऽसद्व्यवहारविषयतैव । अथ अनर्थान्तरभूत इति पक्षः कक्षीक्रियते तथाप्येकस्माद् धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात् तिरोभावाऽऽविर्भाववतोर्धर्मयोर्द्वयोरप्येकत्वम् धर्मिस्वरूपवदिति केन रूपेण धर्मी परिणतः स्यात् धर्मो वा ? अवस्थातुश्च धर्मिणः सकाशादव्यतिरेकाद् धर्मयोरवस्थातृरूपवन्न निवृत्तिः नापि प्रादुर्भावः धर्माभ्यां च धर्मिणोऽनन्यत्वात् धर्मस्वरूपवत् । अपूर्वस्योत्पादः पूर्वस्य च विनाश इति नैकस्य कस्यचित् परिणतिः सिद्ध्येदिति न परिणामवशादपि साङ्ख्यानां कार्यकारणव्यवहारः सङ्गच्छते । न च परिणामप्रसाधकं प्रमाणं क्षणिकम् अक्षणिकं वा सम्भवतीति प्रतिपादितमभेदनिराकरणं कुर्वद्भिः ।

यच्च असत्कार्यवादे 'असदकरणात्' इत्यादि दूषणमभ्यधायि तत् सत्कार्यवादेऽपि तुल्यम् । तथाहि—असत्कार्यवादिनाऽपि शक्यमिदमित्थमभिधातुम्—

न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ इति ।

अत्र च 'न सत् कार्यम्' इति व्यवहितेन सम्बन्धो विधातव्यः, कस्मात् ? 'सदकरणात्' 'उपादानग्रहणात्' इत्यादिहेतुसमूहात् । उभययो(भयो)र्यश्च दोषस्तमेकः प्रेर्यो न भवति । तथाहि—[13]यदि दुग्धा-

१ प्रसक्तिः वि० । २ "अथ परित्यागात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २३ पं० १८ । ३-रहितया वा० बा० विना । "सर्वोपाख्याविरहलक्षणतया"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २४ पं० ५ । ४-नाशि स-भां० मां० ।-नाश मति बा० वा० । ५ पञ्चम्यन्तम् । ६ "केन आश्रयेण"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २४ पं० १३ । ७-व्यतिरिक्तात् भां० मां० वा० बा० विना । ८-णोऽन्यत्वा-वा० बा० ।-णोऽन्यत्वन्यद्वात् भां० मां० । ९-स्य कश्चित् वि० । १० पृ० २८२ पं० १८ । ११ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २४ पं० २१ । १२ उभये यश्चादो-वा० बा० । उभयोश्चदो-वि० ले० । उभययोश्चदो-हा० । "यश्चोभयोर्दोष"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २४ पं० २४ ।
१३ "यदि दध्यादयः सन्ति दुग्धाद्यात्मसु सर्वथा । तेषां सतां किमुत्पाद्यं हेत्वादिसदृशात्मनाम्" ॥
तत्त्वसं० का० १७ पृ० २५ ।

दिषु दध्यादीनि कार्याणि रस-वीर्यविपाकादिना विभक्तेन रूपेण मध्यावस्थावत् सन्ति तदा तेषां किमपरमुत्पाद्यं रूपमवशिष्यते यत् तैर्जन्यं स्यात्? न हि विद्यमानमेव कारणायत्तोत्पत्तिकं भवति प्रकृति-चैतन्यरूपवत्। अत्र प्रयोगः—यत् सर्वात्मना कारणे सत् न तत् केनचिज्जन्यम्, यथा प्रकृतिश्चैतन्यं वा, तदेव वा मध्यावस्थायां कार्यम्, सत् तत् सर्वात्मना परमतेन क्षीरादौ दध्यादि इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः। न च हेतोरनैकान्तिकता, अनुत्पाद्याऽतिशयस्यापि जन्यत्वे सर्वेषां जन्यत्वप्रसक्तिः अनवस्थाप्रसक्तिश्च—विपर्यये बाधकं प्रमाणम्—जनितस्यापि पुनर्जन्यत्वप्रसङ्गात्। तदेवं कार्यत्वाभिमतानामकार्यत्वप्रसक्तिः सत्कार्यवादाभ्युपगमे। कारणाभिमतानामपि मूलप्रकृति-बीज-दुग्धादीनां पदार्थानां विवक्षितमहदादि-अङ्कुर-दध्यादिजनकत्वं न प्राप्नोति अविद्यमानसाध्यत्वात् मुक्तात्मवत्। प्रयोगः—यद् अविद्यमानसाध्यं न तत् कारणम्, यथा चैतन्यम्, विं(अवि)द्यमानसाध्यश्चाभिमतः पदार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। प्रसङ्गसाधनं चैतद् द्वयमपि अतो नोभयसिद्धोदाहरणेन प्रयोजनम्। भोगं प्रत्यात्मनोऽपि कर्तृत्वाभ्युपगमे मुक्तात्मा उदाहर्तव्यः। न च प्रथमप्रयोगे अभिव्यक्ता(क्त्या)दिरूपेणापि सविशेषणे हेताव(वु)पादीयमाने असिद्धता न ह्यस्माभिरभिव्यक्त्यादिरूपेणापि सत्त्वमिष्यते कार्यस्य किं तर्हि? शक्तिरूपेण निर्विशेषणे तु तस्मिन्ननैकान्तिकता यतोऽभिव्यक्त्यादिलक्षणस्यातिशयस्योत्पद्यमानत्वान्न सर्वस्य(स्या)कार्यत्वप्रसङ्गो भविष्यति अत एव द्वितीयोऽपि हेतुरसिद्धः विद्यमानत्वात् साध्यस्याभिव्यक्त्युद्रेकानुद्रेकाद्यवस्थाविशेषस्येति वक्तव्यम्, यतोऽत्र विकल्पद्वयम्-किमसावतिशयोऽभिव्यक्त्याद्यवस्थातः प्रागासीत्, आहोस्विन्नेति? यद्यासीत् न तर्ह्यसिद्धतादिदूषणं प्रयोगद्वयोपन्यस्तहेतुद्वयस्य। अथ नासीत् एवमप्यतिशयः कथं हेतुभ्यः प्रादुर्भावमश्नुवीत? 'असदकरणात्' इति भवद्भिरभ्युपगतत्वात्। तत् स्थितम्-सदकरणान्न सत् कार्यम्। यथोक्तनीत्या सत्कार्यवादे साध्यस्य(स्या)भावादुपादानग्रहणमप्यनुपपन्नं स्यात् तत्साध्यफलवाञ्छयैव प्रेक्षावद्भिरुपादानपरिग्रहात्, नियतादेव च क्षीरादेर्दध्यादीनामुद्भव इत्येतदप्यनुपपन्नं स्यात् साध्यस्यासम्भवादेव, यतः सर्वस्मात् सम्भवाभाव एव नियताज्जन्मेत्युच्यते तच्च सत्कार्यदपक्षे न घटमानकम्। तथा, 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इत्येतदपि सत्कार्यवादे न युक्तिसङ्गतं साध्याभावादेव, यतो यदि किञ्चित् केनचिदभिनिर्वर्त्येत तदा निर्वर्तकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत

---

१ "हेतुजन्यं न तत् कार्यं सत्तातो हेतुवित्तिवत्। अतो नाभिमतो हेतुरसाध्यत्वात् परात्मवत्" ॥

तत्त्वस० का० १८ पृ० २५।

२ कार्यं सर्वं (सच्च) सर्वात्मना वा० वा०। "सदेव न कार्यं मध्यावस्थायाम्, सच्च सर्वात्मना परमतेन दध्यादि" तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २५ पं० १७। ३ यदि विद्यमानसाध्यं तत् कार-वा० वा०। ४ "अविद्यमानसाध्योऽभिमतः पदार्थः"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २६ पं० २। ५ "यस्तु मन्यते साङ्ख्यः पुरुषस्यापि प्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोगं प्रति कर्तृत्वमस्तीति। तं प्रत्येवं व्याख्या-परश्चासावात्मा च—(प्र० पृ० पं० २४) मुक्त इत्यर्थः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २६ पं० ३।

६ "अथास्त्यतिशयः कश्चिदभिव्यक्त्यादिलक्षणः। यं हेतवः प्रकुर्वाणा न यान्ति वचनीयताम्" ॥

तत्त्वस० का० १९ पृ० २६।

७ प्र० पृ० पं० ३। ८ प्र० पृ० पं० १२। ९ सविशेषणो हेतोरुपादीयमानेऽसिद्धत। ना ह्य-वा० वा०। १० हेतावपादीयमानोऽसिद्धता न ह्य-वा०। ११-भिव्यक्तादि-वा० बा० विना। १२ व्यक्तादि-वा० बा०। १३ प्रसङ्गश्चायम्-प्र० पृ० पं० ५। १४ एव वं द्वि-वि० डे०। एवं द्वि-हा०। १५ प्र० पृ० पं० ९। १६ साध्यस्यापि व्यक्त्यु-वा० बा०। साध्यस्यापि भिव्यक्त्यु-वि० डे०।

१७ "प्रागासीद् यद्यसावेष न किञ्चिद् दत्तमुत्तरम्। नो चेत् सोऽसत् कथं तेभ्यः प्रादुर्भावं समश्नुते?" ॥

तत्त्वस० का० २० पृ० २६।

१८ पृ० २८२ पं० १८।

१९ "नातः साध्यं समस्तीति नोपादानपरिग्रहः। नियतादपि नो जन्म न च शक्तिर्न च क्रिया" ॥

तत्त्वस० का० २१ पृ० २६।

२०-ध्यस्याभावा-वा० बा०। २१ स्यात् तत्साध्यकस्यासंभवादेव हा०। स्यात् साध्यस्यासंभवाभाव एव वा० बा०। स्यात् तत्साधकस्यासंभवादेव वि०। २२ पृ० २८२ पं० १९। २३ "निव(र्व)र्त्यस्य च करणं विरुध्येत्"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २७ पं० ६।

स्यस्य[2] च का(क)रणं सिद्धिमभ्यासीतेति, नान्यथा । कारणभावोऽपि भावानां साध्याभावादेव सत्कार्यवादे न युक्तिसङ्गतः न चैतद् दृष्टमिष्टं[1] च । तस्मान्न सत् कार्यं कारणावस्थायामिति प्रसङ्गविपर्ययः पञ्चस्वपि प्रसङ्गसाधनेषु योज्यः ।

अपि च, सर्वमेव[3] हि साधनं स्वविषये प्रवर्त्तमानं द्वयं विदधाति-स्वप्रमेयार्थविषये उत्पद्यमानौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्तयति, स्वसाध्यविषयं च निश्चयमुपजनयति । न चैतत् सत्कार्यवादे युक्त्या सङ्गच्छते । तथाहि-सन्देह-विपर्यासौ भवद्भिः किं चैतन्यस्वभावावभ्युपगम्येते, आहोश्विद् बुद्धि-मनःस्वरूपौ ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; चैतन्यरूपतया तयोर्भवद्भिरनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा मुक्त्यवस्थायामपि चैतन्याभ्युपगमात् तत्स्वभावयोस्तयोरप्युत्पत्त्यनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः, साधनव्यापारात् तयोरनिवृत्तिश्च चैतन्यवन्नित्यत्वात् । द्वितीयपक्षोऽपि न युक्तः, बुद्धि[4]मे(म)नसोर्नित्यत्वेन तयोरपि नित्यत्वान्निवृत्त्ययोगात् । न च निश्चयोत्पत्तिरपि साधनात् सम्भवति ? तस्या अपि सर्वदाऽवस्थितेः अन्यथा सत्कार्यवादो विशीर्येत इति साधनोपन्यासप्रयासो विफलः कापिलानाम् ।

स्ववचनविरोधश्च प्राप्नोति-तथाहि-निश्चयोत्पादनार्थं[5] साधनं ब्रुवता निश्चयस्य असत उत्पत्तिरङ्गीकृता भवेत् 'सत् कार्यम्' इति च प्रतिज्ञया सा निषिद्धेति स्ववचनविरोधः स्पष्ट एव । अथ[6] साधनप्रयोगवैयर्थ्यं ना(मा) प्रापदिति निश्चयोऽसन्नेव साधनादुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते तर्हि 'असदकरणात्' इत्यादेर्हेतुपञ्चकस्यानैकान्तिकता[7] स्वत एवाभ्युपगता भवति निश्चयवत् कार्यस्याप्यसत उत्पत्त्यविरोधात् । तथाहि-यथा निश्चयस्य असतोऽपि करणम् तदुत्पत्तिनिमित्तं च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहः-न च यथा तस्य सर्वस्मात् साधनाभासादेः सम्भवः-यथा चासन्नप्यसौ शक्तैर्हेतुभिर्निर्वर्त्यते, यथा च कारणभावो हेतूनां समस्ति तथा कार्येऽपि भविष्यति इति कथं नानैकान्तिका निश्चयेन 'असदकरणात्' इत्यादिहेतवः । न[8] च यद्यपि प्राक् साधनप्रयोगात् सन्नेव निश्चयस्तथापि न साधनवैयर्थ्यम् यतः प्रागनभिव्यक्तो निश्चयः पश्चात् साधनेभ्यो व्यक्तिमासादयतीत्यभिव्यक्त्यर्थं साधनप्रयोगः सफल इति नानर्थक्यमेपामिति वक्तव्यम्, व्यक्तेरसिद्धत्वात् । तथाहि-किं स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिरभिधीयते, आहोश्वित् तद्विषयं ज्ञानम्, उत तदुपलम्भावारकापगमः इति पक्षाः । तत्र न तावत् स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः यतोऽसौ स्वभावातिशयो निश्चयस्वभावादव्यतिरिक्तः स्यात्, व्यतिरिक्तो वा ? यदि अव्यतिरिक्तस्तदा निश्चयस्वरूपवत् तस्य सर्वदैवावस्थितेर्नोत्पत्तिर्युक्तिमती । अथ व्यतिरिक्तस्तथापि 'तस्यासौ' इति सम्बन्धानुपपत्तिः । तथाहि-आधा[9]राधेयलक्षणः, जन्यजनकस्वभावो[10](वो वाऽ)ऽसौ भवेत् ? न तावत् प्रथमः, परस्परमनुपकार्योपकारकयोस्तदसम्भवात्, उपकाराभ्युपगमे चोपकारस्यापि पृथग्भावे सम्बन्धासिद्धिः—अपरोपकारकल्पनायां चानवस्थाप्रसक्तिः—अपृथग्भावे[11] च साधनोपन्यासवैयर्थ्यम् निश्चयादेवोपकारा[12]पृथग्भूतस्या-

---

१ "सर्वात्मना च निष्पत्तेर्न कार्यमिह किञ्चन । कारणव्यपदेशोऽपि तस्मान्नैवोपपद्यते" ॥
तत्त्वस० का० २२ पृ० २७ ।

२-ष्टं वा त-आ० ।

३ "सर्वं च साधनं वृत्तं विपर्यासनिवर्तकम् । निश्चयोत्पादकं चेदं न तथा युक्तिसङ्गतम् ॥
न सदेह-विपर्यासौ निवर्त्यौ सर्वदा स्थितेः । नापि निश्चयजन्माऽस्ति तत एव वृथाऽखिलम् ॥
तत्त्वसं० का० २३-२४ पृ० २७ ।

४ "चैतन्य-बुद्धि-मनसां नित्यत्वेन"-तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २७ पं० २५ । ५-नार्थसाध-आ० हा० ।

६ "अथापि निश्चयोऽभूतस्समुत्पद्येत साधनात् । ननु तेनैव सर्वेऽमी भवेयुर्व्यभिचारिणः" ॥
तत्त्वसं० का० २५ पृ० २८ ।

७ पृ० २८२ पं० १८ ।

८ "अव्यक्तो व्यक्तिमाक् तेभ्य इति चेद् व्यक्तिरस्य का ? । न स्वातिशयोत्पत्तिरविभागादसंगतेः" ॥
तत्त्वस० का० २६ पृ० २८ ।

९ "आधाराधेयलक्षणो वा संबन्धो भवेत्, जन्यजनकभावलक्षणो वा ?"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २८ पं० २२ ।

१०-भावाऽसौ वि० दे० । ११ अथ पृथग्भू-वा० वा० विना० । १२-कारपृथ-वा० वा० विना० ।

तिशयस्योत्पत्तेः। न चातिशयस्य कश्चिदाधारो युक्तः अमूर्त्तत्वेनाधः प्रसर्पणाभावात् अयोमति·प्रतिवन्धकत्वेनाधारस्य व्यवस्थानात् । जन्यजनकभावलक्षणोऽपि न सम्बन्धो युक्तः; सर्वदैव सम्बन्धाख्यस्य (निश्चयाख्यस्य) कारणस्य सन्निहितत्वान्नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसक्तेः। न च साधन·प्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तम् अनुपकारिण्यपेक्षाऽयोगात्, उपकाराभ्युपगमे वा दोषः पूर्ववद् वाच्यः। अपि च, अतिशयोऽपि पृथग्भूतः क्रियमाणः किमसन् क्रियते, आहोस्वित् सन् इति कल्पनाद्वयम्। असत्त्वे पूर्ववत् साधनानामनैकान्तिकता वाच्या, सत्त्वे च साधनवैयर्थ्यम् तत्रापि अभिव्यक्त्यभ्युपगमे 'कैयमभिव्यक्तिः' इत्याद्यनवस्थाप्रसङ्गो दुर्निवार इति व्यतिरेकपक्षोऽपि सङ्गत्यसम्भवादसम्भवी। अतो न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः।

नापि तद्विषयज्ञानोत्पत्तिस्वरूपा अभिव्यक्तिर्युक्तिसंगता, तद्विषयज्ञानस्य भवदभिप्रायेण नित्यत्वात्। तथाहि—तद्विषयाऽपि संवित्तिः सत्कार्यवादिमतेन नित्यैव किमुत्पाद्यं तस्याः स्यात्? अपि च, एकैक(कैव) भवन्मतेन संविद्—"आ सर्ग-प्रलयादेका बुद्धिः" [ ] इति कृतांताता(न्ता)त्—सैव च निश्चयः तत्र कोऽपरस्तदुपलम्भोऽभिव्यक्तिस्वरूपो यः साधनैः सम्पाद्येत? न च त(न च न त)द्बुद्धिस्वभावा तद्विषया संवित्तिः किन्तु मनःस्वभावेति वक्तव्यम्, 'बुद्धिः' 'उपलब्धिः' 'अध्यवसायः' 'मनः' 'संवित्तिः' इत्यादीनामनर्थान्तरत्वेन प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् तद्विषयोपलम्भाऽऽवरणक्षयलक्षणाप्यभिव्यक्तिर्न घटां प्राञ्चति द्वितीयस्योपलम्भस्यासम्भवेनोपलम्भावरणस्याप्यभावात् न ह्यसत आवरणं युक्तिसंगतम् तस्य वस्तुसद्विषयत्वात्। न चासतस्तदावरणस्य कुतश्चित् क्षयो युक्तः। सत्त्वेऽपि तदावरणस्य नित्यत्वान्न क्षयः सम्भवी, तिभा(तिरोभा)वलक्षणोऽपि क्षयस्तस्याऽयुक्तः अपरित्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावानुपपत्तेः तद्विषयोपलम्भस्या(स्य) सत्त्वेऽपि नित्यत्वान्नावरणसम्भव इति कुतस्तत्क्षयोऽभिव्यक्तिः? न चाप्यावरणक्षयः केनचिद् विधातुं शक्यः तस्य निःस्वभावत्वात्। ततोऽभिव्यक्तेरघटमानत्वात् सत्कार्यवादपक्षे साधनोपन्यासवैयर्थ्यम्।

एवं बन्ध-मोक्षाभावप्रसङ्गश्च तत्पक्षे। तथाहि—प्रधान-पुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानप्रादुर्भावे सति अपवर्गः कापिलैरभ्युपगम्यते, तत्र(तच्च) तत्त्वज्ञानं सर्वदा व्यवस्थितमेवेति सर्व एव देहिनोऽपवृक्षाः(वृक्ताः) स्युः। अत एव न बन्धोऽपि तत्पक्षे सङ्गतः मिथ्याज्ञानवशाद्धि बन्ध इष्यते तस्य च सर्वदाऽव्य(दा व्य)वस्थितत्वात् सर्वेषां देहिनां बद्धत्वमिति कुतो मोक्षः?

---

१ "सर्वदैव निश्चयाख्यस्य कारणस्य"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २८ पं० २७। २ पृ० २९९ पं० २८। ३ पृ० २९९ पं० २२। ४—दसम्भवो अतो डे०।—दसम्भवा अतो हा०।—दसम्भवे अतो वि०।

५ "न तद्विषयसंवित्तिर्नोपलम्भावृतिक्षयः। नित्यत्वादुपलम्भस्य द्वितीयस्याऽप्यसम्भवात्" ॥

तत्त्वस० का० २७ पृ० २९।

६ तद्विषयस्यापि वा० बा० विना। ७—त्पाद्य तं स्यादपि वि० हा०।—त्पाद्यं त स्यादपि आ०।—त्पाद्यं ते स्यात् अपि वा० बा०। "सत्कार्यवादिनो मतेन नित्यैवेति किं तस्या उत्पाद्यम्"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० १०। ८ एक व भवन्म—वा० बा०। "एकैव भवता मतेन"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० १३। ९—द्धिरिकृता तात् सौव वि० हा०।—द्धिरिति कृतिरित्याद्यव वा० बा०। १० "'आ सर्ग-प्रलयादेका बुद्धिः' इति सिद्धान्तात्"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० १३। ११ "न बुद्धिस्वभावा तद्विषयसंवित्ति किं तर्हि? मनःस्वभावेति, तदसम्यक्"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० १५। १२ न वाऽसत—वि० विना। १३—णानित्य—वा० बा०। १४—वीति विरोधाभावल—वा० बा०। "नापि तिरोभावलक्षणः क्षयो युक्तः अत्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावासम्भवात्"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० १९। १५ "अथवा 'नित्यत्वात्' इति, तद्विषयाया संवित्तेर्नित्यत्वान्नावरणं संभवति तदसंभवान्न क्षयो युक्तः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९ पं० २२। १६—ष्यते न च तत्त्वज्ञानं सर्वदाऽव्यवस्थितमेवेति सर्वे एव देहिनोऽपवृक्षाः भां० मा०।—ष्यते त च तत्त्वज्ञानं सर्वदा वेस्थितमेवेति सर्व एव देहिनोऽपवृक्षाः वा० बा०। "तत्त्वज्ञानस्योत्पत्तौ सत्या मोक्षो भवद्भिरिष्यते, तच्च तत्त्वज्ञानं सर्वदाऽवस्थितमेवेति मुक्ताः सर्व एव देहिनः स्युः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २९ पं० २६। १७ "तस्य च सर्वदाऽवस्थितत्वेन"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० २९ पं० २७।

लोकव्यवहारोच्छेदश्च सत्कार्यवादाभ्युपगमे । तथाहि—हिताऽहितप्राप्ति-परिहाराय लोकः प्रवर्त्तते, न च तत्पक्षे किञ्चिदप्राप्यम् अहेयं वा समस्तीति निर्व्यापारमेव सकलं जगत् स्यादिति कथं न सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः?[1]

निषिद्धे च सत्कार्यवादे 'असत् कार्यं कारणे' इति सिद्धमेव—सदसतोः परस्परपरिहारस्थितत्वेन प्रकारान्तरासम्भवात्—तथापि परोपन्यस्तदूषणस्य दूषणाभासताप्रतिपादनप्रकारो लेशतः प्रदर्श्यते—तत्र यत् तावदुक्तं परेण 'असत् कर्त्तुं नैव शक्यते, निःस्वभावत्वात्' इति, तदसिद्धम्; वस्तुस्वभावस्यैव विधीयमानत्वाभ्युपगमात् तस्य च नैरूप्यासिद्धेः । अथ प्राग् उत्पत्तेर्निःस्वभावमेव तत्, न; तस्यैव निःस्वभावत्वायोगात्[2] । न यतः सत्स्वभाव एव निःस्वभावो युक्तः वस्तुस्वभावप्रतिषेधलक्षणत्वान्निःस्वभावत्वस्य । न च क्रियमाणं वस्तु उत्पादात् प्रागस्ति येन तदेव निःस्वभावं सिद्ध्येत् । न च वस्तुविरहलक्षणमेव धर्मिणं निरूपं पक्षीकृत्य 'नैरूप्यात्' इति हेतुः प(क्)षीक्रियत इति वक्तव्यम्[4], सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् यतो न वस्तुविरहः केनचिद् विधीयमानतयाऽभ्युपगतः । अनैकान्तिकश्चायं हेतुः विपक्षे बाधकप्रमाणाऽप्रदर्शनात् कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासत् क्रियते यस्योत्पादको हेतुर्विद्यते; यस्य तु शशशृङ्गादेर्नोत्यु(नास्त्यु)त्पादकः[5] तन्न क्रियत इति अनेकान्त एव, यतो न सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम् । न च 'यद् असत् तत् क्रियत एव' इति व्याप्तिरभ्युपगम्यते किं तर्हि? यद् विधीयते उत्पत्तेः प्राक् तत् असदेवेत्यभ्युपगमः । अथ[6] तुल्येऽपि[7] असत्कारित्वे हेतूनां किमिति सर्वैः सर्वस्यासतो हेतुर्न भवतीत्यभिधीयते, असदेतत्, भवत्पक्षेऽप्यस्य चोद्यस्य समानत्वात् । तथाहि—तुल्ये सत्कारित्वे किमिति सर्वैः सर्वस्य सतो हेतुर्न[8] भवतीत्यसत्कार्यवादिनाऽप्येतदभिधातुं शक्यत एव । न च भवन्मतेन किञ्चिदसदस्ति येन तन्न क्रियते, न च कारणशक्तिनियमात् सदपि नभोऽम्बुरुहादि न क्रियते इत्युत्तरमभिधानीयम्, इतरत्राप्यस्य समानत्वात् । तदुक्तम्—[10]

"त्रैगुण्यस्याविशेषेऽपि न सर्वं सर्वकारकम्[11]" ।

[ तत्त्वसं० का० २८ ]

अभ्युपगमे(म)वादेन[12] च 'यद्वत् तद्वत्' इति साम्यमुक्तम् न पुनस्तदस्ति । तथाहि—सत्यपि कार्य-कारणयोर्भेदे कस्यचित् किञ्चित् कारणं भवति—स्वहेतुपरम्परायातत्वात् तथाभूतस्वभावप्रतिनियमस्य—अभेदे च तयोरेकस्यैकत्रैकस्मिन्नेव काले[13] हेतुकत्वं चान्योन्यविरुद्धं कथं सम्भवेत् विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनत्वात् वस्तुभेदस्य? तदुक्तम्—

"भेदे हि कारणं किञ्चिद् वस्तुधर्मतया भवेत् ।
अभेदे तु विरुद्ध्येते तस्यैकस्य क्रियाऽक्रिये[14]" ॥

[ ]

अथ असत्कार्यवादिनः कारणानां प्रतिनियताः शक्तयो न घटन्ते कार्यात्मकानामवधीनामनिष्पत्तेः न ह्यवधिमन्तरेणावधिमतः सद्भावः सम्भवति । प्रयोगश्चात्र—ये सद्भूतकार्यावधिशून्याः न ते नियतशक्तयः, यथा शशशृङ्गादयः, सद्भूतकार्यावधिशून्याश्च शालिबीजादयो भावा इति व्यापकानुपलब्धिः । सत्कार्यवादे तु कार्यावधिसद्भावाद् युक्तः कारणप्रतिनियमः । उक्तं च—

---

१ पृ० २८२ पं० २२ तथा ३८ । २ "प्राग् उत्पत्तेस्तन्निःस्वभावमेवेति चेत्, न, तस्यैव निःस्वभावत्वायोगात् । न हि स्वभाव एव निःस्वभावो युक्तः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३० पं० १२ । ३–त् नियतः सत्स्व–भा० । ४ "नीरूपं धर्मिणं पक्षीकृत्य 'नैरूप्यात्' इति हेतुः क्रियते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३० पं० १५ । ५ –दको स्तत्र क्रि–वा० बा० । अत्र 'नास्त्युत्पादको हेतुस्तन्न' इति पाठः संभाव्यते । "यस्य तु वियदब्जादेर्नास्ति कारणं तन्न क्रियते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३० पं० १८ । ६ असत्तुल्येऽपि वा० बा० विना । ७–पि सत्–वा० बा० । ८ सर्वस्य सतो हेतुर्भव–वा० बा० । ९–ति सर्वस्य सतो हेतु भव–वा० बा० । १०–दिनोऽप्येत–वा० बा० विना ।

११ "त्रैगुण्यस्याविभेदेऽपि सर्वं सर्वकारकम् । यद्वत् तद्वदसत्त्वेऽपि न सर्वं सर्वकारकम्" ॥

तत्त्वसं० का० २८ पृ० ३० ।

१२ "एतच्च अभ्युपगम्योक्तम्–'यद्वत् तद्वत्' इति, न पुनः साम्यमस्ति"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३० पं० २७ । १३ काले तुतमहे कत्वं चान्यो–वा० बा० । "काले हेतुत्वमहेतुत्वं च परस्परविरुद्धम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३ पं० ३ । १४ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१ पं० ४ ।

"अवधीनामनिष्पत्तेर्नियतास्ते न शक्तयः ।
सत्त्वे च नियमस्तासां (युक्तः) सावधिको ननु" ॥
[ तत्त्वसं० का० २९ ]

इति, असदेतत्; हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथाहि–अवधीनामनिष्पत्तौ 'क्षीरस्य दध्युत्पादने शक्तिः' इति व्यपदेशः केवलं मा भूत्, यत् पुनरनध्यारोपितं सर्वोपाधिनिरपेक्षं वस्तुस्वरूपम्–यदनन्तरं पूर्वमदृष्टमपि वस्त्वन्तरं प्रादुर्भवति–तस्याप्रतिषेध एव । न च शब्द–विकल्पानां यत्र व्यावृत्तिस्तत्र वस्तुस्वभावोऽपि निवर्त्तते, यतो व्यापकः स्वभावः कारणं वा व्यावर्त्तमानं स्वं व्याप्यं स्वकार्यं वाऽऽदाय निवर्त्तते इति युक्तम् तयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धात् नान्यः अतिप्रसङ्गात् । न च 'पयसो दध्नि शक्तिः' इत्यादिव्यपदेशः विकल्पो वा भावानां व्यापकः स्वभावः कारणं वा येनासौ निवर्तमानः स्व(स्वं) भावं निवर्त्तयेत् तद्व्यतिरेकेणापि भावसद्भावात् । यतो व्यपदेशाः विकल्पाश्च निरंशैकस्वभावे वस्तुनि यथाभ्यासमनेकप्रकाराः प्रवर्त्तमाना उपलभ्यन्ते–एकस्यैव शब्दादेर्भावस्य अनित्यादिरूपेण भिन्नसमयस्थायिभिर्वादिभिः व्यपदेशात् विकल्पनाच्च–तत्तादात्म्ये वस्तुनश्चित्रत्वप्रसक्तिः व्यपदेशविकल्पवत्, शब्दविकल्पानां वस्तुस्वरूपवेद(वदे)कत्वप्रसङ्गः । न ह्येकं चित्रं युक्तम् इ(अ)तिप्रसङ्गात् । ततः शक्तिप्रतिनियमात् किञ्चिदेव असद् विधीयते न सर्वमित्यनैकान्तिकोऽपि 'नैरूप्यात्' इति हेतुः । 'उपादानग्रहणात्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य अत एवानैकान्तिकत्वम् । तथाहि–यदि कार्यसत्त्वकृतमेव प्रतिनियतोपादानग्रहणं क्वचित् सिद्धं भवेत् तदैतत् स्यात् यावता कारणशक्तिप्रतिनियमकृतमपि प्रतिनियतोपादानग्रहणं घटत एव, सर्वस्मात् सर्वस्य सम्भवोऽपि–कारणशक्तिप्रतिनियमादेव–च न भवति सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकारिभावत्वस्यासिद्धेः । यदपि 'अकार्यातिशयम्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यभिप्रायापरिज्ञानादेव; यतो नास्माभिः 'अभाव उत्पद्यते' इति निगद्यते–येन विकारापत्तौ तस्य स्वभावहानिप्रसक्तिरापद्येत–किन्तु वस्त्वेव समुत्पद्यते इति प्राक् प्रतिपादितम्, तच्च वस्तु प्रागुत्पादात् 'असत्'–उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः निष्पन्नस्यातिप्रसङ्गतः कार्यत्वानुपपत्तेश्च–इत्युच्यते, यस्य च कारणस्य सन्निधानमात्रेण तत् तथाभूतमुदेति तेन तत् 'क्रियते' इति व्यपदिश्यते, न व्यापारसमावेशात् किञ्चित् केनचित् क्रियते, सर्वधर्माणामव्यापारत्वात् । नाप्यसत् किञ्चिदस्ति यन्नाम क्रियते असत्त्वस्य वस्तुस्वभावप्रतिबन्धलक्षणत्वात् । अपि च, यदि अकार्यातिशयवत् तदसन्न क्रियत इत्यभिधीयते, सदपि सर्वस्वभावनिष्पत्तेरकार्यातिशयमेवेति कथं क्रियते ? ततः 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः । सत्कार्यवादे च कारणभावस्याऽघटमानत्वात् 'कारणभावात्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः ।

अथवा कार्यत्वासम्भवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वात् असत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वात् 'उपादानग्रहणात्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनाद् विरु-

---

१–चधिनो ननु वा० वा० ।
२ "नैव तेषामनिष्पत्त्या मा भूच्छब्दस्तथाऽपरम् । सर्वोपाधिविविक्तस्य वस्तुरूपस्य न क्षतिः" ॥
तत्त्वसं० का० ३० पृ० ३१ ।
३–वल मा भूत् वा० वा० विना । ४ य पुन–वा० वा० विना । ५ न ह्य–वि० ।
६ "न नाम रूपं वस्तूना विकल्पा वाचकाश्च यत् । विश्वकल्पाः प्रवर्तन्ते यथाभ्यासमभेदिनि" ॥
तत्त्वसं० का० ३१ पृ० ३१ ।
७–पकाः स्वभावाः कार–वा० वा० विना । ८–यं चादाय डे० । ९–मानः स्वभावः स्वभावं निव–हा० वि० । "येन तन्निवर्तमानं तथाविध वस्तु निवर्तयेत्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३१ पं० २७ । १०–मये स्थायि–भां० मा० विना । ११–नाच्चातत्तादा–वा० वा० । १२ "वस्तुस्वरूपवदेव वा शब्दविकल्पानामेकरूपत्वप्रसङ्गः"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२ पं० ७ । १३ न ह्येकचित्रत्व्यक्तासि–मा० । न ह्येकं चित्रशक्तासि–आ० हा० वि० । न ह्येकं चिदशक्तसि–मा० । "न ह्येकं चित्रमिति युक्तम् अतिप्रसङ्गात्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२ पं० ८ । १४ पृ० २८३ पं० १८ । १५–सर्वस्मात्सर्व–वा० वा० विना । १६ पृ० २८३ पं० १२ तथा २८ । १७–त्याद्य इति वा० वा० विना । १८ पृ० ३०१ पं० ७–११ । १९–न च तत् वा० वा० विना । २०–मादेशा–वा० वा० । २१ "अपि च, यदि अकार्यातिशयत्वाद् असन्न क्रियते"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२ पं० २० ।

द्धता । अथ यदि 'असदेवोत्पद्यते' इति भवतां मतम् तत् कथं सदसतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः ? उक्तं च तत्र-"अनुत्पन्नाश्च महामते सर्वधर्मा(र्माः) सदसतोरनुत्पन्नत्वात्" [ ] इति, न; वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते भेदान्तर-प्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायाम्, न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा प्रतिषेत्स्यमान-त्वात् तस्याः । नापि वैशेषिकादिपरिकल्पित(तः) सत्तासमवायः [६]स्वकारणसमवायो(यो वा, तयो)रपि १
निषेत्स्यमानत्वात्, नित्यत्वात् तयोः परमतेन, नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः । उक्तं च—

"सत्ता-स्वकारणाऽऽश्लेषकरणात् कारणं किल ।
सा सत्ता स च सम्बन्धो नित्यौ कार्यमथेह किम्" ॥ [ ] इति ।

स एवमात्मक उत्पादो नाऽसना(ता) तादात्म्येन सम्बध्यते, सदसतोर्विरोधात्-न हि असत् सद् भवति । नापि सता पूर्वभाविना सम्बध्यते तस्य पूर्वमसत्त्वात्; कल्पनाबुद्ध्या तु केवलमसता १
वस्तु सम्बध्यते, न ह्यसन्नाम किञ्चिदस्ति यद् उत्पत्तिमाविशेत् 'असदुत्पद्यते' इति तु कल्पनाविरचित-व्यवहारमात्रम् । कल्पनाबीजं तु प्रतिनियतपदार्थाऽनन्तरोपलब्धस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यो-त्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिः । तदेवमुत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य न सत्त्वं धर्मः, नाप्यसत्त्वम् स्यैवा(त्त्वम् तस्यैवा)भावात् । अपि च, पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदुच्यते तदा वक्त-व्यम्—किं व्यक्तिरूपेण तत् तत्र सत्, अथ शक्तिरूपेण ? तत्र यदि व्यक्तिरूपेणेति पक्षः, स न १
युक्तः; क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्गात् । नापि शक्तिरूपेण, यतस्तद्रूपं दध्यादेः कार्यानु(दु)पलब्धिलक्षणप्राप्तात् किमन्यत्, आहोस्विद् तदेव ? यदि तदेव तदा पूर्वमेवो-पलब्धिप्रसङ्गो दध्यादेः । अथ अन्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीत्यभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत् कार्याद् भिन्नतनोः शक्त्यभिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात् । तथाहि—यदेव आविर्भूत-विशिष्टरस-वीर्यविपाकादिगुणसमन्वितं पदार्थस्वरूपं तदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते, क्षीरावस्थायां २
च तद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्व्यवहारविषयत्वमवतरति, यच्चान्यच्छक्तिरूपम् तत् कार्यमेव न भवति; न च अन्यस्य भावेऽन्यत् सद् भवति अतिप्रसङ्गात् । न च उपचारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था, शब्दस्य वस्तुप्रतिबन्धाभावात् तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावासिद्धेः ।

यदपि 'भेदानामन्वयदर्शनात् प्रधानास्तित्वम्' उक्तम्[१६] तत्र हेतोरसिद्धत्वम्, न हि शब्दादि-

---

१ ततः क-भा० मां० । २-मतेः भां० मो० वा० बा० । ३ सर्वाधर्मा सदसतोरनु-हा० वि० । सर्वधर्मात्स्सदनु-वा० बा० । "सर्वधर्माः सदसतोरनुत्पन्नत्वात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३२ पं० १७ । "पुनरपरं महामते । क्रियाकारणरहिताः सर्वधर्मा न उत्पद्यन्ते अकारकत्वेन । उच्यन्ते अनुत्पन्नाः सर्वधर्माः निःस्वभावाश्च"-लङ्कावतारसू० पृ० ११५ पं० ५ ।

४ "उत्पादो वस्तुभावस्तु सोऽसता न सता तथा । संबध्यते कल्पिकया केवलं त्वसता धिया" ॥
तत्त्वसं० का० ३२ पृ० ३३ ।

५-कल्पितसत्तासमवायो वा वरापि निषेत्स्य-हा० वि० ।-कल्पितसत्तासमवायो वा रपि निषेत्स्य-भां० मां० । "नापि वैशेषिकपरिकल्पितः सत्तासमवायः" तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३ पं० ६ । ६ "स्वकारणसमवायो वा तयोरपि निषेत्स्यमानत्वात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३ पं० ७ । ७ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३ पं० ८ । ८ नानः' तादा-वा० बा० विना । "नासता"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३३ पं० १० ।

९ "यदिदं वस्तुनो रूपमेकानन्तरमीक्ष्यते । प्रागासीन्नेति तद्बीजं प्राग्भूते त्विदमस्ति न" ॥
तत्त्वसं० का० ३३ पृ० ३३ ।

१०-सत्त्व स्यैवा-वा० बा० विना ।

११ "क्षीरादिषु न दध्यादि शक्तिरूपेण यन्मतम् । का शक्तिस्तत्र दध्यादि यदि दृश्येत दुग्धवत्" ॥
तत्त्वसं० का० ३४ पृ० ३३ ।

१२ यदुच्य-वि० । १३ "दध्यादेः कार्यरूपात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३४ पं० ४ ।

१४ "अन्यच्चेत् कथमन्यस्य भावेऽभक्त्याऽन्यदुच्यते । न हि सत्त्वस्य सद्भावः सद्भावो दुःख-मोहयोः" ॥
तत्त्वसं० का० ३५ पृ० ३४ ।

१५-न्यस्याभावेऽसद् भव-वि० । १६ पृ० २८४ पं० १० ।

१७ सत्त्वाद्यनुगतं व्यक्तं न सिद्धं नः कथंचन । आन्तरत्वात् सुखादीनां व्यक्तत्वात् तत्स्वसंविदः" ॥
तत्त्वसं० का० ३६ पृ० ३४ ।

लक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धम् सुखादीनां ज्ञानरूपत्वात् शब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वात् न सुखाद्यन्वितत्वम्। तथा च प्रयोगः—ये ज्ञानरूपविकलाः न ते सुखाद्यात्मकाः, यथा परोपगत आत्मा, ज्ञानरूपविकलाश्च शब्दादय इति व्यापकानुपलब्धिः। अथ ज्ञानमयत्वेन सुखादिरूपत्वस्य व्याप्तिर्यदि सिद्धा भवेत् तदा तन्निवर्तमानं सुखादिमयत्वमादाय निवर्त्तेत; न च सा सिद्धा पुरुषस्यैव संविद्रूपत्वेनेष्टेरिति, असदेतत्; सुखादीनां स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात्। तथाहि—स्पष्टेयं सुखादीनां प्रीति-परितापादिरूपेण शब्दादिविषयसन्निधानेऽसन्निधाने च प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः। यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धिमवतरति तत् 'ज्ञानम्' 'संवेदनम्' 'चैतन्यम्' 'सुखम्' इत्यादिभिः पर्यायैरभिधीयते। न च सुखादीनामन्येन संवेदनेनानुभा(भ)वादनुभवरूपता प्रथते, तत्संवेदनस्याऽसातादिरूपताप्रसक्तेः स्वयमतदात्मकत्वात्। तथाहि—योगिनः अनुमानवतो वा परकीयं सुखादिकं संवेदयतो न सातादिरूपता अन्यथा योग्यादयोऽपि साक्षात् सुखाद्यनुभाविन इवातुरादयः स्युः योग्यादिवद् वा अन्येषामप्यनुग्रहोपघातौ न स्याताम् अविशेषात्। संवेदनस्य च सातादिरूपत्वाभ्युपगमे संविद्रूपत्वं सुखादेः सिद्धम्। इदमेव हि सुखं दुःखं च नः 'यत् सातमसातं च संवेदनम्' इति नानैकान्तिकता हेतोः। नाप्यसिद्धता, सर्वेषां बाह्यार्थवादिनां संविद्रूपरहितत्व(त्वस्य) शब्दादिषु सिद्धत्वात्। विज्ञानवादिमताभ्युपगमोऽन्यथा प्रसज्येत तथा चेष्टसिद्धिरेव। विरुद्धताऽप्यस्य हेतोर्न सम्भवति सपक्षे भावात्। न च यथा बहिर्देशावस्थितनीलादिसन्निधानवशाद् अनीलादिस्वरूपमपि संवेदनं नीलनिर्भासं संवेद्यते तथा बाह्यसुखाद्युपधानसामर्थ्याद् असातादिरूपमपि त्सा( सा )तादिरूपं लक्ष्यते तेन संवेदनस्य सातादिरूपत्वेऽपि न सुखादीनां संविद्रूपत्वं सिद्ध्यति अतोऽनैकान्तिकता हेतोरिति वक्तव्यम्, अभ्यास-प्रकृतिविशेषत एकस्मिन्नपि त्रिगुणात्मके वस्तुनि प्रीत्याद्याकारप्रतिनियतगुणोपलब्धिदर्शनात्। तथाहि—भावनावशेन मद्याऽङ्गनादिषु कामुकादीनाम् जातिविशेषाच्च करभादीनां केषाञ्चित् प्रतिनियताः प्रीत्यादयः सम्भवन्ति न सर्वेषाम्, एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वान्न युक्तम्, सर्वेषामभिन्नवस्तुविषयत्वान्नीलादिविषयसंवित्तिवत् प्रत्येकं चित्रा संवित् प्रसज्येत। अथ यद्यपि त्र्यात्मकं वस्तु तथाप्यदृष्टादिलक्षणसहकारिवशात् किञ्चिदेव कस्यचिद् रूपमाभाति न सर्वं सर्वस्य, असदेतत्; तदाकारशून्यत्वादवस्त्वालम्बनप्रतीतिप्रसक्तेः। तथाहि—त्र्याकारं तद् वस्तु एकाकाराश्च संविदः संवेद्यन्त इति कथं अनालम्बनास्ता न भवन्ति? प्रयोगः—यद् यदाकारं संवेदनं न भवति न तत् तद्विषयम्, यथा चक्षुर्ज्ञानं न शब्दविषयम्, त्र्यात्मकवस्त्वाकारशून्याश्च यथोक्ताः संविद इति व्यापकानुपलब्धिः तथापि तद्विषयत्वेऽतिप्रसङ्गापत्तिर्विपर्यये

---

१-यसन्निधाने च प्रका-बा० बा० विना०। २-दनेनानुभवा-बा० बा० विना। ३-द् यथा हि बा० बा०। ४ "शब्दादिषु संविद्रूपरहितत्वस्य सिद्धत्वात्। अन्यथा विज्ञानवादिमतमेवाऽङ्गीकृतं स्यात्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५ पं० ११। ५-पि तत्साता-का०। "बाह्यसुखाद्युपधानवशाद् असातादिरूपमपि सातादिरूपमिव लक्ष्यते"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५ पं० १५।

६ "एकत्रैव च शब्दादौ भावना-जातिभेदतः। सङ्गादयः समविनो लक्ष्यन्ते नियता स्फुटम्" ॥

तत्त्वसं० का० ३७ पृ० ३५।

७ "एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वे सति न युक्तम्। कस्मात्? इत्याह"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३५ पं० २५।

८ "एकवस्त्वनुपातित्वे चित्रा संवित् प्रसज्यते। अदृष्टादिवशाभो चेन्न स्याद् वस्त्वनुयायिनी" ॥

तत्त्वसं० का० ३८ पृ० ३५।

९ "आदिशब्देन भावना-जाति-भेद-जिघृक्षादीनां ग्रहणम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६ पं० ४।

१० "त्र्याकारं वस्तुनो रूपमेकाकाराश्च तद्विदः। ताः कथं तत्र युज्यन्ते भाविन्यस्तद्विलक्षणाः" ॥

तत्त्वसं० का० ३९ पृ० ३६।

११-पर्यये वा था-बा० बा० विना।

बाधकं[1] प्रमाणम्। न च यथा प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि सर्वात्मना वस्तुनि अभ्यासादिवशात् क्वचिदेव क्षणिकत्वादौ निश्चयोत्पत्तिर्न सर्वत्र तद्वद् अदृष्टादिबलाद् एकाकारा संविद् उदेष्यतीत्यभिधातुं क्षमम्, क्षणिकादिविकल्पस्यापि परमार्थतो वस्तुविषयत्वानभ्युपगमात्, वस्तुनो विकल्पागोचरत्वात् परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् तथाविधतत्प्राप्तिहेतुतया तु तस्य प्रामाण्यम्। उक्तं च—

"लिङ्ग-लिङ्गिधियोरेवं पारंपर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवंचनम्" ॥ [ ] इति

परैस्तु परमार्थत एव वस्तुविषयत्वमिष्टं प्रीत्यादिप्रतिपत्तीनाम्; अन्यथा सुखाद्यात्मनां शब्दादीनामनुभवात् सुखानुभव[2]व्यातिरित्येतदसङ्गतं स्यात्। सुखादिसंविदां च सविकल्पकत्वान्न किञ्चिदनिश्चितं रूपमस्तीति सर्वात्मनाऽनुभवव्यातिप्रसक्तिः यतः स्वार्थ[3]प्रतिपत्ति(त्तिः) निश्चयानामियमेव यत् तन्निश्चयनं नाम।

यदपि 'प्रसाद-ताप-दैन्याद्युपलम्भात् सुखाद्यन्वितत्वं सिद्धं शब्दादीनाम्' इत्यभिहितम्[4], तदनैकान्तिकम्। तथाहि—योगिनां[5] प्रकृतिव्यतिरिक्तं पुरुषं भावयतां तमालम्ब्य प्रकर्षप्राप्तयोगानां प्रसादः प्रादुर्भवति प्रीतिश्च, अप्राप्तयोगानां[6] त(च) द्रुततरमपश्यतामुद्वेग आविर्भवति, जडमतीनां च प्रकृत्यावरणं प्रादुर्भवति। न च परैः पुरुषस्त्रिगुणात्मकोऽभीष्ट इति 'प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्योपलब्धेः' इत्यस्य कथं नानैकान्तिकता? न च सङ्कल्पात् प्रीत्यादीनि प्रादुर्भवन्ति न पुरुषादिति वाच्यम्, शब्दादिष्वप्यस्य समानत्वात्; सङ्कल्पमात्रभावित्वे च सुखादयो बाह्या न स्युः सङ्कल्पस्य संविद्रूपत्वात्। बाह्यविषयोपधानमन्तरेणापि पुरुषदर्शने प्रीत्याद्युत्पत्तिदर्शनात् 'बाह्यसुखाद्युपधानबलात् साताद्रिरूपं संवेदनस्य' इत्यपि[10] सव्यभिचारमेव इष्टानिष्ट[11]विकल्पादनावाश्रित(दनाश्रित)बाह्यविषयसन्निधानं प्रसिद्धमेव हि सुखादिवेदनं कथं तत् परोपधानमेव युक्तम्? न च मनोऽपि त्रिगुणं तदुपधानवशात् तदाविर्भवतीति वक्तव्यम्, 'यदेव हि प्रकाशान्तरनिरपेक्षं स्वयं सिद्धम्' इत्यादिना[12] संविद्रूपत्वस्य तत्र साधितत्वात् अतः 'समन्वयात्' इत्यसिद्धो[13] हेतुः। नैकान्तिकश्च प्रधानाख्येन कारणेन हेतोः क्वचिदप्यन्वयासिद्धेः। तथाहि—यद्यपि[14] नित्यमेकं त्रिगुणात्मकं कारणं साधयितुमिष्टम्, न चैवंभूतेन कारणेन हेतोः प्रतिबन्धः प्रसिद्धः। न चायं नियमः—यदात्मकं कार्यं कारणमपि तदात्मकमेव, तयोर्भेदात्। तथाहि—हेतुमदादिभिर्धर्मैर्युक्तं व्यक्तमभ्युपगम्यते तद्विपरीतं चाव्यक्तमिति कथं न कार्य-कारणयोर्भेदादनैकान्तिको हेतुः? धर्मिविशेष[15]विपरीतसाधनाद् विरुद्धोऽप्ययं हेतुः। तथाहि—एको[16] नित्यस्त्रिगुणात्मकः कारणभूतो धर्मी साधयितुमिष्टः तद्विपरीतश्च अनेकोऽनित्यश्च ततः सिद्धिमासादयति, यतो व्यक्तं नैकया त्रिगुणात्मिकया स्वात्मभूतया जात्या समन्वितमुपलभ्यते किं तर्हि? अनेकत्वाऽनित्यत्वादिधर्मकलापोपेतमेव अतः कार्यस्याऽलि-

---

१ 'वचनम्'-तत्त्वार्थश्लोकवा० अ० १ सू० ११ श्लो० १३। २ "सुखाद्यनु-" तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६ पं० २२। ३ "इयमेव हि निश्चयानां स्वार्थप्रतिपत्तिः यत् तन्निश्चयनं नाम"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३६ पं० २३। ४ पृ० २८३ पं० ४, तथा पृ० २८४ पं० ११।

५ "प्रसादोद्वेगवरणान्येकस्मिन् पुंसि योगिनाम्। जायन्ते न च तद्रूपः पुमानभिमतः परैः" ॥
तत्त्वसं० का० ४० पृ० ३६।

६ "अजितयोगानां क्षिप्रतरमपश्यतामुद्वेगः, ये च प्रकृत्या जडमतयस्तेषां वरणमुपजायते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३७ पं० ३। ७-नां तदद्भुतर-का०। ८ "गुरु वरणकमेव तमः"-माठरवृ० का० १३ पृ० २३। ९ पृ० २८४ पं० १२। १० पृ० ३०४ पं० १७। ११ "यच्च इष्टानिष्टविकल्पादनपेक्षितबाह्यविषयसन्निधानं सुखादिसंवेदनं प्रसिद्धं तत् कथं परोपधानात् स्यात्?"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३७ पं० १०। १२ पृ० ३०४ पं० ७। १३ पृ० २८४ पं० १०।

१४ "सिद्धेऽपि त्रिगुणे व्यक्ते न प्रधानं प्रसिध्यति। एकं तत्कारणं नित्यं नैकजात्यन्वितं हि तत्" ॥
तत्त्वसं० का० ४१ पृ० ३७।

१५ धर्मी वि-मां० मां० वा० बा०। धर्मविशेष-वि० डे०। "धर्मिविशेषविपरीतभावनात्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३७ पं० २३। १६ "एको नित्यस्त्रिगुणात्मकः कारणभूतो धर्मी साधयितुमिष्टः"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३७ पं० २४।

त्वाऽनेकत्वादिधर्मान्वयदर्शनात् कारणमपि तथैवानुमीयता(ति)। क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न नित्यस्य कारणत्वम् कारणभेदकृतत्वाच्च कार्यवैचित्र्यस्य अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गादनेकरूपस्यापि कारणत्वमिति विपर्ययसिद्धिप्रसक्तेर्न नित्यैकरूपप्रधानसिद्धिः। यदि तु अनित्याऽनेकरूपे कारणे 'प्रधानम्' इति संज्ञा क्रियते तदा अविवाद एव। यद्यपि 'सत् सत्' इत्येकरूपेण 'स एवायम्' इति च स्थिरेण स्वभावेनानुगता अध्यवसीयन्ते कल्पनाज्ञानेन भावास्तथापि नैषामेकजात्यन्वयः स्वस्वभावव्यवस्थिततया देश-काल-शक्ति-प्रतिभासादिभेदात्, नापि स्थैर्यम् क्रमोत्पत्तिमतां तथैव प्रतिभासनात्। 'प्रतिभासभेदश्च भावान्(न्) भिनत्ति' इत्यसकृत् प्रतिपादितम्। 'मृद्विकारादिवत्' इति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः एकजात्यन्वयस्य एककारणप्रभवत्वस्य च तत्राप्यसिद्धत्वात्। न [६]चैकं मृत्पिण्डादिकं कारणं मृदादिजातिश्चैकानुगता तत्र सिद्धेति वक्तव्यम्, यतो नैकोऽवयवी मृत्पिण्डादिरस्ति एकदेशावरणे सर्वावरणप्रसङ्गात्, नाप्येका जातिः, प्रतिव्यक्तिप्रतिभासभेदादिति प्रतिपादितत्वात् प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च।

'समन्वयात्' इत्यस्य हेतोः पुरुषैश्चानैकान्तिकत्वम्। तथाहि—चेतनत्वादिधर्मैरन्विताः पुमांसोऽभीष्टाः न च तथाविधैककारणपूर्वकास्त इष्यन्ते। न च चेतनाद्यन्वितत्वं पुरुषाणां गौणम् यतः अचेतनादिव्यावृत्ताः सर्वे एव पुरुषाः अतोऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपा चैतन्यादिजातिस्तदनुगामिनी कल्पिता न तु तात्त्विकी समस्तीति वक्तव्यम्, अन्यत्रापि समानत्वात्—यतः शब्दादिष्वपि अमुख्यं सुखाद्यन्वितत्वमसत्यप्येककारणपूर्वकत्वे पुरुषेष्विव भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकत्वं हेतोः। मूलप्रकृत्यवस्थायां च सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः गुणत्वाऽचेतनाऽभोक्तृत्वादिभिरन्विताः प्रधानपुरुषाश्च नित्यत्वादि(दिभि)रन्वितास्तथाभूतैककारणपूर्वकाश्च न भवन्तीत्यनैकान्तिकत्वमेव। तदेवं 'समन्वयात्' इत्यस्य हेतोरसिद्ध-विरुद्धाऽनैकान्तिकदोषदुष्टत्वान्न प्रधानसाधकत्वम्। अनेनैव न्यायेन 'परिमाणात्' 'शक्तितः प्रवृत्तेः' 'कार्यकारणभावात्' 'वैश्वरूप्यस्याविभागात्' इत्यादिकानामपि न प्रधानास्तित्वसाधकत्वम्। तथाहि—साध्यविपर्यये च बाधकप्रमाणाप्रदर्शनात् सर्वेऽप्येतेऽनैकान्तिकाः। नहि प्रधानाख्यस्य हेतोरभावेन परिमाणादीनां विरोधः सिद्धः। तथाहि—यदि तावत् कारणमात्रस्यास्तित्वमत्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यता; न ह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टः, न च कारणमात्रस्य 'प्रधानम्' इति नामकरणे किञ्चिद् बाध्यते। अथ प्रेक्षावत् कारणमस्ति यद् व्यक्तं नियतपरिमाणमुत्पादयति शक्तितश्च प्रवर्तत इति साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, विनाऽपि हि प्रेक्षावता विधात्रा स्वहेतुसामर्थ्यात् प्रतिनियतपरिमाणादियुक्तस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधानं प्रेक्षावत् कारणं युक्तम्, अचेतनत्वात् तस्य प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात्। अपि च, 'शक्तितः प्रवृत्तेः' [११]इत्यनेन किमव्यतिरिक्तशक्तिमत् कारणं साध्यते, आहोस्विद् व्यतिरिक्तानेकशक्तिसम्बन्धि तदेकत्वादिधर्मकलापाध्यासितमिति कल्पनाद्वयम्। तत्र यद्याद्या कल्पना तदा सिद्धसाधनं कारणमात्रस्य ततः सिद्ध्यभ्युपगमात्। द्वितीयायां हेतोरनैकान्तिकता, तथाभूतेन क्वचिदप्यन्वयासिद्धेर्हेतुश्चासिद्धः यतो न विभिन्नशक्तियोगात् कस्यचित् क्वचित् कार्ये कारणस्य

---

१-नुमायताम्। भा० भा० विना०।

२ "अथ शलाकाकल्पा हि क्रमवृत्तमूर्तयः। इष्यन्ते व्यक्तयः सर्वाः कल्पनालिङ्गितात्मिकाः" ॥

तत्त्वसं० का० ४२ पृ० ३८।

३ पृ० २८४ पं० ११। ४-प्रसवत्वस्य हा० वि०।

५ "मृद्विकारादयो भेदा नैकजात्यन्वितास्तथा। सिद्धा नैकनिमित्ताश्च मृत्पिण्डादेर्विभेदतः" ॥

तत्त्वसं० का० ४३ पृ० ३८।

६ चैकम्-वा० बा० विना।

७ "चैतन्याद्यन्वितत्वेऽपि नैकपूर्वत्वमिष्यते। पुरुषाणाममुख्यं चेत् तदिहापि समं न किम्" ॥

तत्त्वसं० का० ४४ पृ० ३९।

८ "गुणत्वाऽचेतनत्वाऽभोक्तृत्वादिभिरन्विताः प्रधानपुरुषाश्च नित्यत्वादिभिर्युक्ताः"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ३९ पं० १२।

९ "प्रधानहेत्वभावेऽपि ततः सर्वं प्रकल्पते। अनेकभेदेन वैचित्र्यं कार्यकारणतादिकम्" ॥

तत्त्वसं० का० ४५ पृ० ३९।

१० पृ० २८४ पं० १। ११ पृ० २८४ पं० १।

प्रवृत्तिः सिद्धा स्वात्मभूतत्वाच्छक्तीनाम् । निरन्वयविनाशावष्टब्धत्वात् सर्वभावानां क्वचिदपि लयासिद्धेः 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' इत्ययमपि हेतुरसिद्धः लयो हि भवन् पूर्वस्वभावापगमे वा भवेत्, अनपगमे वा ? यद्याद्यः पक्षः तथा(दा) निरन्वयविनाशप्रसङ्गः। अथ द्वितीयः तदा लयानुपपत्तिः यतो नाविकलं स्वरूपं विभ्रतः कस्यचिल्लयो नाम अतिप्रसङ्गात्-अतिविरुद्धमिदं परस्परतः 'अविभागः' 'वैश्वरूप्यं च' इति। विरुद्धा वा एते हेतवः प्रधानहेत्वभाव (भाव एव) स्वकारणशक्तिभेदतः कार्यस्य परिमाणादिरूपेण वैचित्र्यस्य कार्यकारणभावादिना(दीनां) चोपपद्यमानत्वात्। तथाहि—प्रधानं यदि व्यक्तस्य कारणं भवेत् तदा सर्वमेव विश्वं तत्स्वरूपवत् तदात्मकत्वादेकमेव द्रव्यं स्यात्, ततश्च 'बुद्धिरेका एकोऽहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि' इत्यादिकः परिमाणविभागोऽसङ्गतः स्यादिति निष्परिमाणमेव जगत् स्यात्। तथा, प्रधानहेत्वभावे एव-प्राक्तनन्यायेन 'अभेदे न शक्तिर्न क्रिया' इत्यादिना-घटादिकरणे कुम्भकारादीनां शक्तितः प्रवृत्तिरुपपद्यते, १ कार्यकारणविभागोऽपि प्रधानहेत्वभावे एव युक्तो न तु तत्सद्भावे इति प्राक् प्रतिपादितम्। प्रधानसद्भावे वैश्वरूप्यमनुपपत्तिकमेव, सर्वस्य जगतः तन्मयत्वेन तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसक्तेस्तदविभागो दूरोत्सारित एवेति न कुतश्चिद्धेतोः प्रधानसिद्धिः।

यदपि प्रधानविकारबुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यमात्मनो रूपं कल्पयन्ति "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [ ] इत्यागमात् पुरुषश्च शुभाशुभकर्मफलस्य प्रधानोपनीतस्य भोक्ता न तु कर्ता १ सकलजगत्परिणतिरूपायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वाभ्युपगमात् । प्रमाणयन्ति चात्र—यत् सङ्घातरूपं वस्तु तत् परार्थं दृष्टम्, यथा शयनाऽऽसनाद्यङ्गादि, सङ्घातरूपाश्च चक्षुरादय इति स्वभावहेतुः, यश्चासौ परः स आत्मेति सामर्थ्यात् सिद्धम् । अत्र च 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इत्यादि वदता चैतन्यं नित्यैकरूपमिति प्रतिज्ञातम् तस्य नित्यैकरूपात् पुरुषादव्यतिरिक्तत्वात्, अध्यक्षविरुद्धं चेदम् रूपादिसंविदां स्फुटं स्वसंवित्त्या भिन्नस्वरूपावगमात् एकरूपत्वे[12] त्वात्मनोऽनेकविधार्थस्य २ भोक्तृत्वाभ्युपगमो विरुद्ध आसज्येत अभोक्त्रवस्थाव्यतिरिक्तत्वात् भोक्त्रवस्थायाः, न च दिदृक्षादियोगादविरोधः दिदृक्षा-शुश्रूषादीनां परस्परतोऽभिन्नानामुत्पादैरात्मनोऽप्युत्पादप्रसङ्गः तासां तदव्यतिरेकात्, व्यतिरेके च 'तस्य ताः' इति सम्बन्धानुपपत्तिः उपकारस्य तन्निबन्धनस्याभावात्, भावे वा तत्रापि भेदाभेदविकल्पाभ्यामनवस्था-तदुत्पत्तिप्रसङ्गतो दिदृक्षाद्यभावान्न भोक्तृत्वम् । प्रयोगः—यस्य[11] यद्भावव्यवस्थानिबन्धनं नास्ति नासौ प्रेक्षावता तद्भावेन व्यवस्थाप्यः, यथा आकाशं मूर्तत्वेन, नास्ति च भोक्तृत्वव्यवस्थानिबन्धनं पुरुषस्य दिदृक्षादि इति कारणानुपलब्धिः । न चायमसिद्धो हेतुरिति प्रतिपादितम्। कर्तृत्वाभावाद् भोक्तृत्वमपि तस्य न युक्तम् न ह्यकृतस्य कर्मणः फलं कश्चिदुपभुङ्क्ते अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। न च पुरुषस्य कर्माकर्तृत्वेऽपि प्रकृतिरस्याभिलषितमर्थमुपनयतीत्यसौ भोक्ता भवति, यतो नासावप्यचेतना सती शुभाशुभकर्मणां कर्त्री युक्ता येनासौ कर्मफलं पुरुषस्य सम्पादयेत्। अथ यथा पङ्ग्वन्धयोः परस्परसम्बन्धात् प्रवृत्तिस्तथा महदादि [14]लिङ्गं ३ चेतनपुरुषसम्बन्धाच्चेतनावदिव धर्मादिषु कार्येष्व[15]ध्यवसायं करोतीत्यदोष एवायम्—उक्तं च—

> "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
> पङ्ग्वन्धवदुभयोर[16]पि संयोगात् तत्कृतः सर्गः" ॥ [ साङ्ख्यका० २१ ] इति,

---

१ पृ० २८४ पं० २। २ "तदा"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४० पं० ६। ३ "प्रधानहेत्वभाव एव कारणशक्तिभेदेन हेतुना कार्यस्य परिमाणादिरूपेण वैचित्र्य(त्र्यस्य) कार्यकारणतादेश्च उपपद्यमानत्वाद् विरुद्धता हेतूनाम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४० पं० १२। ४ "तथा, कुलालादीनां घटादिकरणे शक्तितः प्रवृत्तिः प्रधानहेत्वभाव उपपद्यते, न तु तद्भावे। यथोक्तं प्राक्-'न च शक्तिर्न च क्रिया' इति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४० पं० १६। ५ पृ० २९८ पं० १९ तथा ४०। ६ तद्भावे वा० बा०। ७ पृ० २९९ पं० १ तथा ३०। ८ योगद० समा० पा० सू० ९ भा० पृ० ३१ पं० ७। ९-सनाद्यंगादि आ० भां० भां०।-सनात्मंगादि वि० डे०।-सनात्प्रगादि हा०। "पर्यङ्क-रथ-शरणादय.—" माठरवृ० पृ० २९ प० २२।; "शयनाऽऽसनाऽभ्यङ्गादिवत्"—साङ्ख्य० कौ० पृ० ९१ पं० २ का० १७। १०-त्र चै- वि० डे०। ११ प्र० पृ० प० १४। १२-त्वे चात्म-भा० मां०। १३-स्य सद्भा-वि० डे०। १४ लिङ्गं चे-वा०, बा० विना। माठरवृ० पृ० ३३ पं० २४। १५ कार्येषु व्यव-वा० बा०। १६-"रपि संयोगस्तत्कृत. सर्गः"—साङ्ख्यका०।

असदेतत्; यतो यदि प्रकृतिरकृतस्यापि कर्मणः फलमभिलपितमुपनयति तदा सर्वदा सर्वस्य पुंसोऽभिलपितार्थसिद्धिः किमिति न स्यात्? न च तत्कारणस्य धर्मस्याभावान्नासाविति वक्तव्यम्, यतो धर्मस्यापि प्रकृतिकार्यतया तदव्यतिरेकात् तद्वत् सदैव भाव इति सर्वदा सर्वस्याभिलषितफलप्राप्तिप्रसक्तिः। अपि च, यदि अभिलपितं फलं प्रकृतिरुपनयति तदा नानिष्टं प्रयच्छेत्, नहि कश्चिदनिष्टमभिलपति। किञ्च, उपनयतु नाम प्रकृति(तिः) फलम् तथापि भोक्तृत्वं पुंसोऽयुक्तम् अविकारित्वात्—नहि सुख-दुःखादिना आह्लाद-परितापादिरूपं विकारमनुपनीयमानस्य भोक्तृत्वमस्याकाशवत् सङ्गतम्। न च प्रकृतिरस्योपकारिणी अधिकृतात्मन्युपकारस्य कर्तुमशक्यत्वात्, विकारित्वे वा नित्यत्वहानिप्रसक्तिः अताद्वस्थ्यस्यानित्यत्वलक्षणत्वात् तस्यापि विकारिण्यवश्यंभावित्वात्। अथ न विकारापत्त्या आत्मनो भोक्तृत्वमिष्टं किं तर्हि? बुद्ध्यध्यवसितस्यार्थस्य प्रतिबिम्बोदयन्यायेन संचेतनात्। तथाहि—बुद्धिदर्पणसङ्क्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु विकारापत्तिः न च पुरुष(षः) प्रतिबिम्बमात्रसङ्क्रान्तावपि स्वरूपप्रच्युतिमान् दर्पणवदविचलितस्वरूपत्वात्, असदेतत्; यतो बुद्धिदर्पणारूढमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंसि सङ्क्रामत् ततः (ततः अव्यतिरिक्तम्) व्यतिरिक्तं वा इति वाच्यम्। यदि अव्यतिरिक्तमिति पक्षस्तदा तदेवोदय-व्यप(य)योगित्वं पुंसः प्रसज्येत उदयादियोगिप्रतिबिम्बाव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत्। अथ व्यतिरिक्तमित्यभ्युपगमस्तदा न भोक्तृता न भोक्तव्यस्यातस्तस्य कस्यचिद् विशेषस्याभावात्। न चार्थप्रतिबिम्बसम्बन्धात् तस्य भोक्तृत्वं युक्तम् अनुपकार्योपकारकयोः सम्बन्धासिद्धेः उपकारकल्पनाया अपि भेदाभेदविकल्पतोऽनुपपत्तेः।

अपि च, पुरुषस्य "दिदृक्षां प्रधानं यदि जानीयात् तदा पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्युक्ता स्यात् न चैवम् तस्य जडरूपत्वात्, सत्यपि चेतनावत्सम्बन्धे न पङ्ग्वन्धदृष्टान्तादप्रवृत्तिर्युक्तिमती, यतोऽन्धो यद्यपि मार्गं नोपलभते तथापि पङ्गोर्विवक्षामसौ वेत्ति तस्य चेतनावत्त्वात् न चैवं प्रधानं पुरुषविवक्षामवगच्छति तस्याऽचेतनावत्त्वेन जडरूपत्वात्। न च तयोर्नित्यत्वेन परस्परमनुपकारिणोः पङ्ग्वन्धवत् सम्बन्धोऽपि युक्तः। अथ प्रधानं पुरुषस्य दिदृक्षामवगच्छतीत्यभ्युपगम्यते तथा सति भोक्तृत्वमपि तस्य प्रसज्यते करणज्ञस्य भुजिक्रियावेदकत्वाविरोधात्। न च य एकं जानाति तेनाऽपरमपि ज्ञातव्यमित्ययं न नियमः यतः प्रधानस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वमपि नियतसन्निधीति युक्तं वक्तुम् यतो यदि प्रधानस्य बुद्धिमत्त्वमङ्गीक्रियते तदा पुरुषवच्चैतन्यप्रसङ्गः बुद्ध्यादीनां चैतन्यपर्यायत्वात्, यतो यत् प्रकाशात्मतयाऽपरप्रकाशनिरपेक्षं स्वसंविदितरूपं चकास्ति तत् चैतन्यमुच्यते, तद् यदि बुद्धेरपि समस्ति चिद्रूपा सा किमिति न भवेत्? न च यथोक्तबुद्धिव्यतिरेकेणापरं चैतन्यमुपलक्षयामः यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिर्भवेत्।

यदपि चिद्रूपत्वाद् बुद्धेर्भेदप्रसाधनाय परैरनुमानमुपन्यस्यते—यद् यद् उत्पत्तिमत्त्व-नाशित्वादिधर्मयोगि तत् तद् अचेतनम्, यथा रसादयः, तथा च बुद्धिरिति स्वभावहेतुरिति। तत्रापि वक्तव्यम्—किमिदं स्वतन्त्रसाधनम्, आहोस्वित् प्रसङ्गसाधनमिति? तत्र स्वतन्त्रसाधनेऽन्यतरासिद्धो हेतुः यतो यथाविधमुत्पत्तिमत्त्वमपूर्वोत्पादलक्षणम् नाशित्वं च निरन्वयविनाशात्मकं प्रसिद्धं बौद्धस्य न तथाविधं साङ्ख्यस्य तयोराविर्भाव-तिरोभावरूपत्वेन तेनाङ्गीकरणात् यथा च

---

१ अविकृता–वि० स०। २ "वादमहार्णवोऽप्याह" इत्युल्लिख्य अत 'विकारापत्ति' इतिपर्यन्तोऽयं पाठः आचार्यमल्लिषेणेन स्याद्वादमञ्जर्यां निर्दिष्ट—स्याद्वा० मू० श्लो० १५ पृ० ११९ पं० ८–९–१०–११। एवमेव "वादमहार्णवोऽप्यस्मिन् दर्शने स्थित आह" इति निर्दिश्य समुद्धृतोऽयं पाठ आचार्यराजशेखरेण–न्यायाव० टिप्प० पृ० १५३ पं० ८। तथैव च श्रीयशोविजयोपाध्यायेनापि "तथा चाह वादमहार्णव" इति कृत्वा एष एव पाठ पठित.–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १०९ प्र० पं० ६। ३ ततः अव्यतिरिक्तम् व्यति–वि० स०। ४–दय–व्यययो–वि० स०। ५ इदं 'न' पदमधिकं भाति। ६–शेषाभावात् वा० बा० विना। ७ दिदृक्षां भा०। ८–न्धो यु–वा० बा० विना। ९–सज्येत भा० लि० डे०। १०–मित्यत्र का० आ०।–मित्यत्र नि–भा० मा० लि० डे० हां०। ११ प्रकाशतया–लि० डे० कां०। प्रकाशशतया–आं० मा०। प्रकाशांशतयो–आ० हा०। १२–थाविधा सा–वा० बा० विना।

सांख्यस्य तौ प्रसिद्धौ न तथा बौद्धस्येति कथं नान्यतरासिद्धता? न च शब्दमात्रसिद्धौ हेतुसिद्धिः, वस्तुसिद्धौ वस्तुन एव सिद्धस्य हेतुत्वात्। तदुक्तम्—

"तस्यैव व्यभिचारादौ शब्देऽप्यव्यभिचारिणि।
दोषवत् साधनं ज्ञेयं वस्तुनो वस्तुसिद्धितः"॥ [ ] इति।

अथ प्रसङ्गसाधनमिति पक्षस्तदा साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाप्रदर्शनादनैकान्तिकता, न ह्यत्र प्रतिबन्धोऽस्ति चेतनस्योत्पाद-नाशाभ्यां न भवितव्यमिति।

यदपि प्रकल्पितम्—

"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य"॥ [ साङ्ख्यका० ५७ ] इति,

तदपि न सम्यक्; यतः क्षीरमपि न स्वातन्त्र्येण वत्सविवृद्धिं चेतस्याधाय प्रवर्तते किं तर्हि? १ कादाचित्केभ्यः स्वहेतुभ्यः प्रतिनियतेभ्यः समुत्पत्तिमासादयति; तच्च लब्धात्मलाभं वत्सविवृद्धिनिमित्ततामुपयातीत्यचेतनमपि प्रवर्तत इति व्यपदिश्यते, न त्वेवं प्रधानस्य कादाचित्की प्रवृत्तिर्युक्ता नित्यत्वात् तस्य अन्यहेत्वभावाच्च। तथाहि–न तावत् कादाचित्ककारणसन्निधानायत्ता कादाचित्की शक्तिरस्य युक्ता तदभावात्। नापि स्वाभाविकी सदा सन्निहिता अविकलकारणत्वेन सर्वस्याभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणस्य पुरुषार्थस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च बुद्धि-चैतन्ययोरभेदेऽपि १ चैतन्यस्यात्मत्वमप्रतिषिद्धमेव, यतो नास्माभिः चैतन्ये आत्मशब्दनिवेशः प्रतिषिध्यते किं तर्हि? यस्तत्र नित्यत्वलक्षणो धर्मः समारोपितः स एव निषिध्यते, तन्नित्यत्वेऽक्षसंहतेर्वैफल्यप्रसक्तेः तदुत्पत्त्यर्थत्वात् तस्यानित्यत्वे चोत्पत्तेरसम्भवात्-नहि वह्नेः सदाऽस्तित्वे तदर्थं जनतेन्धनमाददीत। तन्न नित्यैकरूपं चैतन्यं युक्तिसङ्गतम्।

यदपि "परार्थाश्चक्षुरादयः" [ ] इत्याद्युक्तम्, तत्र आधेयातिशयो वा २ परः साध्यत्वेनाभिप्रेतः, यद्वा अविकार्यनाधेयातिशयः, आहोस्वित् सामान्येन चक्षुरादीनां पारार्थ्यमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतमिति विकल्पत्रयम्। तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तः, सिद्धसाध्यतादोषाऽऽघ्रातत्वात् यतोऽस्माभिरपि विज्ञानोपकारित्वेनाभ्युपगता एव चक्षुरादयः "चक्षुः प्रतीत्य रूपादि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्" [ ] इत्यादिवचनात्। अथ द्वितीयः पक्षोऽङ्गीक्रियते तदा हेतोर्विरुद्धतालक्षणो दोषः विकार्युपकारित्वेन चक्षुरादीनां साध्यविपर्ययेण २७ दृष्टान्ते हेतोर्व्याप्तत्वप्रतीतेः। तथाहि-अविकारिणि अतिशयस्याधातुमशक्यत्वात् शयनाऽऽसनादयोऽनित्यस्यैवोपकारिणो युक्ता न नित्यस्येति कथं न हेतोर्विरुद्धता? यदि पुनः सामान्येन आधेयानाधेयातिशयविशेषमपास्य पारार्थ्यमात्रं साध्यत इत्ययं पक्षः कक्षीक्रियते तदापि सिद्धसाध्यतैव,

---

१ "शब्दमात्रसिद्धावपि न हेतुसिद्धिं, वस्तुन एव हेतुत्वेन वस्तुनो हि वस्तुसिद्धिः।
तस्यैव व्यभिचारादौ शब्देऽप्यव्यभिचारिणि। दोषवत् साधन ज्ञेयं वस्तुनो वस्तुसिद्धित"॥
प्रमेयर० को० पृ० २९ प० १२ वादिघटमुद्गरवादे।

३-पि चेतन्यस्यात्मत्वमप्रति-भा० मां०।-पि चैतस्यात्मत्वमपि प्रति-वा० वा०।-पि चेतन्यस्यात्मत्वमपि प्रति-आ०। ३ स्य वा० विना। ४ पृ० ३०७ प० १६। माठरवृ० पृ० २९ पं० १८ का० १७। साङ्ख्य० कौ० पृ० ९० पं० ९ का० १७। साङ्ख्यद० अ० १ सू० १४० पृ० ११ पं० ३।

५ "चक्खुं च पटिच रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं"–संयुत्तनि० निदानसं० गहपतिव० पृ० ७२ अं० ११ भा० २।
मध्यमकवृत्ति पृ० ६ पं० ३।

"अभिव. क. व. (२३४ b 5) प्रतिर् वीप्सार्थ इत्येवमादिका कल्पना, अत्रैव प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रे युज्यते इह कथं भविष्यतिः चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानमिति ? न हि 'प्रतीत्याना चक्षूंपि, प्रतीत्यचक्षूंपि' इति समासः संभवति अर्थायोगात् चक्षुर्हि प्रतीत्य रूपाणि प्राप्य चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानमिति अयमर्थो गम्यते प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र (सूत्रान्तर. महानिदानपर्यायसूत्र, सहेतुसप्रत्ययसनिदानसूत्र) चक्षु. प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते आविलो मनस्कारो मोहज इति सूत्रे वचनात् (अभिध. क. व. २२७ b 2)" Vallée Poussin इत्यनेन सपादितमध्यमकवृत्ति पृ० ६ टिप्प० ४।

६ दोषोऽविका-वा० वा० विना। ७-रादीनां साध्यसाध्यविप-वा०।-रादीनां साध्ये साध्यविप-भा० मा० आ०। ८ सामान्येनाधेयानाधेयानाधेयातिश-भा० मा०। सामान्येनाधेयानातिश-वा० वा०। सामान्येनाधेयातिश-वि० दे०।

चक्षुरादीनां विज्ञानोपकारित्वेनेष्टत्वात्। न च चित्तमपि साध्यधर्मित्वेनोपात्तमित्यपरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परत्वमत्राभिप्रेतम्, चित्तादिव्यतिरेकिणोऽपरस्याविकारिण उपकार्यत्वासम्भवात् चक्षू–रूपाऽऽलोक-मनस्काराणामपरचक्षुरादिकदम्बकोपकारित्वस्यान्यायप्राप्तत्वात् विज्ञानस्य वा अनेककारणकृतोपकाराध्यासितस्य संहतत्वं कल्पितमविरुद्धमेवेति नात्र साध्ये हेतोरप्यसिद्धता सञ्चरते?। तन्न साङ्ख्योपकल्पितचैतन्यरूपस्य नित्यस्यात्मनः कुतश्चित् सिद्धिः। तन्न अशुद्धद्रव्यास्तिकमतावलम्बिसाङ्ख्यदर्शनपरिकल्पितपदार्थसिद्धिरिति पर्यायास्तिकमतम्।

## [ नयलक्षणानि ]

### [ संग्रह–नैगमनयस्वरूपम् ]

अत्र च नैगम-संग्रह-व्यवहारलक्षणास्त्रयो नयाः शुद्ध्यशुद्धिभ्यां द्रव्यास्तिकमतमाश्रिताः ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूतास्तु शुद्धितारतम्यतः पर्याया(य)नयभेदाः। तथाहि—संग्रहमतं तावत् प्रदर्शितमेव, येषां तु मतेन नैगमनयस्य सद्भावस्तैस्तस्य स्वरूपमेवं वर्णितम्-राश्यन्तरोपलब्धं नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमनयः। निगमो हि नित्याऽनित्य-सदसत्-कृतक(काऽ)कृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसाङ्कर्यस्वभावः सर्वथैव धर्मधर्मिभेदेन सम्पद्यत इति। स पुनर्नैगमोऽनेकधा व्यवस्थितः प्रतिपत्त्रभिप्रायवशान्नयव्यवस्थानात्। प्रतिपत्तारश्च नानाभिप्रायाः। यतः केचिदाहुः—"पुरुष एवेदं सर्वम्" [ श्वेताश्वत० उ० अ० ३, १५ ] इत्यादि, यदाश्रित्योक्तम्—

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्" [ गीता अ० १५ श्लो० १ ]

पुरुषोऽप्येकत्व-नानात्वभेदात् कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा, नानात्वेऽपि तस्य कर्तृत्वाऽकर्तृत्वभेदोऽप(भेदोऽप)रैराश्रितः, कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेतरभेदः, असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः, अव्यापित्वेऽपि मूर्तेतरविकल्पाद् भेद एव। अपरैस्तु प्रधानकारणिकं जगद् अभ्युपगतम्, तत्रापि सेश्वर-निरीश्वरभेदाद् भेदाभ्युपगमः। अन्यैस्तु परमाणुप्रभवत्वमभ्युपगतं जगतः, तत्रापि सेश्वर-निरीश्वरभेदाद् भेदोऽभ्युपगतः, सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षत्वाऽनपेक्षत्वाभ्यां तद्वत्स्य एव भेदाभ्युपगमः। कैश्चित् स्वभाव-काल-यदृच्छादिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वाऽनपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्था अभ्युपगतैव। तथा, कारणं नित्यम् कार्यमनित्यमित्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम्, तत्रापि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति न वेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः। एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, मूर्तैर्मूर्तम्, मूर्तैरमूर्तमित्याद्यनेकधा प्रतिपत्त्रभिप्रायतोऽनेकधा निगमनान्नैगमोऽनेकभेदः।

### [ व्यवहारनयस्वरूपम् ]

व्यवहारनयस्तु—अपास्तसमस्तभेदने(भि)कमभ्युपगच्छतोऽध्यक्षीकृतभेदनिबन्धनव्यवहारविरोधमसकेः—कारक-ज्ञापकभेदे(द)परिकल्पनानुरोधेन व्यवहारमाचर(मारच)यन् प्रवर्तते इति कारणस्यापि न सर्वदा नित्यत्वम् कार्यस्यापि न सर्वदा नित्यत्वम् कार्यस्यापि नैकान्ततः प्रक्षय इति। तस्मा न कदाचिदनीदृशं जगदिति प्रवृत्तोऽयं व्यवहारो न केनापि प्रवर्त्यते अन्यथा प्रवर्त्तकाल-

---

१–त्यमात्रा–भां० वि० डा० विना। २–कारिण उपकारिण उपकार्यत्वा–वा० बा० विना। ३–त्वस्य न्याय–भा० बा० भा० हा० विना। ४–स्य चा–वि०। ५ साध्य हे–वा० बा० विना। ६–न्न साङ्ख्योप-भां० भा० हा० वि० विना। ७–दर्शनक–वा० बा० विना। ८ पृ० २७२ पं० १६। ९–एमेव वर्णित–भा० ।–रमेव वर्णितराश्य–भां० हा०। १०–त्तसाङ्कार्य–वि० डे०।–त्तस्यांकार्य–वा०।–त्तसाकार्य–भा० भ० हा०।–त्तसाकार्य स्व–भा०। ११ कर्तृत्वाकर्तृत्वभेदो रपरैरा–भा० मा०। कर्तृत्वाकर्तृत्वे भेदो-रपरैरा–भ० डे०। कर्तृत्वाभेदोऽपरैरा–वा० बा०। १२ भेदो व्यापि–वा० बा० विना। १३–श्वरभेदाभ्युप–भ० हा० विना। १४–दाद्भेदोपग–वा० बा० विना। १५ कैश्चित्तु वा० बा०। १६ एवं मूर्तमा–भ० हा०। १७ अमूर्तमारभ्यत इति। १८–त्तभेदानेक–वा० बा० विना।

वस्थाप्रसक्तिः । तँतो[1] च व्यवहारशून्यं जगत् । न च प्रमाणाविषयीकृतः पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तेः, दृष्टानुरोधेन ह्यदृष्टमपि वस्तु कल्पयितुं युक्तम् अन्यथा कल्पनासम्भवादिति संग्रह-नैगमाऽभ्युपगतवस्तुविवेकाल्लोकप्रतीतपथानुसारेण प्रतिपत्तिगौरवपरिहारेण प्रमाण-प्रमेय-प्रमितिप्रतिपादनं व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं परीक्षकैः समाश्रितमिति व्यवहारनयाभिप्रायः । ततः स्थितं नैगम-संग्रह-व्यवहाराणां द्रव्यास्तिकनयप्रभेदत्वम् । विषयभेदश्चैषां प्रतिपादितः—

"शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः ।
नैगम-व्यवहारौ[2] स्तां शेषाः पर्यायमाश्रिताः" ॥ [ ]

तदुक्तम्—

"अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते निगमो नयः[3]" ॥ [ ]
"सद्रूपतानतिक्रान्त-स्वस्वभावमिदं जगत् ।
सत्तारूपतया[5] सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः[4]" ॥ [ ]
"व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम्[6] ।
तथैव दृश्यमानत्वात् व्यवहारयति देहिनः" ॥ [ ] इति ।

[ ऋजुसूत्रनयस्वरूपम् ]

पर्यायनयभेदा ऋजुसूत्रादयः—

"तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्यात् शुद्धपर्यायसंश्रिता[7]: (ता) ।
नश्वरस्यैव[8] भावस्य भावा(वात्) स्थितिवियोगतः[9]" ॥ [ ]

देश-कालान्तरसम्बद्ध[10]स्वभावरहितं वस्तुतत्त्वं साम्प्रतिकम् एकस्वभावम् अकुटिलम् ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । न हि एकस्वभावस्य नानादिक्-कालसम्बन्धित्वस्वभावमनेकत्वं युक्तम् एकस्यानेकत्वविरोधात् । न हि स्वरूपभेदादन्यो वस्तुभेदः स्वरूपस्यैव वस्तुत्वोपपत्तेः । तथाहि— विद्यमानेऽपि स्वरूपे किमपरमभिन्नं वस्तु यद् रूपनानात्वेऽप्येकं स्यादिति ? यद् वस्तुरूपं येन स्वभावेनोपलभ्यते तत् तेन सर्वात्मना विनश्यति न पुनः क्षणान्तरसंस्पर्शीति क्षणिकम्, क्षणान्तरसम्बन्धे तत्क्षणाकारस्य क्षणान्तराकारविशेषाप्रसङ्गात् अतो जातस्य यदि द्वितीयक्षणसम्बन्धः प्रथमक्षणस्वभावं नापनयति तदा कल्पान्तरावस्थानसम्बन्धोऽपि तं[12] नापनयेत्, स्वभावभेदे वा कथं न वस्तुभेदः अन्यथा सर्वत्र सर्वदा भेदाभावप्रसक्तिः[13] ? अक्षणिकस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरसत्त्वम्, सहकार्युपढौकितातिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षाऽयोगादक्षेपेण कार्यकारिणः सर्वकार्यमेकदैव विदध्यादिति न क्रमकर्तृत्वम्, न वा कदाचनापि[14] स्वकार्यमुत्पादयेत् निरपेक्षस्य निरतिशयत्वात् नहि निरपेक्षस्य कदाचित्[15] करणमकरणं वा विरोधात्, तत्कृतमुका(मुपका)रं[16] स्वभावभूतमङ्गीकुर्वतः क्षणिकत्वमेव । व्यतिरिक्तत्वे वा सम्बन्धासिद्धिः, अपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तिः । युगपदपि न नित्यस्य कार्यकारित्वम् द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावात्[17] ततस्तदुत्पत्तितः तत्प्रसक्तेः । क्रमाऽक्रमव्यतिरिक्त[18]प्रकारान्तराभावाच्च न नित्यस्य सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्

---

१ ततो व्यव-वा० वा० विना । २-रौ स्ता भां० । ३ "मन्यते नैगमो नय."—न्यायाव० टिप्प० पृ० ११८ पं० १९ । ४ न्यायाव० टिप्प० पृ० ११८ पं० २५ । ५ "सत्तारूपताम्"—न्यायाव० टिप्प० पृ० १२० पं० २६ । ६-स्थितम् वा० वा० । ७-श्रितौ वा० वा० विना । न्यायाव० टिप्प० पृ० १२४ पं० २४ । ८ नेश्वर-वा० भां० मां० वि० । नैश्वर-आ० हा० । ९ "भावाद् स्थितिवियोगतः"—न्यायाव० टिप्प० पृ० १२४ पं० २५ । १०-म्बन्ध-वि० डे० । ११-स्थाततत्सम्ब-वा० वा० । १२ तं न इत्यर्थः । १३-सक्तेः वि० डे० । १४-पि स्वं का-वा० वा० आ० वि० डे० विना । १५-त् कारणमकार-वा० वा० । १६-त्कृ-तत्नुकारं भां० मां० हा० । १७-वात् तदुत्पत्ति-वा० वा० । १८-रित्वत्वे प्रकारा-वि० डे० ।-रिक्तत्वे प्रकारान्तरभावा-भां० मां० आ० हा० का० ।

तस्य। प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वेन स्वभावतो भावात् स्वरसंभङ्गुरा एव सर्वे भावाः इति पर्यायाश्रितर्जुसूत्राभिप्रायः। तदुक्तम्—

"अतीतानागताकारकालसंस्पर्शवर्जितम्।
वर्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते"॥ [ ]

प्रमाण-प्रमेयनिबन्धनं यद्यपि शब्दाऽर्थौ सामान्येन भवतः तथापि साक्षात् परम्परया वा प्रमाणस्य कारणमेव स्वाकारार्पकविषयः, "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाक(का)रणं विषयः" [ ] तथा

"अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता"॥ [ ]

इत्यादिवचनात् तदाकारानुविधायिनी तदध्यवसायेन च तत्राविसंवादात् संवित् प्रमाणत्वेन गीयते। अध्यक्षधीश्चाऽशब्दमर्थमात्मन्याधत्ते अन्यथा अर्थदर्शनप्रच्युतिप्रसङ्गात्। न ह्यक्षगोचरेऽर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमानेऽपि नियमेन प्रतिभासेरन्निति कथं तत्संस्पृष्टा:(ष्टा) अध्यक्षधीर्भवेत्? किञ्च, वस्तुसन्निधानेऽपि तन्नामानुस्मृतिं विना तदार्थस्यानुपलब्धाविष्यमाणायामर्थसन्निधिरक्षदृग्जननं प्रत्यसमर्थ इति अभिधानस्मृतावु(?)पक्षीणशक्तित्वान्न कदाचनापीन्द्रियबुद्धिं जनयेत् सन्निधानाविशेषात्। यदि चायं भवतां निर्बन्धः–स्वाभिधानविशेषणापेक्षमेव चक्षुरादिप्रतिपत्ति(?)स्वार्थमवगमयति तदाऽस्तंगतेयमिन्द्रियप्रभवाऽर्थाधिगतिः तन्नामस्मृत्यादेरसम्भवात्। तथाहि–यत्रार्थे प्राक् शब्दप्रतिपत्तिरभूत् पुनस्तदर्थवीक्षणे तत्सङ्केतितशब्दस्मृतिर्भवेदिति युक्तियुक्तम् अन्यथा अतिप्रसङ्गः स्यात् न चेद् अनभिलापमर्थं प्रतिपत्ता पश्यति तदा तत्र दृष्टमभिलापमपि न स्मरेत् अस्मरंश्च शब्दविशेषं न तत्र योजयेत् अयोजयंश्च न तेन विशिष्टमर्थं प्रत्येतीत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः। ततः स्वाभिधानरहितस्य विषयस्य विषयिणं चक्षुरादिप्रत्ययं प्रति स्वत एवोपयोगित्वं सिद्धम् न तु तदभिधानानाम् तदर्थसम्बन्धरहितानां पारम्पर्येणापि सामर्थ्यासम्भवात्। इत्यर्थनया व्यवस्थिताः।

## [ शब्दनयस्वरूपम् ]

शब्दनयास्तु मन्यन्ते–कारणस्यापि विषयस्य प्रतिपत्तिं प्रति नैव प्रमेयत्वं युक्तं यावदध्यवसायो न भवेत् सोऽप्यध्यवसायविकल्पश्चेत् तदभिधानस्मृति(तिं) विना नोत्पत्तुं युक्तः इति सर्वव्यवहारेषु शब्दसम्बन्धः प्रधानं निबन्धनम्। प्रत्यक्षस्यापि तत्कृताध्यवसायलक्षणविकलस्य बहिरन्तर्वा प्रतिक्षणपरिणामप्रतिपत्ताविव प्रमाणतानुपपत्तेः अविसंवादलक्षणत्वात् प्रमाणानाम्, प्रतिक्षणपरिणामग्रहणेऽपि तस्य प्रामाण्याभ्युपगमे प्रमाणान्तरप्रवृत्तौ यत्नान्तरं क्रियमाणमपार्थकं स्यात्। ततः प्रमाणव्यवस्थानिबन्धनं तन्नामस्मृतिव्यवसाययोजनमर्थप्राधान्यमपहस्तयतीति शब्द एव सर्वत्र प्रमाणादिव्यवहारे प्रधानं कारणमिति स्थितम्। शब्दनयश्च ऋजुसूत्राभिमतपर्यायात् शुद्धतरं पर्यायं स्वविषयत्वेन व्यवस्थापयति। तथाहि–'तटः' 'तटी' 'तटम्' इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माक्रान्तं भिन्नमेव वस्तु, नहि तत्कृतं धर्मभेदमननुभवतस्तत्सम्बन्धो युक्तः तद्धर्मभेदे वा स्वयं धर्मी कथं न भिद्यते? यथा हि क्षणिकं वस्तु अतीताऽनागताभ्यां क्षणाभ्यां न सम्बन्धमनुभवत्येवं गोत्वादि कल्पनासामान्यविशेषस्वरूपपरस्परविरुद्धस्त्रीत्वाद्यन्यतमधर्मसम्बद्धं नान्यधर्मी(र्मि)सम्बद्धमनुभवति(?)विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदलक्षणत्वात्, तथाप्यभेदे 'न किञ्चिद् भिन्नं जगदस्ति' इति

---

१ गत्यस्य। २ मुक्त्वाऽर्थं–भा०। ३ स्पृष्टं अ–वा० बा०। ४ तथार्थ–वा० बा०। ५–न्निधेर–हा० वि० विना। ६–तानुप वा० बा०। ७–बुद्धि ज–वा० बा० विना। ८–दि चायं, भां० मां०। –दित्ययं डा० हा०। ९ चेदमभि–वा० बा०। १०–मर्थं प्र–वा० बा० भा० मा०। ११–गतः स्वाभि–वा० बा० भा० मा०। १२–स्मृति चिंता नो–आ०। –स्मृतिं चिंता विना भा० मा०। –स्मृतिं चिंता ना वा० बा०। १३–क्षणं डा०। १४–रूपता सा–आ० हा०। १५–संबंध नान्य–वा०। –संबद्धं नान्य–वि०। १६ संबधमनु–वा०।

भेदव्यवहार एवोत्सीदेत्। तथा, एकस्मिन्नुदकपरमाणौ 'आपः' इति बहुत्वसङ्ख्यया निर्देशोऽनुपपन्नः न ह्येकत्वसङ्ख्यासमाध्यासितं तदेव तद्विरुद्धबहुत्वसङ्ख्योपेतं भवतीत्येकसङ्ख्ययैव तन्निर्देष्टव्यम्। कालभेदाद् वस्तुभेदः ऋजुसूत्रेणाप्यभ्युपगत एवेति 'अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता' इत्ययुक्तमेव वचः अतीताऽनागतयोः सम्बन्धाभावात्। तथा, अन्यकारकयुक्तं यत् तदेव अपरकारकसम्बन्ध(न्धं) नानुभवतीति अधिकरणं चेद् ग्रामः अधिकरणशब्दवाचि(करणवाचि)विभक्तिवाच्य एव न कर्माभिधानविभक्त्यभिधेयो युक्त इति 'ग्राममधिशेते' इति प्रयोगोऽनुपपन्नः। तथा, पुरुषभेदेऽपि "नैकान्तव्(कं तद्)वस्तु इति 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इति च प्रयोगो न युक्तः अपि तु 'एहि मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामि' इत्यनेनैव परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम्। एवमुपग्रहणभेदेपि 'विरमति' इति न युक्तः आत्मार्थतायां हि 'विरमते' इत्यस्यैव प्रयोगसङ्गतेः। नै(चै)वं लोकशास्त्रव्यवहारविलोप इति वक्तव्यम्, सर्वत्रैव नयमते तद्विलोपस्य समानत्वादिति यथार्थशब्दनात् शब्दे(ब्द)नयो व्यवस्थितः। तदुक्तम्—

"विरोधिलिङ्ग–सङ्ख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्।
तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते" [ ]

[ समभिरूढनयस्वरूपम् ]

एकसंज्ञासमभिरोहणात् समभिरूढस्त्वाह—यथा हि विरुद्धलिङ्गादियोगाद् भिद्यते वस्तु तथ संज्ञाभेदादपि। तथाहि–संज्ञाभेदः प्रयोजनवशात् सङ्केतकर्तृभिर्विधीयते न व्यसनितया अन्यथा अनवस्थाप्रसक्तेः ततो यावन्तो वस्तुनः स्वाभिधायकाः शब्दास्तावन्तोऽर्थभेदाः प्रत्यर्थं शब्दनिवेशात् नैकस्यार्थस्यानेकेनाभिधानं युक्तमिति 'घटः' 'कुटः' 'कुम्भः' इति वचनभेदाद् भिन्न एवार्थः, क्रियाशब्दत्वाद् वा सर्वशब्दानां सर्वेऽप्यन्वर्था एव वाचकाः ततो 'घटते' 'कुटति' 'कौ भाति' इति च क्रियालक्षणनिमित्तभेदाद् नैमित्तिकेनाप्यर्थेन भिन्नेन भाव्यमिति 'घटः' इत्युक्ते कुतः 'कुटः' इति प्रतिपत्तिः तेन तदर्थस्यानभिहितत्वात्? यथा वा 'पावक'शब्दोक्तेरन्यैव पावकशक्तिरन्वय–व्यतिरेकाभ्यां लोकतः प्रसिद्धा तथा घटन–कुटनादिशक्तीनामपि भेदः प्रतीयत एवेति नानार्थवाचिन एव पर्यायध्वनयः नैकमर्थमभिनिविशन्त इति समभिरूढः। उक्तं च

"तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवृत्तिनः।
ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम्" ॥ [ ]

---

१ "धातुसंबन्धे प्रत्ययाः"–पाणि० अ० ३ पा० ४ सू० १। "सोमयाजी अस्य पुत्रो भविता"–सिद्धान्तकौ० पृ० ४७६ सूत्राङ्क० २८२४। "धातोः संबन्धे प्रत्ययाः"–हैम० अ० ५ पा० ४ सू० ४१। २ संबन्धे ना–आ० वि०। ३–शब्दवाचि भां० मां० विना। ४ "अधिशीङ्–स्थाऽऽसां कर्म"–पाणि० अ० १ पा० ४ सू० ४६ सिद्धान्तकौ० पृ० १३७ सूत्राङ्क० ५४२। "अधेः शीङ्–स्थाऽऽस आधारः"–हैम० अ० २ पा० २ सू० २०। ५ नैकांतवस्तु वा० बा० विना। ६ "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच"–पाणि० अ० १ पा० ४ सू० १०६ सिद्धान्तकौ० पृ० ३३५ सूत्राङ्क० २१६३। आचार्यहेमचन्द्रस्तु एतत् सूत्रमकृत्वैव एवं प्रयोगं समर्थितवान् भङ्ग्यन्तरेण, सा चेयं भङ्गिः–'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' इति प्रहासे यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्तिः नात्र प्रसिद्धार्थविपर्यासे किञ्चिन्निबन्धनमस्ति 'रथेन यास्यसि इति भावगमनाभिधानात् प्रहासो गम्यते। 'नहि यास्यसि' इति बहिर्गमनं प्रतिषिध्यते। अनेकस्मिन्नपि प्रहसितरि च प्रत्येकमेव परिहास इति अभिधानवशाद् 'मन्ये' इति एकवचनमेव। लौकिकश्च प्रयोगोऽनुसर्तव्य इति न प्रकारान्तरकल्पना न्याय्या"–"त्रीणि त्रीणि अन्य–युष्मदस्मदि"–हैम० अ० ३ पा० ३ सू० १७ बृ० वृ०। ७ ग्रहेण–भां० मां०। ८–णभेदोऽपि वा० बा० विना। ९–तायां हि वा० बा० विना। १०–नचैवं वा० बा०। नत्वेवं भां० मां०। ११–ति न व–वा० बा०। १२–रोधलि–आ० विना। "विरोधे लिङ्गसङ्ख्यादि"–न्यायाव० टिप्प० पृ० १२६ पं० २०। १३–ति कौ भा–आ०। १४–पाचक–वा० बा० आ०। १५ न्यायाव० टिप्प० पृ० १२७ पं० १८।

## [ एवंभूतनयस्वरूपम् ]

शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव 'तद् वस्तु' इति भूत एवंभूतः प्राह—यथा संज्ञाभेदाद् वद् वस्तु तथा क्रियाभेदादपि, सा च क्रिया तद्भेत्री यदैव तामाविशति तदैव तन्निमित्तं तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यतिप्रसङ्गात्। तथाहि—यदा 'घटते' तदैवासौ 'घटः' न पुनः 'घटितवान्' 'घटिष्यते' वा 'घटः' इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गात्। अपि च, चेष्टामय एव 'चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दन्ति चेष्टावन्तः पदार्थाः यथावस्थितार्थप्रतिभास एवं च वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथाभूतः अन्यथा अचेष्टावतोऽपि चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धेऽध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासत्व(भास इत्य)भ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः। तन्न घटनसमयात् प्राक् पश्चाद् वा 'घटः' तद्व्यपदेशमासादयतीत्येवंभूतनयमतम्। उक्तं च—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते"॥ [ ] इति।

तत् स्थितमेतत् ऋजुसूत्रादयः पर्यायास्तिकस्य विकल्पा इति।

अस्याश्च गाथायाः सर्वमेव शास्त्रं विवरणम्॥ ३॥

---

१ तद्भेदत्री यदैव तमा-भां० वा०। २-च वस्तू-भा० हा० वि०। ३-भासात्यभ्यु-भा०।-भासत्यभ्यु-मां०। ४ सर्वस्य व्यव-आ०। सर्वस्यान्यव-भां० मां० हा० वि०। ५ न्यायाव० टिप्प० पृ० १२८ पं० २४। ६ शास्त्रवि-भा० वा० मां०।

# चतुर्थगाथाव्याख्या ।

## [ द्रव्यास्तिकैकप्रकृतिकयोः संग्रह-व्यवहारयोः शुद्धाशुद्धतया भेदनिरूपणम् ]

'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' इत्यादिपद्यार्द्धैकदेशस्य विवरणाय आह सूरिः—

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

इति गाथासूत्रम् ।

अत्र च संग्रहनयप्रत्ययः शुद्धो द्रव्यास्तिकः व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थः ।

अवयवार्थस्तु द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य प्रकृतिः स्वभावः शुद्धा इत्यसङ्कीर्णा विशेषासंस्पर्शवती संग्रहस्य अभेदग्राहिनयस्य प्ररूपणा—प्ररूप्यतेऽनयेति कृत्वा—उपवर्णना पदसंहतिस्तस्या विषयोऽभिधेयः । विषयापकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वादुपचारेण विषयेणा(ण) विषयिप्रकथनमेतत् अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यास्तिकेऽभिधातुं प्रक्रान्ते संग्रहप्ररूपणाविषयाभिधानस्य ?

### [ संग्रहस्य सत्तामात्रविषयकत्वसाधनम् ]

सुबन्तस्य तिङन्तस्या(स्य) वा पदस्य वाक्यस्य वा प्ररूपणास्वभावस्य विषयः संग्रहाभिप्रायेण भाव एव । तथाहि—जाति-द्रव्य-गुण-क्रियापरभाषितरूपेण स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-कर्मादिप्रकारेण वा सुबन्तस्य योऽर्थः(र्थः स) भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेत्, अव्यतिरिक्तो वा ? यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरू(रु)पाख्यत्वादत्यन्ताभाववत् न द्रव्यादिरूप इति कथं सुबन्तवाच्यः ? अव्यतिरिक्तश्चेत् कथं न भावमात्रता सुबन्तार्थस्य ? तिङन्तार्थस्यापि क्रिया-काल-कारक-पुरुष-उपग्रह-वचनादिरूपेण परिभाष्यमाणस्य सत्तारूपतैव । तथाहि-'पचति' इत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा, काल आरम्भप्रवृत्ति(प्रभृति)रवर्ग(रपवर्ग)पर्यन्तो वर्तमानस्वरूपः, कारक कर्ता, पुरुषः परमात्मकः, उपग्रहः परार्थता, वचनमेकत्वम् यद्यपि प्रतिपत्तिविषयस्तथापि सत्त्वमेवैतत् यतः क्रिया असती चेत् कारकैर्न साध्येत खपुष्पादिवत्, सती चेत अस्तित्वमेव,सा कारकैश्चाभिव्यज्यत इति । एवं कालादयोऽप्यसन्तश्चेद् न शशशृङ्गाद् भिद्येरन्, सदात्मकाश्चेत् कथं न अस्तित्वादभिन्ना इति सत्त्वेव तिङन्तस्यार्थः । 'घटोऽस्ति' इति वाक्यार्थ(र्थे) यद् वाक्यं प्रयुज्यते 'घटः सन्' इति तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्यापि । तथाहि-'घटः' इति विशेषणम् 'सन्' इति विशेष्यम्, अत्र द्वयेनापि चाभावविपरीतेन भाव्यम् न ह्यन्यथा तद् विशेषणम् नापि तद्-विशेष्यं स्यात् निरू(रु)पाख्यत्वाद् अत्यन्ताभाववत् । यदि पुनरभावविपरीतं तद् इष्यते, विशेषण-विशेष्ययोः कथं न भावरूपता ? तेन यथैव पटस्य (घटस्य) भावो घटत्वं तदेव घटः, यश्च सतो भावः सत्त्वं तदेव 'सन्' इति सर्वत्र संग्रहाभिप्रायतः प्ररूपणाविषयो भाव एव । उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिधावता अन्येनापि—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवताशब्दैः समम्रा(मा)हुर्गवादिषु" ॥ [ वाक्यप० द्वि० का० श्लो० १२१ ]

---

१ पृ० २७१ प० ८ । २-रूवेण पु-भा० । शोधनाय व्यापार्यमाणासु सर्वासु टीकाप्रतिषु 'पडिरूवे' इत्येव प्रतीकं टीकाकृता निरदेशि, व्याख्यायि च 'प्रतिरूपम्' इति । ३-यां कारणा-वा० बा० । ४-ण विषयणा विषंभा० ।-ण विषयेणो विष-वि० ।-ण विषयिप्र० भा० मां० ।-ण विषयिप्रथन-वा० बा० । ५-हरूप-वा० बा० विना । ६-स्याव्याप-वा० बा० ।-स्यात्वाप्ररू-भा० मां० ।-स्याचाप-वि० । ७-योर्थः स्वभावा स्वभावाद् व्यति-वा० बा० । ८-भावात्तद्र-वा० बा० । ९-मात्रस्य वा० बा० । १०-वृत्तिपपवर्ग-भा० । वृत्तिपवर्ग-भा० मां० हा० वि० । ११-रभवात्म-वा० बा० । १२-ति अस्यार्थे यद् वा० बा० विना । १३-चवैपरीत्येन वा० बा० । १४-भावतया य-वा० बा० । १५ तद्विशेष्यते भा० । १६-व कटस्य वा० बा० । १७ "यथाहुः" इति निर्दिश्य श्लोकोऽयमुद्धृतः तत्त्ववार्तिके पृ० २५१ पं० १२ । तत्र च "अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुः" इति पाठः ।